TIGHT BINDING BOOK

UNIVERSAL
LIBRARY
OU_186036
UNIVERSAL
LIBRARY

OUP- -881—5-8-74—15,000.

OSMANIA UNIVERSITY LIBRARY

Call No. H83/K88V Accession No. H.3280

Author

Title

This book should be returned on or before the date last marked below.

वैशाली की दत्तक पुत्री

सुरुचिपूर्ण, रोचक, श्रेष्ठ, संग्रहणीय उपन्यास

अमरनाथ मल्होत्रा
थानेदार (पुरस्कृत) ५.५०
अमृता प्रीतम अशु ३.००
अरुण भोर की किरणें २.२५
अक्षयकुमार जैन
युगपुरुष राम (पुरस्कृत सचित्र) ५.००
रा० कृष्णमूर्त्ति
चोर की प्रेमिका (सचित्र) ४.५०
आस्कर वाइल्ड सौंदर्य की रेखाएं ५.००
कंचनलता सब्बरवाल
पुनरुद्धार ३.००
करुणेन्द्र
इन्सानियत फिर भी जीवित है ३.००
कृष्णमोहन राजवंशी
बीते दिन (सचित्र) ४.००
गोविन्दवल्लभ पंत
जल-समाधि (पुरस्कृत) ६.००
पर्गा (पुरस्कृत) ४.००
मैत्रेय ६.५०
तारों के सपने ६.५०
फॉरगेट-मी-नॉट (पुरस्कृत) ६.००
चतुरसेन शास्त्री अपराजिता २.००
डोरिन मैनरस पाप की गली ३.००
तकषी शिवशंकर पिल्लै
दो सेर धान २.००
चुनौती (सचित्र) २.५०
तुर्गनेव कुलीन घराना ३.००
बाप-बेटे ३.५०
दयाशंकर मिश्र बुझते दीप ३.००
देवदूत विद्यार्थी
पाँच बेंत (सचित्र) ३.००
देवीदयाल सेन मानव की परख ३.००
देवेशदास अधखिली (सचित्र) ४.००
नरेश मेहता
डूबते मस्तूल (पुरस्कृत) ४.५०

पांडेय बेचन शर्मा उग्र शराबी ३.५०
जी-जी-जी ३.००
पृथ्वीनाथ शर्मा विद्रूप ३.००
बरुआ जर्जर हथौड़े ३.००
बसन्त प्रभा
अधूरी तस्वीर (पुरस्कृत) ३.००
मारजौरी किनन रौलिंग्स हमराही २.००
मोहन चोपड़ा नींद के आगे [illegible].००
यज्ञदत्त शर्मा इन्सान (पुरस्कृत) ४.५०
यमुनादत्त वैष्णव अशोक शैलवधू ३.००
यादवेन्द्र शर्मा चन्द्र धरती की पीर ४.००
रजनी पनिकर
काली लड़की (पुरस्कृत) ३.००
राजाराम शास्त्री प्यार और पैसा ३.००
रामकृष्ण बहके कदम २.२५
रामावतार त्यागी समाधान २.००
रांगेय राघव आँधी की नावें २.५०
लक्ष्मण त्रिपाठी बारकछाया २.००
विजयकुमार पुजारी आत्मदान ३.००
विष्णु प्रभाकर निशिकान्त ५.५०
शैलेश मटियानी कबूतरखाना २.५०
बोरीवली से बोरी बन्दर तक ३.५०
होलदार ६.००
किस्सा नर्मदाबेन गंगूबाई २.५०
चिट्ठीरसैन ४.५०
शिवसागर मिश्र राजतिलक ५.५०
दूब जनम आयी (पुरस्कृत) ४.००
पत्ते गिर रहे ४.००
सन्तोष नौटियाल तीस दिन २.५०
हरिजन ४.००
सीताचरण दीक्षित हृदय मथन ५.००
हंसराज 'रहबर' परेड-ग्राउण्ड १.५०
हरमन हेस सिद्धार्थ ३.००
पीताम्बर पटेल
खेतों की गोद में (पुरस्कृत) ४.५०

आत्माराम एण्ड संस, दिल्ली-६

वैशाली की दत्तक पुत्री

शिवकुमार कौशिक

आत्माराम एण्ड संस, दिल्ली-६

VAISHALI KI DATTAK PUTRI

(A historical novel)

By

Shiv Kumar Kaushik

Rs. 6.50

COPYRIGHT, 1961 ©
ATMA RAM & SONS, DELHI-6

प्रकाशक
रामलाल पुरी, संचालक
आत्माराम एण्ड संस
काश्मीरी गेट : दिल्ली
हौज खास : नई दिल्ली
चौड़ा रास्ता : जयपुर
माई हीरा गेट : जालन्धर
बेगमपुल रोड : मेरठ
विश्वविद्यालय क्षेत्र : चण्डीगढ

मूल्य : रुपए ६.५०
प्रथम संस्करण : १९६१

मुद्रक
ऐवरेस्ट प्रेस
४, चमेलियान रोड, दिल्ली-६

स्वर्गीय पिता जी

और

स्वर्गीया चाची (मां)

को

पृष्ठभूमि

वास्तव में यह एक संयोग की ही बात हुई। और, संस्कारों का इसमें—क्या कुछ—कितना प्रभाव है, फिलहाल उसकी चर्चा एकदम निरर्थक है। कारण? सभवतः आप विश्वास न करें। पर, वे अनेक हैं; यह मैं आपसे केवल यूँ ही बहकाने भर के लिए नही कह रहा। आशा है, आप इतना विश्वास तो कर ही लेगे।

यदि मैं आपसे यह कहूँ कि इसी जन्म मे मेरे दो जन्म हो चुके हैं, तो आप इस पर मुझे विस्फारित दृष्टि से तो देखेगे ही, संभव है विश्वास न कर हँस भी दें। और संभवतः पूछने लगें—'अच्छा, इसका कोई प्रमाण?' तो फिर, क्या मैं आपको साफ-साफ बता ही दूं? एक दिन मैं भी इसी प्रमाण शब्द विशेष से आकर्षित हुआ था, और अनुभूति एवं आत्मविश्वास की उपेक्षा कर केवल उसी को पाने का लोभ संवरण नही कर पाया था। वास्तव मे, उसे पाने के लिए सतत प्रयत्नशील हो उठा था। यूँ कहो जी, कि उसके पीछे दीवाना हो गया था; किन्तु हाथ पल्ले कुछ नही पड़ा। और, जब कुछ-कुछ सूत्र हाथ लगा भी तो, तब वैशाली का सारा वैभव विनाश के कगार तक जा पहुँचा था। सो कैसे? यह मैं बाद में बताऊँगा। किसके कारण? हाँ, यदि यह पूछो तो वह कुछ ठीक भी है। तो फिर बता ही दूं? वह अपराधी स्वयं मैं ही हूँ। भला और कोई क्यों होता? अपना दोष किसी और के सिर मढूं, मेरी यह आदत न तो पहले ही कभी रही, और न आज ही है। आशा है, मेरी इतनी सी बात तो आप मान ही लेगे।

कदाचित्, यही कारण रहा हो कि प्रस्तुत उपन्यास की पांडुलिपि तैयार होते समय, और फिर उसके पश्चात् भी जब-जब वैशाली जाने का प्रश्न उठा, मेरा मन गुदगुदा भी जाता और साथ ही एक टीस-सी से कराह भी उठता। गुदगुदा इसलिए जाता कि तब मैं देवी शिष्या को जीवित छोड़ आया था; और, मेरा यह दृढ़ विश्वास चला आ रहा था कि वह इस समय भी जीवित ही होगी। अतः मैं उस सौम्यमुखी के दर्शन पा सकूँगा। परन्तु दूसरे ही क्षण मन में एक संकोच उठ खड़ा होता; भला किस मुँह से उसके सामने जाऊँ? अतः इस सारी अवधि ही तो झिझक-सी बनी रही। संकोचवश अथवा आत्मग्लानि के कारण उधर पैर न उठ पाते, और फिर न जाने क्या कुछ सोचते-सोचते एक घटना विशेष, जैसे वह कल ही घटी हो, नेत्रों के सम्मुख स्थिर हो उठती। तब उस घटना को सर्वथा सजीव रूप में अपनी दृष्टि में अटका देख मेरा मन बुरी तरह से कराह उठता। फिर भी, पाण्डुलिपि को पढ़ने वाले कुछ उदार-हृदय मित्रों ने अंततः उधर की ओर जाने को मुझे, जैसे, धकेल ही तो दिया।

और, एक दिन जब मैं संध्या बेला में अपने साथ कुछ परिचय-पत्र ले पटन स्टेशन पर उतरा तो जैसे मन संकोच की ठिठक और उत्साहोच्छ्वास की स्फुरण व एक साथ ही तो अनुभव कर उठा।

हाँ तो, मैं संयोग की बात कह रहा था।

प्रारम्भ में सोचा था कि यदि किसी दिन देवी शिष्या के दर्शन-लाभ की बा आ ही गई, या फिर यूँ कहो कि सौभाग्य से वह सुयोग मिल सका तो फिर भला इ पाण्डुलिपि से श्रेयस्कर और क्या उपहार हो सकेगा, जो उसकी सेवा मे भेंट कि जाने योग्य हो। किन्तु, साथ ही ध्यान हो आता—'इस कथानक मे कुछ भी तो ऐस नहीं जो उसे अविदित हो।' अतः मन पर बात कुछ जम-सी नही पा रही थी। पटन पहुँचते-पहुँचते तो जैसे यह दुविधा और प्रगाढ़ हो उठी। कुछ रात का जागरण औ उधर ऊपर से पूरे चार प्रहर की यात्रा की थकान, इधर मन पर छाया हुआ यह दुविध भार। स्टेशन से निकल, रिक्शे में बैठ, जब मैं शहर की ओर बढ़ा तो अंतश्चेतना क निद्रा से बोझिल पाया। नेत्रों के लिए बहुत कुछ नया था, फिर भी मन की य गुत्थी अपने में अधिकाधिक उलझती ही रही—कि सहसा सम्मुख दिशा से आते एव रिक्शे पर दृष्टि जा टिकी। रिक्शा ठीक सामने आकर बाजू से भी निकल गया, किन्त उसके बाद भी दृष्टि मुड़कर उधर ही की ओर देखती रही—एक गौर वर्णा सौम्य मुखी ने अपनी सघन, श्यामल केश राशि के गुथे जूड़े पर श्वेत कमल-पुष्प अटका रखा था। इस नयनाभिराम दृश्य को देख मेरे मुख से मानों हठात् निकल गया—"चलो किराए के पैसे वसूल हो गए।" परन्तु, तुरन्त देवी शिष्या का ध्यान आते ही मैं उस अज्ञात यौवना के प्रति श्रद्धातिरेक से नत मस्तक हो, हर्षोल्लास से उमगता कह उठा—"देवी, तेरे इस रूप को देख, मैं तो आज सचमुच धन्य हो गया हूँ। पाटलिग्राम के इस श्रृंगार-संस्कार को जीवित रख तूने निस्संदेह स्तुत्य कार्य किया है।"

और फिर, मेरे नेत्रो के सम्मुख सहसा ही तो कोई ढ़ाई हजार वर्ष पूर्व का वह शांत, स्थिर-मन सरोवर अपने पूरे आकार-प्रकार के साथ फैल-सा गया, जो यहीं कहीं सदा विभिन्न रगो के कमल-पुष्पों से आच्छादित रहता था। भगवान तथागत अपने भिक्षु संघ के साथ जब कभी वैशाली की ओर से राजगृह को अथवा राजगृह से वैशाली की ओर जाते तो वह उस सरोवर के पास अवश्य ठहरा करते। कभी-कभी तो वह यहाँ कई दिनों तक ठहरे रह सरोवर में खिले नीले, रक्तिम और श्वेत कमलो की मनोहारी छटा को निहारा करते। मगधराज बिम्बसार को जब उनकी इस रुचि का पता चला तो उन्होंने अपने इस आराध्य देव के लिए वहीं सरोवर के निकट एक विहार बनवा दिया था; ताकि भगवान को कोई कष्ट न हो। यूँ महात्मा बुद्ध के अनेक श्रद्धालु राजा, सामन्त एवं श्रेष्ठी-जनों ने उनके लिए न जाने कहाँ-कहाँ विहार बनवाये थे, परन्तु इस विहार का अपना एक विशेष महत्त्व था। इसी विहार से कुछ दूर पर ही तो, अर्थात, गंगा के उस पार वज्जिसंघ की सीमा प्रारम्भ हो जाती थी। और, इस ओर मगध राज्य था ही। वज्जि संघ यदि गणराज्यात्मक शासन प्रणाली का जाज्वल्यमान प्रतीक था तो मगध राज्य एक सत्तात्मक शासन पद्धति का। अंग-विजय के बाद मगध राज्य ने वज्जि संघ को भी अपने में मिला साम्राज्य विस्तार की बात सोची; केवल सोची ही

नहीं, वरन् इस उद्देश्य से कई बार आक्रमण भी किए, परन्तु वे सभी विफल सिद्ध हुए। और, अततः राजा बिम्बसार को वज्जि संघ के साथ संधि कर लेनी पड़ी। वैशाली इसी वज्जि संघ की राजधानी थी, और तब मगध राज्य की राजधानी थी कण्ठहार सदृश पर्वतीय श्रृंखला की गोद में बसी राजगृह नगरी।

इन दोनों ही नगरियों का अस्तित्व अति प्राचीन था और उनकी गणना उस समय के अन्य कतिपय प्रमुख नगरो, जैसे—कौशाम्बी, उज्जैन, श्रावस्ती, वाराणसी एवं तक्षशिला आदि-आदि के साथ की जाती थी। अंग राज्य के विजित हो जाने के पश्चात् उसकी राजधानी चम्पा का वैभवपूर्ण प्रभाव कुछ-कुछ क्षीण हो चला था, पर शेष सभी नगरियां मानों अपने चरमोत्कर्ष पर थीं। कौशाम्बी वत्स राज्य की राजधानी थी और वहां राजा उदयन राज किया करता था। उदयन का वीणा वादन सर्व-प्रिय था, परन्तु वन्य प्रदेश में स्वच्छद विचरण करते हाथियों को पकडने मे उसकी विशेष रुचि थी। एक प्रकार से यही उसका मुख्य आखेट भी था। उज्जयिनी के राजा चण्ड प्रद्योत से उसकी अथवा उससे चण्ड प्रद्योत की घोर शत्रुता थी। एक बार चण्ड प्रद्योत ने उसे पकड़ने के लिए एक बडी ही षड़यन्त्रपूर्ण चाल चली। उसने अपने सीमान्त पर, जो वत्सराज उदयन की सीमा से ही लगती थी, एक काष्ठ-निर्मित हाथी भेजा और उसके अन्दर अपने कुछ सैनिकों को बैठा दिया। उधर, निकट ही में वृक्षों-आदि की ओट में अन्य सैनिकों को भी छिपा दिया। अपने राज्य की सीमा पर एक नए हाथी के आने का समाचार सुनते ही राजा उदयन उसका आखेट करने चल पड़ा। जो सैनिक हाथी के अन्दर बैठे थे, उन्होंने राजा उदयन को आता देख उसे तीव्र गति से दौड़ाना शुरू कर दिया, और अततः उसे चण्ड प्रद्योत की सीमा में ले आए। उदयन भी वीणा की झंकारों पर झूमता हुआ उसके पीछे-पीछे दौड़ता रहा; और, इस प्रकार वह छिपे सैनिकों से घिर गया।

सैनिक उसे पकड उज्जयिनी ले आए।

यह तो आप जानते ही हैं, उन दिनों सैन्य बल में हाथियों का विशेष महत्त्व होता था। एक राजा की सेना में जितने हाथी होते, उतने ही परिमाण में उसकी शत्रु-सेना पर शक्ति सम्पन्नता की धाक हुआ करती। यदि किसी को स्वप्न में भी हाथी दीख जाता तो उसे एक शुभ लक्षण माना जाता। महात्मा बुद्ध की माता माया देवी जब गर्भवती थी तो, कहते हैं, उन्होने स्वप्न में एक हाथी ही देखा था। ठीक वैसी ही बात जैनियो के चौबीसवें तीर्थंकर वर्द्धमान महावीर की माता देवी त्रिशला के सम्बन्ध में भी कही जाती है।

हाँ तो, राजा उदयन को जब बंदी रूप में राजा चण्ड प्रद्योत के सम्मुख प्रस्तुत किया गया तो राजा चण्ड बोला—"यदि तुम मुझे हाथी पकड़ने का मन्त्र सिखा दो, तो मैं तुम्हें मुक्त कर दूंगा।"

"अन्यथा क्या ?" उदयन ने बंदी दशा में भी जैसे सगर्व पूछा।

चण्ड प्रद्योत ने उसके मुख पर इस दशा में भी गर्व का भाव छाए हुए देख, क्रोध से अपनी भवें तान कहा—"अन्यथा क्या, तुम्हें यहीं मरवा दिया जाएगा।"

उदयन जितना पराक्रमी था, उतना ही नीति कुशल भी। इस पर उसने कहा—

"राजन्, मै अवश्य ही मन्त्र सिखा सकता हूँ, पर उसके लिए तुम्हें पहले मुझे गुरू रूप में मान मेरे सम्मुख एक शिष्य की भाँति प्रणाम करना होगा।"

तब, अधिकाँश लोगों का ऐसा विश्वास था कि राजा उदयन वीणा की झंकारों से हाथियों को वश में करता है, परन्तु चण्ड प्रद्योत की धारणा थी कि वह अवश्य ही कोई चमत्कारिक मन्त्र जानता है। अतः वह उसे जानने के लिए आतुर था। परन्तु, साथ ही वह स्वभाव से अभिमानी और क्रोधी था, अतः उसने उदयन का प्रस्ताव स्वीकार करने में अपनी हेटी समझी। कहा जाता है, अत्यधिक क्रोधी होने के कारण ही उसके नाम के साथ चण्ड लग गया था। परन्तु इस समय उसने भी विशेष आवेश नही दिखाया। कारण, वह उदयन की हत्या कर मन्त्र को खोना नही चाहता था। अतः उसने उदयन से कहा—"अच्छा, यदि तुम मेरी इच्छा के किसी अन्य व्यक्ति को भी यह मन्त्र सिखा दोगे तो मैं तुम्हे मुक्त कर दूगा।"

उदयन ने यह सहर्ष स्वीकार कर लिया।

चण्ड प्रद्योत की कन्या वासवदत्ता बड़ी निपुण थी। अत. पिता ने अपनी पुत्री को ही उपयुक्त समझ, उसे इस दीक्षा के लिए चुना। परन्तु, उसके सम्मुख इस सम्बन्ध में भी जैसे एक दुविधा थी। वह अपनी पुत्री को उदयन के सम्पर्क में नही आने देना चाहता था। अतः उसने उदयन से कहा—"मेरी एक कुबडी दासी है, वह तुम्हें प्रणाम कर मंत्र सीखेगी।" उधर, उसने अपनी पुत्री वासवदत्ता से कहा—"एक कोढ़ी व्यक्ति हाथी को पकड़ने का मन्त्र जानता है, तुम उससे वह मंत्र सीख लो।"

और फिर, राजा ने दोनो के मध्य एक प...र...दा डलवा दिया।

एक दिन क्या हुआ, वासवदत्ता मत्र के कुछ अक्षरों का ठीक से उच्चारण करने में कुछ चूक-सी गई। इस पर उदयन क्रोधित हो बोला—"अरी ऐ कुबड़ी, क्या तेरे होठ मोटे हैं।" तब तो वासवदत्ता को भी क्रोध आए बिना न रहा। वह भी उत्तर में सावेश कह उठी—"अरे ओ कोढ़ी, क्या तू एक राज कन्या को कुबडी कहता है?"

उदयन की समझ में नहीं आया कि आखिर यह मामला क्या है। उसने परदा उठाकर उधर झाँका तो जैसे रहस्योद्घाटन हो गया; केवल रहस्योद्घाटन ही नहीं, बल्कि वे एक दूसरे पर आसक्त भी हो गए।

वैशालिको ने जब इस प्रसंग को सुना तो वे खूब हँसे, खूब हँसे। वास्तव मे वे अत्यन्त विनोदी स्वभाव के थे और आमोद-प्रमोद प्रिय भी। परन्तु, इस घटना विशेष के संदर्भ में मैं जो बात कहने लगा था, वह तो अभी रह ही गई। एक दिन प्रणय-व्यस्त उदयन और वासवदत्ता ने अवन्ती से भाग जाने का षड्यन्त्र रचा। तत्पश्चात, वासव-दत्ता ने अपने पिता से यह कहकर भद्रवती नाम की हथिनो मगवा ली कि शुभ मुहूर्त में मत्र सिद्धि के लिए एक ओषधि लानी है। और, जब प्रद्योत उद्यान-क्रीड़ा के लिए चला गया तो वासवदत्ता और उदयन दोनों ही अवसर पा भद्रवती हथिनी पर सवार हो, उज्जयिनी से कौशाम्बी के लिए भाग निकले। उदयन यू हाथी चलाने में अत्यन्त कुशल था, फिर भी पीछे से भेजे गये अश्वारोही सैनिकों ने उन्हें घेर ही लिया। किन्तु वासवदत्ता भी कोई कम चतुर नहीं थी। उसने भी इसका उपाय पहले ही से विचार लिया था। वह अपने पिता के कोप से स्वर्ण मुद्राएँ लेती आई थी। उसने वे स्वर्ण

मुद्राएँ मार्ग पर बिखेर दीं। और, सैनिक जब उन्हें बीनने में व्यस्त हो गए तो उसने उदयन की ओर संकेत कर हथिनी को और तेज भगाने को कहा। इस प्रकार वह सारे रास्ते मुद्राएं बिखेरती गई और सैनिक उन्हें व्यस्त भाव से बटोरते रहे।

यह सुन, जानते हो वैशालिकों ने क्या कहा था? वे बोले—"राजा ने अपने वेतन भोगी सैनिकों को जिस काम से भेजा था, स्वर्ण मुद्राओं के लोभ में उसकी उन्हे चिन्ता ही नही रही।" वास्तव में वैशालिकों का यह कहना अक्षरशः उचित ही था, क्योंकि उनके यहाँ की रक्षा व्यवस्था सर्वथा भिन्न थी। उनके यहाँ कोई भी तो वेतन भोगी सैनिक नही था। वे तो निष्ठाभाव से अपने गणराज्य की स्वेच्छया रक्षा करते थे। उन्होंने महानगरी वैशाली के चारो ओर ऊंची और मोटी तिहरी प्राचीन बनाई हुई थी, जिन पर खड़े हो सभी नागरिक बारी-बारी से पहरा देते थे। हाँ, आन्तरिक व्यवस्था के लिए गणपुरुष अवश्य नियुक्त थे। परन्तु बाहर की ओर से जब कभी कोई संकट आ खड़ा होता तो सभी शस्त्रास्त्र से सज्जित हो उसका सामना करने के लिए दल के दल बनाकर निकल पड़ते। उनकी सारी शक्ति इस एकता ही में थी। यही कारण है कि चारों ओर साम्राज्य लिप्सु राजाओ से घिरे रहने के बावजूद इस एकमात्र गणराज्य का अस्तित्व शेष रह सका था।

यूं, इसी के पास मल्लों का भी एक गणराज्य था, परन्तु वह इतना शक्तिशाली नहीं था। एक प्रकार से वैशाली गणराज्य ही उसकी रक्षा प्राचीर बना हुआ था। वैसे भी, वैशाली के लिच्छवियो और पावा एवं कुसीनारा के मल्लो में परस्पर बन्धु-बान्धव का सम्बन्ध था। एक-दूसरे के प्रति उनमें अत्यन्त स्नेह था। वे एक-दूसरे के उत्सवों में न केवल समान उत्साह से सम्मिलित होते, वरन् संकट के समय कन्धे से कन्धा मिलाकर उसका सामना भी करते। यूं, कभी-कभी उन में भी परस्पर कोई विवाद हो जाता। परन्तु, उसका प्रभाव कोई विशेष स्थायी ढंग का न होता। इसी संदर्भ में मुझे इस समय एक घटना विशेष की स्मृति सजीव हो उठी है। वैशाली के पास ही एक लम्बी चौड़ी अभिषेक पुष्करिणी थी। वह अब भी है और उसमें मैंने धोबियों को कपड़े धोते देखा है। परन्तु तब उसका अत्यन्त पुनीत महत्त्व था। आप जानते ही हैं, वैशाली के प्रत्येक परिवार का प्रमुख राजा कहलाता था और इस प्रकार वहाँ एक नहीं अनेक राजा थे। राजा की मृत्यु पर उसके ज्येष्ठ पुत्र को उत्तराधिकार में यह पद मिलता। जब वह उस पद पर अभिषिक्त किया जाता तो वह ससमारोह इस पुष्करिणी के पवित्र जल में स्नान करता। और, कोई भी व्यक्ति अथवा राजा कितना भी महत्त्वपूर्ण क्यों न होता, इस पुष्करिणी में उसे अपने जीवन में केवल एक बार ही स्नान करने का अवसर मिल पाता था। देवी आम्रपाली जब कला के अधिष्ठात्री पद पर प्रतिष्ठित हुई थी, तो उसका भी इसी पुष्करिणी में अभिषेक किया गया था। तब कई दिनों तक अनवरत रूप में उसके तट पर नृत्य एव संगीतयुक्त समारोह चलता रहा था।

हाँ तो, एक बार क्या हुआ; मल्ल राज बंधुल की पत्नी मल्लिका को दोहद हुआ कि वैशाली-कुमारों द्वारा प्रयुक्त इस अभिषेक कुण्ड का जलपान किया जाए। बंधुल उसे कुण्ड पर ले आया और जो सैनिक उसकी रक्षार्थ नियुक्त थे, उन्हें उसने मार भगाया। तत्पश्चात् मल्लिका ने जल का खूब आनन्द लिया। लिच्छवी राजाओं को जब यह पता

चला तो उन्हें अत्यन्त क्रोध आया और वे बंधुल के रथ के पीछे-पीछे भाग लिए, और उसे पकड़ अर्धमृत अवस्था में कर दिया। लिच्छवी यूं अत्यन्त उदार हृदय क्षत्रिय थे, परन्तु वे अपनी परम्पराओं की रक्षार्थ मर मिटने को सदा तैयार रहते। इसके लिए फिर चाहे परस्पर ही भिडंत क्यों न हो जाती।

अपनी सुस्थापित परम्पराओं के प्रति वैशालिक कितने निष्ठावान थे, यह एक तथ्य विशेष से विदित हो जाएगा। मगध राज बिम्बसार वैशाली के गणाध्यक्ष राजा चेटक के जामाता थे। इधर देवी आम्रपाली से भी बिम्बसार ने प्रणय किया था, जिसकी गुप्त विवाह में परिणति हुई थी; और, इसके फलस्वरूप अभय नामक पुत्र हुआ था। राजा चेटक की पुत्री का नाम चेल्लना था, जिससे हल्ल और विहल्ल राजकुमार हुए। ये दोनों ही जुडवां भाई थे। परन्तु इनके अतिरिक्त वैशाली की एक कन्या और भी थी, जिससे बिम्बसार का विवाह हुआ। उसका नाम वासवी था। वासवी के साथ बिम्बसार के विवाह के पीछे भी एक कहानी है। विदेह राज विरूधक का मंत्री साकल अपने दो पुत्र गोपाल और सिंह के साथ वैशाली आया। कुछ समय के पश्चात् साकल वैशाली में नायक चुना गया। उसके दोनों पुत्रों का वैशाली ही में विवाह हो चुका था। पिता साकल की मृत्यु के पश्चात् सिंह नायक हुआ। गोपाल ने ज्येष्ठ होने के कारण इसमें अपनी अप्रतिष्ठा समझी और वह राजगृह चला गया। छोटे भाई सिंह (सिंह सेनापति नहीं) की एक पुत्री वासवी थी। गोपाल राजगृह जाते समय किसी प्रकार अपने साथ वासवी को भी ले गया और बिम्बसार ने उसके साथ विवाह कर लिया। गापाल राजा का एक प्रमुख अमात्य बन गया। यह वासवी विदेह वंश की थी और कुमार कोणिक, बाद में अजातशत्रु, इसी से उत्पन्न हुआ था। इसी कारण उसे 'विदेह पुत्तो' कहा गया है। चेल्लना एवं वासवी के अतिरिक्त बिम्बसार के और भी कई रानियाँ थीं। कौशल नरेश प्रसेनजित की बहन कोशल देवी उसकी पट्टमहिषी थी। जब राजा बिम्बसार को अजातशत्रु ने बन्दी बना कारागार में डाल दिया तो वहाँ अपने पिता से मिलने के लिए अजातशत्रु ने केवल कोशल देवी को ही जाने की अनुमति दी थी। बन्दी गृह में वह राजा के लिए चोरी-छिपे भोजन ले जाती। अजातशत्रु को जब इस रहस्य का पता चला तो उसने पट्टमहिषी की राजा से मिलते समय तलाशी लिए जाने का आदेश दे दिया। इस पर वह अपने शरीर पर शहद लगाकर ले जाती। और, क्षुधापीड़ित वृद्ध राजा उसे चाटकर ही अपने को तृप्त हुआ समझता। किन्तु अजातशत्रु को जब इसका भी पता लग गया तो फिर उसने रानी कोशल देवी का जाना पूर्णतः ही बन्द करवा दिया। बाद में, जब अजातशत्रु ने अपने पिता की हत्या कर दी तो यह रानी इतनी शोकाभिभूत हुई कि उसने तत्काल ही तो अपने प्राण त्याग दिए। बिम्बसार ने अन्य स्त्रियों के साथ भी विवाह किये थे, जिनमें से एक मद्रराज की दुहिता क्षेमा भी थी। और, इस क्षेमा को अपने रूप का इतना गर्व था कि वह महात्मा बुद्ध के सामने जाने तक से हिचकिचाती थी, कि कहीं, वह उसके रूप की निन्दा न कर दें। अन्त में वह पंच-पहाड़ियों से घिरी राजनगरी के बाहर उत्तर दिशा में अवस्थित विल्वबन में भगवान तथागत से मिली और भिक्षुणी हो गयी। बिम्बशार उज्जयिनी से पद्मावती नाम की एक सुन्दरी वैश्या को भी ले आया था। और,

वैशाली में तो उन दिनों यह भी कहा जाता था कि राजगृह की सालवती नामक एक राजनर्तकी से भी बिम्बसार का एक पुत्र था, जो बाद में उसका गृह-वैद्य बना। वह जीवक कुमार भृत्य के नाम से सुविख्यात हुआ। यूँ, सालवतीके राजनर्तकी बनने के पीछे भी एक कहानी है; पर उसकी यहाँ चर्चा न कर कुछ और बताना ही उचित होगा। कहते हैं—जब सालवती गर्भवती हुई तो उसने नगर में ढोंडी पिटवा दी कि वह रुग्णावस्था में है अत: किसी से न मिलेगी। उसे भय था कि जब उसके गर्भवती होने का समाचार चारो ओर फैलेगा तो फिर सभी उसकी उपेक्षा करने लगेंगे, और इस प्रकार वह तिरस्कृत हो रहेगी। कुछ समय पश्चात् जब उसके पुत्र हुआ तो उसने उसे सूप में रखवा, राजनगरी के मुख्य राजपथ से लगे एक कूड़े के ढेर पर रखवा दिया। एक नवजात शिशु को इस प्रकार देख वहाँ आते-जाते नागरिकों की भीड़ एकत्र हो गई। संयोग से देवी आम्रपाली का पुत्र राजकुमार अभय भी उस समय उसी मार्ग से जा रहा था। उसे उस नवजात शिशु पर दया आ गई और वह उसे अपने प्रासाद में लिवा ले गया। जब वह कुछ बड़ा हुआ तो उसे विद्यार्जन के लिए तक्षशिला विश्वविद्यालय भेज दिया गया। वहाँ से वह आचार्य आत्रेय से चिकित्सा शास्त्र की दीक्षा ले अपने इस विषय में पारंगत हो लौटा था। चिकित्सा के क्षेत्र में उन दिनों उसके नाम की दूर-दूर तक ख्याति थी। और, वह शल्य चिकित्सा में इतना दक्ष था कि एक केश को भी दो भागों में चीर सकता था। महात्मा बुद्ध जब कभी बीमार पड़ जाते तो उनकी भी वही चिकित्सा किया करता था। और, उज्जयिनी के राजा चण्ड प्रद्योत ने भी उसे एक बार अपने किसी असाध्य रोग की चिकित्सा के लिए साग्रह बुलवाया था।

हाँ तो, राजा बिम्बसार के अपनी विभिन्न रानियो से इस प्रकार एक नहीं, वरन् अनेक पुत्र थे, जिनमें से अधिकाँश के नाम तो वैशालिकों को क्या, स्वयं मागधो को भी विदित नहीं थे; कोणिक, हल्ल, विहल्ल, अभय, नन्दिसेन, मेघ कुमार, विमल, कोदन्न, सिलव, जयसेन और चुड नाम वैशालिकों को अवश्य ज्ञात थे। बताते हैं—सिलव राजा को अत्यंत प्रिय था। वह उसके सौम्य स्वभाव और कार्य निपुणता पर अत्यधिक मुग्ध थे; इतने मुग्ध थे कि अंग विजय के पश्चात् कुमार कोणिक को जब वहाँ का राज्यपाल बना दिया गया तो राजा ने सिलव को ही अपने राज्य का सारा कार्य सौप दिया था। सभी सामन्त एवं सभासद-जन उसकी शासन व्यवस्था के प्रशसक हो गये थे तथा प्रजा मे भी वह अत्यन्त लोकप्रिय बन गया था। किन्तु, राजा का एक प्रमुख मन्त्री वर्षकार सिलव के सतोषी स्वभाव से तनिक भी तो प्रसन्न नहीं था। उसकी धारणा थी कि यदि राजा ने कहीं सिलव को ही युवराज घोषित कर दिया तो, फिर साम्राज्य की महत्त्वाकांक्षा का फलीभूत होना असम्भव है। और, वर्षकार साम्राज्य प्रसार के लिए कृत-संकल्प था। वास्तव में, मगध के राज परिवारो पर सदा ही से पुरोहित कुलों का प्रभाव रहा था। केवल प्रभाव ही नहीं वरन् वहाँ के क्षत्रिय राजा तो उनके समक्ष निमित्त मात्र थे, तथा एक प्रकार से वास्तविक शासक वे ही थे। अत: वर्षकार ने अपनी महत्त्वाकांक्षा को फलीभूत करने के लिए कुमार कोणिक को ही चुना। वह प्रारम्भ से ही महत्त्वाकांक्षी होने के साथ-साथ क्रूर भी था। कदाचित्, इसी कारण अधिकांश सभासद और सामन्तगण उससे प्रसन्न

नहीं थे।

यूँ, देवी शिष्या मित भाषिणी थी। तो भी, वह कभी-कभी मेरे एक स्वाभाविक दोष की ओर मेरा ध्यान आकर्षित कराए बिना न रहती। नयन नत किए, मन्द-मन्द मुस्काते हुए वह कहती—"विषयान्तर का यह गुण तो तुम्हारा ऐसा है कि यदि मैं उसे सात-जन्म लेकर भी सीखती रहूँ, तो भी कदाचित् शतांश भी पल्ले न पड़े।" और तब मैं जोर से खिलखिलाकर हँस पड़ता। परन्तु, साथ ही लज्जित भी हो रहता। कहता—"देवी, क्षमा करना, मैं तो यूँ ही बहक गया था।" और तब, अत्यधिक संकोच से उसके कपोलों पर आकर्ण लालिमा सिहर जाती। और मैं? बस, मंत्रमुग्ध हुआ-सा उसकी ओर निहारता रह जाता।

हाँ तो, मैं कह रहा था कि राजा बिम्बसार यद्यपि गणाध्यक्ष राजा चेटक के जामाता थे, तथापि उन्होंने जब कभी वैशाली पर आक्रमण किया वह उसकी रक्षार्थ यौधेय वैशालिकों की सबसे अग्रिम पंक्ति में दीखते। देवी आम्रपाली की भी वैशाली के प्रति कोई कम निष्ठा नहीं थी और नायक सिंह तो प्रौढावस्था में ही वीर गति को प्राप्त हुए थे। अपने अभिलिखित संविधान 'प्रवेणी-पुस्तक' पर वैशालिकों को सचमुच कितना गर्व था? उसकी मान-मर्यादा के लिए वे हँसते-हँसते जीवन की बाजी लगा देते। वे कहा करते—"पुण्यात्मा पूर्वजों से उत्तराधिकार में प्राप्त यही तो हमारी समान सम्पदा है, जो आर्यावर्त के किसी भी राष्ट्र में दुर्लभ है।" वैशाली का सारा शासन कार्य इसी प्रवेणी-पुस्तक में लिखित नियमों के अनुसार चला करता था, और वहाँ किसी व्यक्ति-विशेष का नहीं, वरन् अनुशासन का राज्य था, और इस अनुशासन का उद्गम स्रोत था वहाँ का संथागार। उसके सर्वोच्च पद पर जो आसीन होता, वह गण संवाहक कहलाता था। इस संथागार में सभी महत्त्वपूर्ण विषयों पर विचार होता। तथा, कभी-कभी किसी विवादास्पद विषय-विशेष को लेकर तो कई दिनों तक वाद-विवाद चलता रहता। परन्तु एक बार वहाँ जो भी बहुमत से निश्चय हो जाता, वही वैशाली का नियम बन रहता। देवी आम्रपाली को जब जनपद कल्याणी बनाने की बात चली थी तो उस पर यहाँ कई दिनों तक विवाद चलता रहा था। कारण? नायक महानाम कन्या को वह पद स्वीकार्य नहीं था और अपने पक्ष में वह सभासदों के सम्मुख निरंतर अकाट्य तर्क प्रस्तुत करती रही थी। अन्त में, वैशाली के नियम के सम्मुख नत मस्तक हो उसने चार शर्तें रखीं, और सभासदों को वे स्वीकार करनी पड़ी थीं।

वास्तव में, आम्रपाली हार कर भी जीत गई थी और जीतकर भी हार गई थी। सर्वसुन्दरी और कला निपुण होने के कारण यदि उसे वैशाली की परम्परा के सम्मुख नत शिर होना पड़ा था तो सभासदों को उसकी हठ के सम्मुख। अपने प्रतिद्वंद्वियों के निकट तो वह जैसे सदा ही एक पहेली बनी रही; ऐसी पहेली कि...।" ऐसा, सभी वैशालिक कहते थे; परन्तु देवी शिष्या के निकट तो वह कुछ और ही थी। यूं, उसके नेत्रों में उसकी छवि सदा ही अटकी-सी रहती, परन्तु जब कभी किसी प्रसंगवश कोई बात चल पड़ती तो वह कहती—"सचमुच, कितनी सरल-हृदया थी वह देवी!" और फिर, वह उसका स्मरण कर अत्यधिक भाव विह्वल हो उठती। उसके ज्योतित नेत्रों

को देख तत्क्षण ऐसा प्रतीत होता कि कोई स्वप्न साकार रूप ग्रहण कर उसकी दृष्टि में स्थिर हो गया है। तब मैं देवी शिष्या की ओर देखता रह जाता। उससे कहता —"शुभे, यह पूर्व जन्म का ही कोई संस्कार समझो कि वह मुझे यहाँ खींच लाया; भला, कितना पुनीत सस्कार रहा होगा वह, जो मैं तुम्हारे दर्शन का सुयोग पा सका।" परन्तु, यह अन्तिम बात मेरे मन मे आकर भी होठों तक न आ पाती।

फिर, मैं मन ही मन वैशाली के उन व्रात्यों को नमस्कार करता, जिन्होने अपने उदार स्वभाव के कारण मुझ जैसे अकिंचन को भी अपने विशिष्ट समाज में प्रविष्ट कर लिया था। महात्मा बुद्ध ने एक बार लिच्छवियों को समूह में आते देख अपने प्रमुख शिष्य आनन्द से कहा था—"आयुष्मान आनन्द, यदि तूने भारी संख्या में देवों को एक साथ आते कभी न देखा हो तो आज वैशाली के इन लिच्छवियों को देख ले।" तथागत भगवान् ने यह सर्वथा उचित ही कहा था। फिर, उन्होने अपने भिक्षु संघ की रचना भी तो वैशाली गणराज्य के स्वरूप से ही प्रेरित होकर की थी। वास्तव में, वैशाली तो भगवान बुद्ध की हृदय-प्रिया थी। परिनिर्वाण से केवल कुछ दिन पूर्व जब वह वैशाली से चलने लगे तो समभावी होकर भी उनका मन जैसे कुछ भारी हो आया। बोले—"आयुष्मान आनन्द, वैशाली के मैं यह अन्तिम दर्शन कर रहा हूँ।"

वैशालिकों ने जब यह सुना तो वे दुःखित हो तथागत के पीछे-पीछे हो लिये। तथागत के बार बार के अनुरोध पर भी वे नगर को न लौटे। अन्त में, भगवान् ने वैशालिकों को अपना भिक्षा पात्र दे उनसे लौटने का अन्तिम अनुरोध किया और उन्हें विवश हो लौटना पडा। और, भगवान ने भी एक बार फिर नगर की भव्य अट्टालिकाओं को अपनी दृष्टि में उतार, जैसे अन्तिम नमस्कार किया।

उन दिनों, ऐसा ही कुछ था वैशाली का महत्व।

तथापि, उसकी गौरवपूर्ण सिंहांकित धवल पताका पर कभी एक काला धब्बा भी लगा हुआ था। और, जिस समय इस धब्बे को मिटाने का प्रयास जारी था तभी मेरा वहाँ पदार्पण हुआ था।

एक-एक कर जब ये सभी बातें मानस पटल पर मंडराने लगीं तो पटना की वह रात ऐसी प्रतीत हुई मानों पूरे एक पखवाड़े में फैल गई हो। फिर तो वह सारी रात करवट बदलते ही बीती। और, हर करवट के साथ मन का उतावलापन भी उग्रतर होता चला। कभी-कभी अन्तर के किसी गुह्य प्रान्त में बैठी एक दुविधा भी आत्मविश्वास को झिझोड़-सी जाती; और तब, अन्तस्तल में चिरकाल से आबद्ध एक धारणा भी सहसा डगमगा-सी उठती। मैं सोचने लगा—"मैं यह कमल पुष्प लेकर भी गया और कहीं देवी शिष्या ने इसे स्वीकार न किया तो? क्या पता इस सारी अवधि ही मैं अपने मन में एक भ्रम को ही पालता चला आ रहा होऊँ!" परन्तु तब, साथ ही आत्मविश्वास भी अपनी पूरी दृढ़ता से कह उठता—"नहीं, यह भ्रम कदापि नही हो सकता, वरना देवी शिष्या के निकट बैठ मैं किसी विशाल वट-वृक्ष के नीचे आए एक थके बटोही की भाँति शीतलता अथवा विश्राम का-सा आभास कदापि न पाता; और, न ही उसकी देह से फूटती चम्पा जैसी भीनी-भीनी सुवास से मैं अब तक इस प्रकार भ-र-माया-सा रहता।"

मुझे तो विश्वास है कि वह मुझे उस समय भी प्रेम करती थी; पर प्रेम करके

भी वह मुझे कभी अपने आलिंगन पाश में क्यों नहीं समेट सकी ? पर, वह ऐसा करती भी कैसे ? कौन जाने, वह कितनी विवश थी ?

पटना से वैशाली पहुँचते-पहुँचते रात हो गई। फिर भी सामान आदि रख मैं सबसे पहले खण्डहरों ही की ओर भाग लिया। कल ही तो पूनम हो कर चुकी थी, इसलिए गगन प्रकाश-विहीन नही था। रात्रि के एकान्त में खण्डहरो से सिमटी मिट्टी को खुरच जब मैं उसे चूमते हुए अपने मस्तक पर लगाने लगा तो मन जैसे बे काबू हो उठा; हाहाकार करता हुआ वह कह उठा—"अरे-ओ-गणराज्य के प्रकाश-स्तम्भ, आज तेरी यह दुर्दशा ?"

तब मुझे हुआ, जैसे बन्धुवर सिंह सेनापति सम्मुख ही खड़े हों, और पास ही में देवी रोहिणी भी। और जैसे, पितृवर गणाध्यक्ष राजा चेटक सदैव की भाँति पीठ पर हाथ फेरते हुए सांत्वना के-से कण्ठस्वर मे कह रहे हों—"आयुष्मान्, तुम्हें तो अब प्रसन्न होना चाहिए कि आज सारा भारत ही वैशाली बना हुआ है। यदि यह वैशालिकों का ही स्वप्न साकार नही हुआ है तो फिर भला वह और क्या है ?"

जब सोये खण्डहरों मे भी सुपरिचित कृपालु-जन मिल जाएं, तो फिर भला दुविधा किस बात की। चाँदनी रात तो थी ही, अतः और आगे निकल गया। राजा विशाल का वह गढ़, जहाँ कभी गणाध्यक्ष राजा चेटक रहा करते थे; उसी के पास तो गण-मन्दिर-सथागार का भव्य भवन था। तक्षशिला विद्यापीठ से स्थापत्य कला में दीक्षा ले बन्धुवर महाली जब वैशाली लौटे थे तो उन्होंने बड़े ही चाव से उसका पुनर्निर्माण कराया था। पाषाण खण्डों की पूर्ति उन्होने बड़ी-बड़ी ईटें पथवाकर कर ली थीं। संथागार का तब क्या ही भव्य रूप नेत्रो के सम्मुख प्रगट हुआ था। एक बार उसकी ओर नेत्र उठे नही कि वे, बस देखते ही रह जाते। उसके निकट से जो भी निकलता, किंचित् समय के लिए श्रद्धा से मस्तक नत कर उसके सन्मुख अवश्य ही खड़ा होता; और, उसके सोपान को अगुलियों से बुहार उसके रजकणो का नेत्रों से स्पर्श करा, गद्-गद् कण्ठ से कहता—'ऐ वैशालिकों के देव मन्दिर, तेरी यह यश-पताका युग-युग तक लहराये।" किन्तु, पाटलिग्राम में नया दुर्ग बनवाते समय मगध के कुटिल अमात्य वर्षकार की वक्र दृष्टि जैसे हर समय उसी पर टिकी रहती। साम्राज्य प्रसार की लालसा से उसकी जिह्वा चटकारें ले कहती—"एक दिन धान के हरे-भरे खेतों से लहलहाती यह स्वर्णिम भूमि अवश्य ही साम्राज्य का अंग बन कर रहेगी।"

किन्तु, वैशालिक निर्द्वन्द्व थे। उन्हें अपने पराक्रम पर दृढ़ विश्वास था। लगभग ढाई-सौ वर्ष पूर्व उनके जिन पूर्वजों ने निष्ठा भाव से इस गणराज्य की स्थापना की थी, मन-ही-मन उनका स्मरण कर, शीश नवा वे कहते—"ऐ गणराज्य के आदि देवो, हमें आशीर्वाद दो कि हम अपना सर्वस्व देकर भी इस पुण्य भूमि की रक्षा कर सकें; उसकी रक्षार्थ हमारा बल बना रहे; हमारी एकता बनी रहे !"

ऊपर गगन पर से छिटकती चाँदनी में यही सब कुछ सोचते विचारते मैं आगे बढ़ा जा ही रहा था कि सहसा पैर ठिठक कर रुक रहे। मैंने चारों ओर दृष्टि प्रसारित कर जब नीचे की ओर देखा तो बस देखता ही रह गया—यहाँ कभी महापौर श्रेणिय रत्न का भव्य प्रासाद खड़ा था। और, उसी प्रासाद में एक दिन...। जी में आया—'जोर से चिल्लाकर रात्रि के इस सुनसान में मैं मंजरिका को पुकार लूं।' परन्तु, दूसरे

ही क्षण अपने पर हँस पड़ा। मन-ही-मन बोला—'भला मंजरिका अब यहाँ काहे को होने लगी; कौन जाने कहाँ, वह तो अपनी सखी चारुस्मिता के साथ खेल रही होगी; और फिर मैं भारी मन से आगे बढ़ने को उद्यत ही था कि इस बार नेत्रों के सम्मुख उपस्थित एक दृश्य को देख मैं भयभीत हो उठा। एक काला नाग फुंकारता इसी दिशा में चला आ रहा था। मन में आया कि उल्टे पैर ही भाग लूं। परन्तु दूसरे ही क्षण ऊँचे-नीचे टीलों का ध्यान कर उसे व्यर्थ समझा, चूंकि यदि वह भी मेरे पीछे-पीछे दौड़ता तो उसके लिए वह अवश्य ही अनुकूल भूमि होती। अतः खड़ा रहा, खड़ा-खड़ा मन को समझाता रहा; समझाता रहा कि यह अवश्य ही कोई निष्ठावान वैशालिक है, जो आज भी वैशाली के शेष रहे वैभव की रक्षा कर रहा है। फिर भला वह मुझे काहे को कुछ कहेगा? पर वह तो अब तक सर्वथा सन्निकट पहुँच चुका था। उसे देख, मेरी देह बुरी तरह प्रकम्पित होने लगी। मैं सोचने लगा—'तब तो एक ऐसी भूल की ही थी, परन्तु आज तो मै जैसे उससे भी भयंकर भूल कर बैठा।' फिर, जैसे यह सोच भारी मनस्तोष हुआ कि चलो यदि कुछ हुआ भी तो अपनी वैशाली में ही होगा। तो भी पाण्डुलिपि का लोभ बना रहा और विचारने लगा कि क्या जो कुछ इतने परिश्रम से स्मरण कर मैंने लिपिबद्ध किया है; वह सब कुछ ही व्यर्थ जाएगा। मोह से भला कब किसका साथ छूटा है। क्वार मास की उस रात में कुछ-कुछ शीतल बयार चल रही थी, तो भी मेरे अग-प्रत्यंग से स्वेद जल बुरी तरह फूट रहा था। और, जब हाथ के कमल की ओर देखा तो वह भी इस समय मु-र-झा-या-सा प्रतीत हुआ। भयभीत कण्ठ स्वर में मैं जोर से उस निर्जन प्रदेश में चिल्ला ही तो उठा—"देवी शिष्या, ओ कल्याणमयी देवी शिष्या, तो क्या मै आज भी यूं ही लौट जाऊंगा?"

तब, दूर दिगंत से ध्वनि आई—"आचार्य शिष्य घबराओ नहीं; वह तो सामन्त-पुत्र अखण्ड देव हैं। क्यों, क्या पहचाना नही?"

यह सुन मै तो चकित रह गया! वह स्वर तो सचमुच ही जाना-पहचाना-सा लग रहा था।

अब, जबकि मैं वैशाली से लौट आया हूँ तो आप निश्चय ही उत्सुकता वश पूछेंगे—'क्यों जी, देवी शिष्या से भेंट भी हुई, या बस यूं ही लौट आए?' तो फिर उत्तर में मैं आप सभी से केवल यही कहूँगा—"भद्रजनो, आपस का यह प्रेम ऐसा नही, कि मै उसकी ढोंडी पीटता फिरूं—वह तो केवल मन-ही-मन गर्व की चीज है। परन्तु, जब आप इतने सहज आत्मीय भाव से पूछ ही रहे हैं, तो फिर भला मुझे भी कहने में क्यों कोई संकोच हो। तो सुनो, जन्म-जन्मान्तर से मुरझाता आ रहा अपना कमल-पुष्प जब मैंने देवी शिष्या के श्यामल जूड़े पर अटकाया तो वह (कमल पुष्प) मुखरित हो उठा। और हाँ, देवी शिष्या पहले तो कुछ सकुचाई-सी; परन्तु फिर भाव विभोर हो बोली—'स्नेह के संस्कार भी देखो तो कितने प्रबल हैं, अन्यथा क्या तुम आज यहाँ फिर आते?"

मैं नत मस्तक हो बोला—"देवी, आप सत्य कहती हैं।"

और, जब मैं वहाँ से चलने लगा तो मेरे नेत्र कुछ पुराने और कुछ नये स्नेह से अश्रुपरित-से हो उठे। तब देवी शिष्या ने उन्हें अपने आँचल के पल्ले से पोंछते हुए कहा—"तुम तो व्यर्थ ही में दुखी हो रही हो; यह गणराज्य अजर-अमर है, और जब

तक यह है तब तक हम बार-बार मिलेंगे और बार-बार प्यार करेंगे।"

किन्तु, मेरे मुँह से सहसा निकल गया—"देवी शिष्या, तुम तो मुझे सदा यूं ही बहका देती हो। जानती हो, इस जूड़े मे यह कमल पुष्प लगाने की इच्छा भला कब बलवती हुई थी ? प्रतीक्षा करते-करते वह जीवन तो बीत ही गया ; ये पूरे ढाई हजार वर्ष भी यूं ही चले गये। और, आज न जाने किस महादेवी की कृपा से मन की यह साध पूरी हो सकी है। देवी, एक साध और भी थी..." कहते-कहते मेरी जिह्वा सहसा रुक, जैसे जड़ हो गई; परन्तु ओष्ठ उसके पश्चात् भी कुछ कहने की इच्छा से फडफड़ाते रहे। मैं याचना की-सी आर्द्र दृष्टि से उसकी ओर देखते हुए उसके चरणों में अन्तिम प्रयास स्वरूप बैठना ही चाहता था कि उसने मेरा हाथ पकड़ मुझे अपने आलिंगनपाश में समेट लिया; अपनी स्वप्निल दृष्टि से मुझे आपाद-शीर्ष दुलारती हुई-सी वह बोली—"सच-मुच, मैं तो अब तक यूँ ही व्यर्थ का संकोच करती रही थी।"

और फिर, उसके वक्ष में न जाने कब से बंदी हुआ बोझिलोष्म श्वास मेरे अन्तस्तल में सिहर-सा गया।

मेरा हृदय गुदगुदा उठा। उसकी घुघराली, काली केश राशि के मध्य खिची भव्य सी थी, कसौटी पर खिची स्वर्ण रेखा की भाँति, इतने दिन व्यतीत हो जाने के पश्चात् आज भी दमक रही थी ; और उसमें से भीनी-भानी सुवास भी फूट रही थी। न जाने कितनी बार मन में आया था कि उसे जी भर, एकटक दृष्टि से देखते रह, उसकी सुवास लेता, अपने अन्तः और बाह्य को आलोकित कर लूं, और साथ ही मन का सताप भी मिटा लू। परन्तु, न जाने क्यों, अब भी मेरा साहस नही हो पा रहा था। कदाचित् वह मेरे मन के भाव को समझ गई ; मेरी अन्तर्यामिनी जो ठहरी। उसके नेत्र मुस्करा उठे। कितनी कल्याणमयी थी उसकी वह मुस्कराहट और कितना पुनीत था उसका वह चुम्बन, जो उसने साहस कर इस बार मेरे ललाट पर, न जाने कैसे, टका ही दिया था।

मेरा मन मानों मचल, उसके आँचल में दुबक रहा।

और अन्त में, मेरे चलते-चलते वह तनिक खिन्न मुस्कान के साथ बोली—'क्यों, क्या तुम यह समझते हो कि तुम्हें इस तरह उचाट मन देख मुझे बड़ी प्रसन्नता होती है ?"

और फिर, न जाने क्यों उसके नेत्र सजल हो उठे; मेरे भी। संस्कार सचमुच बड़े बलवान हैं। इस बार फिर मै वैशालीसे विदा हुआ हूँ; परन्तु पूर्व की भाँति एक दम नहीं, वरन् धीरे-धीरे...। विगत की उन सभी घटनाओं का स्मरण करता हुआ-सा, जिनमे से यदि कुछ सुमधुर हैं तो कुछ कटु भी। परन्तु कुछ भी हों, कैसी भी हों, घटनाएं तो घटनाएँ ही हैं, ऐसी घटनाएं कि जिनमे से कुछ के साथ मेरा मानों अटूट सम्बन्ध जुड़ा हुआ है। परन्तु अब भला उनमें मेरा क्या कुछ रह गया है ? इतिहास के विस्मृत-प्राय पन्नों ने उन्हें अपने अक में जो समेट लिया है ? अतः मेरा अब अपना कहने का कुछ भी तो नही। और जो है भी, तो वह सबके लिए ही है; कम से कम वैशालिक तो ऐसा ही मानते थे। इसी से, मैने अब अपने आप को केवल निमित्त मात्र मान हटा लिया है, और फिर उनका जो कुछ भी सहज स्वरूप बन सका है, वह प्रस्तुत है। उसकी अच्छाई अथवा बुराई से अब जितना आपका सम्बन्ध है, बस उतना ही मेरा भी।

जातक-कथाओं में से एक प्रसंग

एक दिन उत्साह की उमंग में दौड़ती आई, उल्लसित कण्ठ से एक परिचारिका ने अपनी स्वामिनी से आकर कहा—"देवी...देवी...देवी...!" परन्तु इससे आगे जैसे वह कुछ भी कहने में असमर्थ रही। कारण ?

उसका श्वास अभी भी फूल रहा था।

देवी आम्रपाली मध्यान्ह का विश्राम कर अभी-अभी अपने प्रसाधन-कक्ष में आई थी। मानवाकार दर्पण में प्रतिबिम्बित होते अपने अलसाए अंगों, एवं अपनी मुख-छवि को निहार वह, जैसे अपने पर ही मुग्ध हो उठी। परिचारिका इतना उत्साह दिखा कर भी जब कुछ न कह सकी, तो इस पर वह कुछ झल्ला-सी गई। बोली—"देख मदिरे ! मैंने तुझे कितनी बार सावधान किया है कि इतनी भावुक न बन। अरी ओ, भावुकता तो बस उतनी ही उचित है कि वह अभिव्यक्ति को सुन्दरता में सवार सके। और, तू है कि......अच्छा...अब कुछ बोलेगी भी कि...।"

परिचारिका के मुख का फैलता गाढ़ा रंग जैसे वहीं रुक, और प्रगाढ़ हो गया। किन्तु, उसके नेत्रों में से प्रस्फुटित होता उल्लास और ज्योतित हो उठा। संयत कण्ठ से मानों सप्रयास वह बोली—"स्वामिनी जानती हो, आज अपने आम्रकुंज में भगवान तथागत पधारे हैं !"

देवी आम्रपाली अपनी निहारती छवि को जैसे दर्पण मे ही धकेल, पीठिका से उठ खडी हुई ; उसके नेत्र विस्फारित हो गए। ससंभ्रम पूछने लगी—"सचमुच मदिरे !"

और फिर, वह सवेग रथ में जा बैठी; रथ तीव्र गति से आम्रकुंज की ओर दौड़ लिया।

× × × ×

उधर, लिच्छवयों को भी जब तथागत के आने का पता चला तो वे भी सोत्साह एक-दूसरे को यह संवाद सुनाते, तथागत के दर्शन को दौड लिए। पर, तब तक सामने से देवी आम्रपाली का रथ धूलि-धूसरित मार्ग को सावेग रौंदता लौट रहा था; इतना सावेग कि लिच्छवियों के रथो से उसका रथ टकरा गया; धुरे से धुरे टकरा, अर्रा उठे। आखिर, उन्होने अपने रथ रोक, आम्रपाली से पूछा—"देवी, भला आज ऐसा क्या हुआ है, जो तू इतनी प्रसन्न है !"

तब, आम्रपाली ने सगर्व कहा—"तथागत कल भिक्षुसंघ समेत मेरे यहाँ ज्योनार पर जो आएँगे।"

यह सुन सभी लिच्छवियों ही की तो मुख आभा निस्तेज हो उठी ; वे जैसे ठगे से खड़े रह गए। परास्त हुए कण्ठ स्वर में बोले—"देवी, तू एक कोटि कार्षापण ले ले और और यह ज्योनार हमे दे दे।"

इस पर, आम्रपाली ने सगर्व अपने सारथी को रथ आगे बढ़ाने का आदेश कर लिच्छवियों की ओर देखते हुए कहा—"क्या कहा, एक कोटि कार्षापण?"

उपहास की मुस्कान से स्पष्ट ही उसके ओष्ठ फैल गए। वह फिर बोली—"भद्रजनो, यदि तुम समूचा वज्जि संघ देकर भी मुझ से यह ज्योनार चाहोगे तो तुम्हें उसका मिलना असम्भव है।"

और, अष्टकुल को प्रतिबिम्बित करती लिच्छवियों के परिधानों की इंद्रधनुषीय छटा देवी आम्रपाली के रथ के पहियों से उड़ती धूलि में विलीन-सी हो गई।

एक

ग्रीष्म काल का ज्येष्ठ मास और उसकी भी मध्याह्न बेला। ऐसी भीषण गर्मी कि बस कोई बिरला ही बाहर निकल सके। किन्तु, आज इस बेला में भी महानगरी वैशाली के मध्य भाग की एक वीथी में कुछ हलचल-सी है। और, इस हलचल का केन्द्र बनी हुई है एक भव्य, स्वर्ण कलश मंडित उच्च अट्टालिका। और इस समय वहाँ उसके खुले प्राँगण में गर्म लू के थपेड़े सहता हुआ कतिपय जन समुदाय उपस्थित है।

प्राँगण में उपस्थित जन समुदाय ने सहसा उल्लसित हो, उच्च कण्ठ स्वर में जयघोष किया। इस जयघोष की प्रतिध्वनि कुछ समय तक निकट के सूने वातावरण में गूँजती रही। जब वह प्रतिध्वनि ऊपर नभ में मंडराती अंततः अंतरिक्ष के शून्य में लीन हो गई तो प्राँगण में मंत्रोच्चारण करता एक समवेत स्वर गूंज उठा। न जाने कब से यहाँ कुछ ऐसा ही क्रम चल रहा है। इस क्रम को कुछ उपस्थित नागरिक हतप्रभ हुए विस्फारित दृष्टि से देख रहें है; तो कुछ हर्षोल्लास के भाव से। फिर वहाँ इसी बीच एक उच्च जयघोष के साथ कुछ कोलाहल-सा हो उठा, जो प्राँगण की परिधि को लाँघ, शनैः-शनैः वीथी को पार कर, महानगरी के भवनों, प्रासादों एवं उच्च अट्टालिकाओं से टकराता हुआ आगे बढ़ निकला।

इसी अट्टालिका से कुछ दूर, नगर के एक भिन्न प्रांतर में, वयोवृद्ध गणसंवाहक सान्त भंजदेव ने मध्याह्न विश्राम के पश्चात् अभी-अभी शय्या का त्याग किया था। उनके रक्तिम मुख मंडल, अर्धनिमीलित नेत्रों और वृद्धावस्था से क्लांतप्राय अंग-प्रत्यंग पर तंद्रा प्रमाद का प्रभाव स्पष्ट दीख रहा था। उठने के पश्चात् भी वह कुछ क्षणों तक अलसाई दृष्टि से त्यागी शय्या की ही ओर देखते रहे।

स्वामी के उठ खडे होने पर विजन करती ताम्रवर्णा दासी सामा का भी हाथ जैसे स्वतः रुक गया। किन्तु वह नतमस्तक यथास्थान ही खडी रही। विजन के रुकते ही वृद्ध गणसंवाहक की देह पर भी स्वेद कण उभर आए, पर जैसे उनका इस ओर कोई ध्यान ही नहीं गया। स्वाभाविक रूप में आई एक जम्हाई और अंग-प्रत्यंग पर लुढ़कती अंगड़ाई के साथ उनके पैर, मानो स्वतः कक्ष गवाक्ष की ओर बढ़ लिए। गवाक्ष छिद्रों में से आते वायु के झोंके का सहसा स्पर्श पा उनकी स्वेद-सिक्त देह एकबारगी आपाद शीर्ष शीतल आभास से स्फुरित हो उठी, उनका शुष्क प्रतीत होता कण्ठ भी आनदोच्छ्वास से तरलित हो उठा। और दृष्टि ? वह उन्मन भाव में गवाक्ष छिद्रों को लाँघ दूर दिगंत में क्षितिज रेखा तक फैले सघन आम्र कुजों के झुरमुट में उलझ-

सी गई। सामने ही, केवल कुछ अन्तर पर, श्रेष्ठी भितविदक के कोठारों की पाँत खड़ी थी। उसके सम्मुख फैले लम्बे चौड़े आँगन में ताम्रलिप्ति जलपत्तन से पहुँचे वणिज पदार्थों का अम्बार लगा था। दास कम्मकरों का एक पूरा झुण्ड बड़ी-बड़ी गाँठों से जूझता, उन्हें पीठ पर लादता, कोठारों की ओर जाता दीख रहा था। अनवरत श्रम से कम्मकरों की सुडौल काली देह से स्वेद-जल धार फूट रही थी, पर जैसे उन्हें इस समय उसे पोंछने तक का अवकाश नहीं था। तथापि उनसे कुछ ही दूर एक वट-वृक्ष की छाया में बैठा श्रेष्ठी भितविदक का एक विश्वस्त सेवक उन्हें यदा-कदा ललकार उठता। उसकी ललकार का यह कर्कश स्वर गणसंवाहक के कानों में भी गूंज उठा। उन्होंने उचटती दृष्टि से एक बारगी उधर देखा। फिर उनके नेत्र नगर प्राचीर के बाह्य क्षेत्र वाले भवनों पर जा टिके। सन्निवेश क्षत्रिय कुण्डग्राम के उन भवनों के मध्य खड़े एक भव्य प्रासाद पर जब उनकी दृष्टि जा केन्द्रित हुई तो जैसे उसी के साथ उनका मस्तक श्रद्धा भाव से नत हो रहा। मन-ही-मन में बोले—'एक दिन आदि व्रात्य कुलों ने सदानीरा को लाँघ यही तो अपना अंतिम निवेश किया था। और सन्मुख दीखता यह भव्य प्रासाद? वह तो अपने पर जितना भी गर्व करे, थोड़ा ही है।' यह कहते हुए उनका नतशिर श्रद्धातिरेक से और भी अवनत हो गया। हाथों को अंजलिबद्ध कर बोले—"आर्यकुल भूषण महावीर, मैं तुम्हें नमस्कार करता हूँ। यह पावन भूमि तुम्हें अपने पर अवतरित कर सचमुच धन्य हुई है।"

अपने आराध्य के स्मरण से वृद्ध गणसंवाहक के ज्योतित नेत्र और प्रदीप्त हो उठे।

कुछ क्षण पश्चात् जब सहसा उनका ध्यान भंग हुआ तो वह कुछ चौंक से गए। दृष्टि ऊपर उठा तनिक व्यग्र भाव से उन्होंने गवाक्ष छिद्रों में से बाहर की ओर झांका। बोले—'अरे, यह तो सचमुच विलम्ब हो गया।" उनके विश्राम शिथिल अंगों में तत्परता लहर उठी। अस्त-व्यस्त रूप में लटकते अपने उत्तरीय को सावेग कंधे पर पटक, सन्मुख ही एक पीठिका पर रखे स्वर्ण किरीट की ओर बढ़ लिए। नत-मस्तक हो उसे उठाया, अपने शीर्ष पर धारण किया; और फिर सावेग संथागार सत्र के लिए चल पड़े।

शयन कक्ष और द्वार मण्डप के बीचों बीच चतुःशाल पड़ता था। वृद्ध सामन्त अभी उसी तक पहुँचे थे कि आस्थानागार की ओर से आता हुआ एक तरुण अभिवादन कर उनके सन्मुख खड़ा हो गया। वह भी रुक गये। तरुण नत मस्तक ही रहे कुछ पग पीछे की ओर हट गया। और फिर वह विनय के कण्ठ स्वर में बोला—"आर्य, एक आवश्यक संवाद है।"

क्या संवाद है, वृद्ध गणसंवाहक ने जैसे प्रकट में उसके प्रति किंचित भी उत्सुकता न दिखाई। हाँ, उनकी गम्भीर दृष्टि उस पर अवश्य जा टिकी। आगतुक तरुण ने भी जैसे उत्तर की विशेष आवश्यकता नहीं समझी। यथापूर्व नतमस्तक रह वह बोला—"आर्यवर, देवी अधिष्ठात्री ने कला विरक्त हो सद्धर्म प्रवेश की घोषणा की है।"

वृद्ध गणसंवाहक यह सुन सर्वथा स्तब्ध रह गए। किन्तु संदेशवाहक तरुण नतमस्तक रहने के कारण उनके इस परिवर्तित मुख भाव को नहीं देख सका। उत्साह आवेग के से कण्ठ स्वर में वह पुनः बोल उठा—"आर्यवर, केवल घोषणा ही नहीं वरन् आज, अभी, इसी मध्याह्न बेला में वह तथागत से विधिवत दीक्षा ग्रहण कर संघ में प्रविष्ट भी हो चुकी हैं।"

यह सवाद सुनाते हुए स्वयं तरुण का हृदय चीत्कार कर उठा। परन्तु, वृद्ध सामन्त तो उसे सुन सचमुच विचलित हो गए। मन ही मन बोले—'भला तथागत क्या एक गणिका को भी अपने संघ में प्रविष्ट कर सकते हैं?' और फिर, यही एक प्रश्न बार-बार उनके अतर में ध्वनित हो, गूंजता रहा।

केवल कुछ क्षणों पूर्व तक जिस हिम-धवल श्मश्रु आच्छादित, आभा प्रदीप्त और रक्तिम मुख मण्डल से उनका प्रभावोत्पादक व्यक्तित्व प्रस्फुटित हो रहा था, वह सहसा निस्तेज हो गया।

उनके मानस पटल पर जैसे रह-रह कर अतीत के अंतराल से वर्षा ऋतु के सघन मेघों की भाँति कोई विस्मृतप्राय घटनाएँ घुमड़ उठीं। विचारों के एक प्रबल झंझावात ने वृद्ध सामन्त के अंतरतम् को बुरी तरह झिझोड़ दिया। अन्त में विवशता से सिहर, ऊर्ध्वमुख हो, उन्होंने शून्य दृष्टि से चतुःशाल की छत की ओर देखा। दृष्टि वहीं स्थिर हो रही। उनका विशाल वक्ष अवरुद्ध श्वास से और फूल-सा गया।

गणसंवाहक प्रस्तुत प्रसंग को मस्तिष्क से निकाल देने को प्रयत्नशील हो उठे। किन्तु इस दिशा में जितना प्रयास करते; उसमे उतने ही उलझ कर रह जाते। उधर संथागार सत्र का समय सन्निकट देख वह और भी दुविधा ग्रस्त हो उठे। एक बार मन में आया भी कि क्यों न सत्र-स्थगन का ही आदेश भिजवा दूं। पर उसी के साथ उन्हें कुछ स्मरण हो आया। बोले—"ओह, आज तो तथागत संथागार में सभासदों के समक्ष सद्धर्म प्रवचन के लिए भी आमंत्रित हैं।"

अन्ततः उन्होंने अपनी दृष्टि उठा संदेशवाहक की ओर देखा। फिर सदैव के स्वाभाविक संयत कण्ठ स्वर में पूछने लगे—"क्यों आयुष्मान कपिल, वाहन तो प्रतुस्त है न?"

वाहन द्वार मण्डप में खड़ा कभी का प्रतीक्षा कर रहा था। फिर भी संदेशवाहक ने गणसंवाहक के प्रश्न का प्रत्यक्ष उत्तर न दे, कहा—"किन्तु आर्य इस समय कुछ अस्वस्थ प्रतीत हो रहे हैं।"

तरुण के इस अप्रत्यक्ष प्रस्ताव में निहित आशय को समझ वयोवृद्ध सामन्त पहले तो कुछ हंसे, फिर शीघ्र ही उसे रोक अंतर के समस्त गम्भीर्य को कण्ठ स्वर में समेटते हुए बोले—"तो भी आयुष्मान, संथागार सत्र महत्त्वपूर्ण है। आज तो वह और भी अधिक महत्त्वपूर्ण है। केवल इतनी-सी बात के लिए उससे अनुपस्थित होना क्या किसी को शोभा देता है।" तनिक रुक, एक श्वास छोड़ते हुए वह फिर बोले—"और गणसवाहक को तो यह कदापि शोभा नहीं देता। आयुष्मान, मैं सथागार अवश्य जाऊंगा।" यह कह, वह तत्परता से द्वार मण्डप की ओर बढ़ लिए।

संदेशवाहक कपिल भी विनीत सेवक की भांति उनके पीछे-पीछे हो लिया।

रथारूढ़ होते-होते गणसंवाहक के मस्तिष्क में सहसा एक प्रश्न प्रबल वेग से आ टकराया। मुख पर जिज्ञासा का सा भाव फैल गया। रथ के निकट ही खड़े तरुण संदेशवाहक की ओर उत्सुक दृष्टि से देखते हुए पूछने लगे—"क्यों आयुष्मान कपिल, तुम्हारी देवी अधिष्ठात्री तो विपुल सम्पत्ति की स्वामिनी थी न ? भला उसने उस सब कुछ का क्या किया ?"

स्वामी के इस प्रश्न को सुन, तरुण जैसे असमंजस में पड गया। और वह मानो अंतर के सारे साहस को समेटते हुए, मस्तिष्क में उत्तर की भूमिका बैठाते हुए तथा फिर एक-एक शब्द को तोलते हुए बोला—"सामन्त श्रेष्ठ, देवी अधिष्ठात्री ने अपनी सम्पत्ति का आधा भाग तो संघ को भेंट किया है औ······र······ ।"

तरुण मध्य ही में रुक गया। इस पर वृद्ध गणसंवाहक की जिज्ञासा जैसे और उग्र हो उठी। अत्यधिक उत्सुक दृष्टि से कपिल की ओर देखते हुए व्यग्र भाव से पूछने लगे—"और आधी आयुष्मान् ?"

संदेशवाहक ने पूर्ववत नत मस्तक रह, मानों साहस कर कहा—"सामन्त श्रेष्ठ, देवी अधिष्ठात्री ने आधी सम्पत्ति उत्तराधिकार स्वरूप अपनी प्रिय शिष्या दासी कन्या को प्रदान की है।"

कौन दासी कन्या, यह गणसंवाहक तुरन्त समझ गए। देवी आम्रपाली ने उसे मधुपर्व के अवसर पर शिव की भूमिका में नृत्य मच पर अवतरित किया था। यह ध्यान आते ही वयोवृद्ध सामन्त सहसा क्रोधाभिभूत हो उठे। उन्होने जैसे अपने क्षत्रिय कुल गौरव को अपमानित हुआ अनुभव किया। धमनियों में प्रवाहित होता क्षत्रिय रक्त पूर्णवेग में उद्वेलित हो उठा, मुख तमतमा गया, अंग-प्रत्यंग उत्तेजित हो उठे और भृकुटी तन गई। भावावेश के कारण अवरुद्ध श्वास से उनका विशाल वक्ष स्थल भी दृढ़तम हो उठा। नासिकारंध्र भी फूल गए ; और मस्तिष्क शिराएँ क्रोधाभिभूत विचारों से तन कर फैल उठीं। अंतर को इस उत्तेजना को जब उनके अंग-प्रत्यग न सम्भाल सके तो जैसे वह प्रहारोद्यत हो उठे। वाहन में बैठे-बैठे ही एक तीव्र पदाघात कर उनके ओष्ठ फड़-फड़ा गए ; और फिर वे उसके पश्चात् भी फड़फडाते रहे। पदाघात से विशाल वाहन बुरी तरह दहल उठा, अश्व चौंक से गए, और वे आतंकित हो हिनहिना उठे ; हिनहिनाते रहे कि इसी मध्य मेघ गर्जन के से कड़कते स्वर में गणसवाहक बोले—"गण नर्तकी तेरा यह दुस्साहस ! पापिष्ठा, अच्छा चल, मैं भी देखूं, वैशाली में सामन्त भंजदेव के रहते एक दासी कन्या किस प्रकार आर्य सम्पत्ति के उत्तराधिकार का उपभोग करती है।"

तरुण संदेशवाहक स्वामी के इस रुद्र रूप को देख भय से कांप-सा गया। उनके नेत्र अभी भी अन्तर्ज्वाला से धधक रहे थे और भृकुटी तो क्रोधावेश से जैसे अब टूटी, अब टूटी।

गणसंवाहक सहसा फिर कड़कते स्वर में बोले—"सारथी, चलता क्यों नहीं ? अरे ओ, यहाँ खड़ा-खड़ा तू किसका मुंह ताक रहा है ?"

सारथी सहम-सा गया। अश्वों की कसी वल्गा, मानों स्वतः उसके कंपकंपाते

हाथों में शिथिल हो गई। अश्व पूर्व से भी अधिक वेग में हिनहिनाते हुए आतंकित से दौड लिए। रथ सर्र…र्र…से द्वार मंडप को लांघ, वाटिका पथ को पार कर, मुख्य द्वार में से निकल राजपथ पर सरपट दौड़ निकला।

दो

महाश्रेष्ठी मणिरत्न ने जब यह संवाद सुना तो वह सहज ढंग में बोले—"मित्रवर, चलो यह अच्छा ही हुआ कि अब सद्धर्म में गणिकाओं का भी प्रवेश होने लगा। अन्यथा, इन दिनों अभिजात कुलों में भिक्षु संघ प्रवेश की जैसी बाढ़ आई हुई है, किसी दिन वह तो हमें भी अपने साथ खींच कर ले जाती।"

यह कहते हुए महाश्रेष्ठी के मुख की झुर्रियाँ भी सुहास्य से प्रदीप्त हो उठीं। और नेत्र ? वे विनोद भाव की चपलता से मुस्कुरा उठे। दृष्टि सम्मुख पीठिका पर बैठे गणसंवाहक पर जा टिकी।

वास्तव में, महाश्रेष्ठी आज अत्यन्त प्रसन्न चित्त थे। कारण, केवल कुछ समय पूर्व ही उनके अनुसेट्ठि सुदत्त ने उन्हें एक शुभ संवाद सुनाया था। उनके एक सार्थ ने अकेले सौरेय्य नगर में पूरे दस सहस्र कार्षापणों का लाभ अर्जित कर अब मद्रराज नगरी साकल की ओर प्रस्थान किया था ; यों महाश्रेष्ठी के लिए दस सहस्र कार्षापण कोई बड़ी बात नहीं थी। परन्तु उसके साथ जो सार्थवाह गया था, वह अभी नया-नया ही था, अतः उनके लिये यह सचमुच एक सुखद समाचार था। और इस समाचार के उत्साह में उन्होंने सिंहल द्वीप के एक सांयात्रिक से कतिपय बहुमूल्य रत्नों का भी क्रय कर लिया था। अब इन रत्नों को लेकर वह स्वयं ही वत्सराज उदयन की नगरी कौशाम्बी की ओर जाने की बात सोच रहे थे। सोच रहे थे कि चलो, कदाचित्, इसी निमित्त से अवन्तिराज दुहिता वासवदत्ता के दर्शन का सुयोग मिल जाए। मन ही मन बोले—'देखो, कैसा कठोर है, चण्ड प्रद्योत और कैसी सुकोमल है उसकी दुहिता वासवदत्ता। भला सोचो तो, उनके विवाह को कितने वर्ष बीत चुके होंगे, किन्तु उदयन आज भी उस पर उतना ही मुग्ध है जितना कि उज्जयिनी से पलायन के समय रहा होगा।' इसी कल्पना तरंग से गुदगुदाते हुए उनकी दृष्टि बलात् विजन करती परिचारिका की ओर घूम गई ; अन्तः भाव ध्वनित हो उठा। बोले—"क्यों कपिशे, तूने भी तो सुना होगा कि वत्सराज आज भी वासवदत्ता के बिना एक क्षण नहीं रह पाता ; मानों दोनों में जैसे अभी-अभी प्रणय का आरम्भ हुआ हो।"

कपिशा वृद्ध स्वामी के मुख से यह सुन लजा-सी गई। बोली कुछ नहीं। हाँ, उसके उन्नत कपोलों की लालिमा अवश्य प्रगाढ़ हो गई। और वृद्ध महाश्रेष्ठी की नेत्र दृष्टि सरसता से लास्यपूर्ण हो उठी।

वह केवल कुछ समय पूर्व ही शयन कक्ष में आये थे कि सहसा गणसंवाहक के आने का सदेश मिल गया। इस असमय में उनके आने पर वह कुछ चौंके से ; किन्तु

अपने को शीघ्र ही संयत कर जब वह उन तक पहुँचे तो उनके मुख पर वही पूर्ववत् प्रफुल्ल भाव उभर आया।

प्रासाद से प्रस्थान करते समय गणसंवाहक का जो उग्र रूप उभर आया था वह अब तक प्रकट में प्रायः लुप्त हो चुका था। हाँ, मुख पर कुछ खिन्नता अवश्य दीख रही थी। कदाचित् इसी खिन्नता के कारण वह महाश्रेष्ठी को अभी तक केवल अधूरी बात ही सुना पाए थे। उनकी दृष्टि जैसे किसी जटिल समस्या की गहनता में उलझ गई। वृद्ध सामन्त की इस उन्मन अवस्था को देख महाश्रेष्ठी को कुछ हँसी-सी आ गई। गणसंवाहक की जैसे तन्द्रा टूटी। सचेष्ट हो उन्होने महाश्रेष्ठी की ओर देखा। किन्तु इसी मध्य महाश्रेष्ठी समुस्कान चपलता से बोल उठे—"मित्रवर, यदि आम्रपाली के जाने से इतने खिन्न हो उठे हो, फिर तो यही अच्छा है कि तुम भी तथागत की शरण जा लो।"

महाश्रेष्ठी ने यह बात केवल सहज विनोद में कही थी; तो भी वह जैसे गण-संवाहक के किसी मर्मस्थल का स्पर्श कर उठी। आक्रोश के से कण्ठ स्वर में वह बोले—"बन्धवर, आपको विदित हो, संथागार की ओर जाते-जाते मैं यहाँ आया हूँ; क्या इसीलिए कि मेरा उपहास किया जाय?"

यह कहते हुए गणसंवाहक कुछ उत्तेजित हो उठे। साथ ही, पीठिका से भी उठ खड़े हुए। फिर महाश्रेष्ठी ही भला किस प्रकार बैठे रह जाते। वे दोनों ही परस्पर बाल सखा थे। अतएव, एक दूसरे के स्वभाव से सुपरिचित थे। इसी से गण-संवाहक को उत्तेजित हुआ देखकर भी महाश्रेष्ठी घबराये नहो। वरन, सहज आत्मीय भाव से हँस पड़े। आवक्ष लटकते अपने धवल श्मश्रु केशों को हाथ में पकड उन्हें समवयस्क सामन्त के नेत्रों के सम्मुख फैलाते हुए बोले,—"मित्रवर! कुछ इनकी ओर भी ध्यान दो। वैशाली के तरुण जब यह सुनेगे कि वयोवृद्ध गणसंवाहक आम्रपाली के चले जाने पर खिन्न मन हो उठे हैं तो भला क्या वे हँसे बिना रह जाएँगे? क्या अब भी हमारी ऐसी अवस्था रह गई है कि किसी रूपसा के पीछे निराशा से इतने उदास हो उठें। फिर, साथ ही, गणसंवाहक सदृश यह दुर्लभ गौरवास्पद पद; उसकी मान रक्षा भी तो ..।"

"तभी तो इतनी चिन्ता है महाश्रेष्ठी!" गणसंवाहक ने वक्ष में रुकी श्वास बाहर छोड़ते हुए तत्परता से कहा। दृष्टि नत ही रही।

किन्तु, इसके बाद भी गणसंवाहक के मुख को उदासी से लटका हुआ देख महा-श्रेष्ठी फिर हंसने को उद्यत हो उठे। पर इस बार वह प्रकट में नहीं वरन मन ही मन हँस कर रह गये। ऊपर से अत्यन्त गम्भीर भाव दिखा, बोले—"मित्र सामन्त! महाश्रेष्ठी कोई मूर्ख नहीं। क्या वह इतना भी नहीं समझता कि गणसंवाहक की यह चिन्ता सर्वथा उचित ही है। वैशाली में कला पीठिका की अधिष्ठात्री का पद श्रीहीन हो जाय और सामन्त श्रेष्ठ भंजदेव को उसकी चिन्ता तक न हो, भला यह कैसे सम्भव है?"

सहसा वह तनिक रुके और कुटिल दृष्टि से गणसंवाहक की ओर देखा। गण-संवाहक की मुख मुद्रा इस समय उदासी की सीमा को लाघ किसी गूढ़ समस्या की गहनता में उलझ चुकी थी। महाश्रेष्ठी कुछ क्षणों तक तो ध्यान से उनकी मुख रेखाओं को देखते रहे, फिर बोले—"बन्धुवर! स्मरण है, गत बार जब देवी चित्रांगदा के

अकस्मात निधन से यही पद रिक्त हो उठा था तो उसकी पूर्ति के लिए आपको कितना भीषण संघर्ष करना पड़ा था। यह तो यक्षेश मणिभद्र की कृपा हुई कि आपका वह प्रयास सफल हो गया। अन्यथा, पग-पग पर कितनी भारी निराशा का सामना करना पड़ रहा था। निस्सन्देह यह आपका ही सतत प्रयास था कि वैशाली के इस पद पर नायक महानाम कन्या आम्रपाली सदृश रूपसा और नृत्य विशारदा आरूढ़ हो सकी। परन्तु देखो तो, यह भी एक ही विडम्बना रही। उसे पाकर जहाँ एक ओर गण महानगरी का जनसाधारण 'धन्य धन्य' कह उठा वहाँ कृतघ्न अभिजात वर्ग उपकृत होकर भी अपना माथा ठोकता रह गया। वास्तव में आम्रपाली को अभिषेक की वेदी पर बैठे देख, उसकी रूप छटा को निहार, वह जितना हर्षित हुआ; अभिषेक के पश्चात् उसकी प्रथम घोषणा पर वह उतना ही खीझ उठा। परन्तु इससे क्या ? सामन्त श्रेष्ठ, वैशाली में अभिजात् कुल हैं ही कितने, जो उनकी चिन्ता की जाय।" कहते-कहते वह पुनः रुक गये। और फिर, जैसे रहस्यपूर्ण दृष्टि से गणसंवाहक की ओर देखते रहे।

वास्तव में हुआ क्या था; महानाम कन्या आम्रपाली ने कला पीठिका के अधिष्ठात्री पद पर अभिषिक्त होने के तुरन्त पश्चात् ही घोषणा की थी कि उसका नृत्य केवल अभिजात वर्ग तक ही सीमित न रह समान रूप से जनसाधारण के लिए भी होगा। उसने कहा था—"अपनी सभी पूज्या पूर्ववर्तियों के विपरीत कला धर्म की यह अकिंचन सेविका आम्रपाली, पीठिका की पूर्व परम्परा का परित्याग कर, अभिजात वर्ग एवं सर्व साधारण का मन में कोई भेद विकार न रख, सभी के लिए अपना नृत्य प्रस्तुत करेगी।"

तब, उसकी इस अभूतपूर्व घोषणा पर जन-साधारण हर्षोल्लास से करतल ध्वनि कर उठा था। परन्तु, अभिजात वर्ग के सभी जन इस पर क्षुब्ध हो उठे। उसने एक निश्चय और भी किया था। उसने कभी अपने इस निश्चय की विधिवत् घोषणा तो नहीं की थी फिर भी अभिजात वर्ग के जन उसे समझने में असमर्थ नहीं रहे। वह पूर्णतः अवरोध में रहती थी। और देवी आम्रपाली के इस निश्चय को भंग करने की दिशा में श्रेष्ठियों अथवा सम्पन्न सामन्त जनों के एक एक कोटि कार्षापणों के प्रलोभन भी निष्फल सिद्ध हुए थे। अतएव, महाश्रेष्ठी इस समय क्या कुछ कह रहे थे, और उनका क्या कुछ प्रयोजन था; गणसंवाहक उस सभी को अक्षरशः समझ रहे थे। महाश्रेष्ठी का एक-एक शब्द उनके मर्मस्थल पर तीव्र आघात कर रहा था। परन्तु जिस निमित्त वह आए थे उस दिशा में भी वह पूर्णतः सचेष्ट थे। अतः सब कुछ ही तो वह केवल मौन भाव से सहन करते रहे। प्रकट में विनम्रता की सर्वथा साकार मूर्ति बन वह बोले—"महाश्रेष्ठी, वह निस्सदेह जीवन की एक भयंकर भूल थी। परन्तु, मेरी जिस अबोधता वश वह भूल हो गई क्या उसके लिए मुझे जीवन भर क्षमा नहीं किया जा सकेगा ?"

गणसंवाहक के नेत्रपलक ऊपर उठ महाश्रेष्ठी के मुख पर जा केन्द्रित हुए। उन्हें मर्माहत हुआ देख महाश्रेष्ठी ने अब प्रसंग बदलना ही उचित समझा। बोले—"सामन्त श्रेष्ठ, न जाने क्यों अब गणशासन अधिकारियों में इतना प्रमाद आ गया है। देखो तो, सुरक्षा प्रधान का पद गत कितने महीनों से रिक्त चला आ रहा है; परन्तु, गणाध्यक्ष राजा चेटक, महाबलाधिकृत सिंह सभी तो उस ओर से

उदासीन प्रतीत होते हैं। क्या उस पद के लिए अब महानगरी वैशाली में कोई भी योग्य युवक नहीं रह गया ?"

यह कह वह तनिक रुके ; और फिर तत्परता से अपना मुख गणसंवाहक के कानों के अत्यन्त समीप ला बोले—"बन्धुवर, अपने अभिजात समाज के कई वरिष्ठ जनों का तो यह मत है कि आयुष्मान अखण्ड को ही क्यों न उस पद पर नियुक्त कर दिया जाय। छः मास की अवधि बीत जाने पर फिर निर्वाचन हो ही जायेगा। क्यों, क्या आर्य की दृष्टि में वह पद आयुष्मान के योग्य नहीं है ?"

अखण्डदेव सामन्त भंजदेव का ही एक मात्र पुत्र था। परन्तु, आज जब इस प्रसंग विशेष में अनायास ही उसका नाम आया तो उसे सुन वह उल्लसित न हो सके ; उलटे व्यथित हो उठे। उनकी वह अन्तःव्यथा मुख पर भी स्पष्ट रूप में प्रतिबिम्बित हो उठी। अतः कुछ बोझिल कण्ठस्वर में बोले—"बन्धुवर, किसी भी क्षत्रिय कुमार के लिए यह तो सचमुच ही गौरव की बात होगी। जिस नगरी के ऐश्वर्य को देख स्वर्ग के देवता भी ईर्ष्या करें, उसकी रक्षा का भार जिस किसी भी क्षत्रिय कुमार को सौंपा जाय, भला उससे बढ़ कर सौभाग्यशाली और कौन होगा। पर महाश्रेष्ठी कदाचित् यह नहीं जानते कि आयुष्मान् अखण्ड कितना महत्त्वाकांक्षी है।'

महाश्रेष्ठी तत्परता से बोल उठे—"यह तो सामन्त श्रेष्ठ का निस्सन्देह ही उच्च कुल गौरवोचित सहज सकोच है ; अन्यथा आयुष्मान अपने सभी समवयस्कों से कहीं अधिक प्रतिभावान है। रही महत्त्वाकांक्षा की बात ; यह भी भला कोई अवगुण है। यह तो निश्चित ही एक दुर्लभ गुण है। फिर, अभी भला उसकी वयस ही क्या है। उदीयमान है, अतएव महत्त्वाकांक्षा का होना अनिवार्य है, और फिर आर्य, महत्त्वाकाक्षा भला किस में नही होती ? तनिक मेरी ओर तो देखो। पूरे अस्सी मधु-पर्व देख चुका हूँ ; फिर भी जब मेरा सार्थ पश्चिमोत्तर राष्ट्रों अथवा इधर पूर्व दिशा के द्वीपों से दस लक्ष कार्षापण अर्जित कर लौटता है तो उस समय मेरी इच्छा पूरे एक कोटि कार्षापणों के लिए बलवती हो उठती है।"

गणसंवाहक कुछ अधीर कण्ठस्वर में बोले—"परन्तु महाश्रेष्ठी यह महत्त्वा-कांक्षा कुछ ऐसी है जिसमें वैशाली की श्रीवृद्धि निहित है और दूर दिगंत में उसकी यश पताका फहराती है और वह··· ।"

गणसंवाहक का कण्ठस्वर सहसा अत्यधिक बोझिल हो, अवरुद्ध हो गया।

महाश्रेष्ठी सोचने लगे—'विपुल सम्पत्ति का स्वामी यह सामन्त भी सचमुच कितना अभागा है। सन्तान के नाम पर केवल एक पुत्र है और उससे भी वह प्रसन्न नहीं या फिर वही निर्भाग इसे प्रसन्न रखने में असमर्थ रहा है।' प्रसंगवश आए उसके नाम पर अपने मित्र को व्यथित हुआ देख महाश्रेष्ठी फिर विषयान्तर के लिए जैसे बाध्य हो गये। परन्तु खोजने पर भी जब उन्हें कोई निरपेक्ष दीखता प्रसंग नहीं मिला तो विवश हो मौन रखना ही श्रेयस्कर समझा।

इसके पश्चात् कक्ष में कुछ समय के लिए मौन छाया रहा। अन्ततः इस निस्तब्धता को भंग किया स्वयं गणसंवाहक ने। कदाचित् वह भी मौन बने रहते परन्तु सथागार सत्र के लिए पर्याप्त विलम्ब हुआ देख वह उस ओर प्रस्थान करने के

लिए व्यग्र हो उठे। फिर भी, प्रस्थान से पूर्व वह महाश्रेष्ठी से इस नवोत्पन्न स्थिति पर कुछ परामर्श कर लेना अनिवार्य समझते थे। महाश्रेष्ठी वैशाली के सुसंगठित अभिजात समाज के अधिष्ठाता थे, अतएव उनसे इस स्थिति विशेष पर वार्ता कर लेना और भी अनिवार्य था। बोले—"महाश्रेष्ठी को यह तो विदित ही है कि आम्रपाली विपुल सम्पत्ति की स्वामिनी थी ?"

महाश्रेष्ठी उत्साह का सा भाव दिखाते हुए तत्परता से बोल उठे—"हाँ भली भांति जानता हूँ सामन्त श्रेष्ठ।" यह कह वह तनिक रुके, फिर पूव से भी अधिक उत्साह के साथ बोले—"यदि आर्य की उसमें रुचि हो तो उसका अवश्य क्रय करें। मैं उसमें अवश्य ही यथासम्भव सहयोग प्रदान करूंगा।"

गणसंवाहक इस पर तनिक हंसते हुए बोले—"महाश्रेष्ठी ऐसी तो मेरी कोई रुचि नहीं। तो भी, आर्य ने सहयोग का जो आश्वासन दिया, वह निश्चित ही मेरा परम सौभाग्य है। परन्तु उसके क्रय की सामर्थ्य यदि वैशाली में किसी की है तो वह महाश्रेष्ठी के अतिरिक्त और कोई नहीं। केवल महाश्रेष्ठी ही तो उसके लिए योग्य पात्र हैं।"

महाश्रेष्ठी तनिक उपेक्षा का सा भाव दिखाते हुए बोले—"सामन्त श्रेष्ठ, उसमें तो मेरी लेशमात्र भी रुचि नहीं। कुछ भी हो मित्रवर, है तो वह एक गणिका की ही सम्पत्ति।"

"तो फिर उसमें क्या हुआ महाश्रेष्ठी ; आम्रपाली को अपनी इस सम्पत्ति का अधिकांश भाग तो अपने पिता नायक महानाम से ही उत्तराधिकार में मिला था। फिर बन्धु महाश्रेष्ठी, इसके अतिरिक्त एक बात और भी तो है। देश देशान्तरों में दास-दासियों के क्रय विक्रय से अर्जित धन राशि से भी क्या उसकी यह सम्पत्ति अथवा उपहारो में मिले बहुमूल्य रत्नाभूषण एवं मणि मुक्ता मालाएँ श्रेयस्कर न होगी। महाश्रेष्ठी, जानते हो उसका एक-एक रत्नाभूषण दस-दस सहस्र स्वर्ण कार्षापणों के मूल्य का होगा। देश देशान्तरो में जा कर यदि उनका विक्रय करो तो बस सर्वत्र कार्षापण ही कार्षापण समझो।"

रत्नाभूषणो का प्रसंग आते ही महाश्रेष्ठी के नेत्र जैसे उनकी आभा से दीप्त हो उठे। अन्तराल में कौशाम्बी जाने की कल्पना फिर उछांगे ले उठी। इस बार वह अपने मनोभाव को दबाने में पूर्णतः असमर्थ रहे। बोले—"सामन्त श्रेष्ठ, भला देवी आम्रपाली की कुल सम्पत्ति का मूल्य कितने कार्षापण होगा ?"

इतनी शीघ्रता से महाश्रेष्ठी का मत परिवर्तित होते देख गणसंवाहक हंसे बिना नहीं रहे। उन्मुक्त हास्य से उनकी शुभ्र दन्त पंक्ति दमक उठी। बोले—"परन्तु महाश्रेष्ठी इस मूल्यांकन की अब आप किंचित भी चिन्ता न करें। आपकी देवी आम्रपाली उसकी ऐसी अच्छी व्यवस्था कर गई है कि महाश्रेष्ठी को दासों के क्रय विक्रय से ही सदा-सदा के लिए निर्वाण मिल जाएगा।"

इस पर महाश्रेष्ठी ने साश्चर्य पूछा—"सो कैसे सामन्त श्रेष्ठ ?"

गणसंवाहक ने इसका प्रत्यक्ष उत्तर न दे कहा—"महाश्रेष्ठी, उसने अपनी आधी सम्पत्ति भिक्षुसंघ को दान भी कर दी है।"

"फिर भी आधी तो बची ही सामन्त श्रेष्ठ।" महाश्रेष्ठी ने मानों भारी सन्तोष का अनुभव करते हुए कहा।

गणसंवाहक ने इसका तत्परता से कुछ उत्तर न दे, मौन रखा। जैसे, कुछ सोच रहे हों। उन्हें इस प्रकार मौन देख महाश्रेष्ठी की उत्सुकता प्रगाढ़ हो उठी। उतावले मन से पूछने लगे—"और आधी सम्पत्ति का क्या हुआ आर्य ?"

महाश्रेष्ठी की इस उत्सुकता को देख गणसंवाहक खिलखिला उठे। बोले—"आधी महाश्रेष्ठी ? जानते हो, उसने आधी सम्पत्ति का क्या किया ? वह उसने अपनी उसी शिष्या दासी-कन्या को दे दी है जिसे उसने……।"

गणसंवाहक अभी आधी ही बात कह पाये थे कि महाश्रेष्ठी हतप्रभ हुए कुछ कहने को उद्यत हो उठे। परन्तु, इस बार उनका मुख केवल खुला ही रह गया। जिह्वा जैसे जड हो गई।

महाश्रेष्ठी की यह दशा देख गणसंवाहक एक उच्च ठहाका दे हँस पड़े; हँसते रहे। उनकी इस हँसी से सारा कक्ष भर गया; और फिर हँसते हुए ही संथागार की ओर चल पड़े। किन्तु दो एक पग चलने के पश्चात् रुक रहे। पर, इस क्षण उनके मुख पर अट्टहास की फूहड हँसी नही वरन् पदोचित गाम्भीर्य था। उसी गम्भीरता के कण्ठस्वर में बोले—"महाश्रेष्ठी देखा, इस महानाम कन्या ने वैशाली के सन्मुख कैसी जटिल समस्या उत्पन्न कर दी है। हमें उस पर विचार करना ही होगा। अतः यदि आज रात्रि मे ही समाज के अन्तरंग सदस्यों की गुप्त मन्त्रणा हो तो कैसा है?"

महाश्रेष्ठी उत्तर में बोले—"सामन्त श्रेष्ठ क्या यह भी पूछने की बात है!"

गणसंवाहक ने फिर प्रश्न किया—"और महाश्रेष्ठी स्थान के लिए मेरा आवास कैसा रहेगा ?"

महाश्रेष्ठी ने उत्तर में कहा—"निश्चित ही वह उचित रहेगा आर्य।"

"तो फिर सब सदस्यों को सूचना देना अब आपका कार्य है।"

गणसंवाहक के पीठ देते ही महाश्रेष्ठी की शून्य दृष्टि में घृणा की तिक्तता उभर आई। फिर, उसी दृष्टि से वह गणसंवाहक की ओर देखते रहे। गणसवाहक आँखों से ओझल हो गए परन्तु उसके पश्चात् भी वह महाश्रेष्ठी की आँखों में टिके रहे; कुछ सोचते भी रहे।

तीन

और, टन्न...टन्न का गम्भीर स्वर टंकारता गण संथागार का भीमकाय कांस्य घड़ियाल तीन बार बज उठा।

ग्रीष्मकाल की इस बेला में और दिनों, गण महानगरी की एक वीथी विशेष निर्जीव-सी मानों सोई पड़ी रहती थी। परन्तु आज उसमें निरन्तर बढ़ते आ रहे जन प्रवाह के कारण गति है तथा उस गति के कारण कोलाहल भी। कोलाहल सुन शयन कक्षों में विश्राम करती वारागनाएं चौंक-सी गईं। हड़बड़ा कर वे न केवल शय्याओं से उठ खड़ी हुई वरन उसी अर्द्धनग्न अवस्था में अपने अस्त-व्यस्त वस्त्रों को समेटती-सी गवाक्षों की ओर दौड़ लीं। और फिर, कौतूहलवश छज्जों पर आ बैठीं।

पौरजनों का प्रबल प्रवाह इस समय अबाध गति से पश्चिम दिशा की ओर अग्रसर था।

सागर में उफनते ज्वारों की भांति जन-समुदाय प्रतिक्षण ही अधिकाधिक आवेग के साथ उमडता दीख रहा था। उन्होने अपनी इस वीथी में दिन के समय इससे पूर्व इतनी भारी संख्या में पौरजनों को आते कदाचित् ही देखा होगा, अतः उन सभी को कौतूहल का होना स्वाभाविक था। छज्जे पर बैठे-बैठे ही, उन्होने विस्मय से वीथी के आर-पार परस्पर एक दूसरे की ओर देखा। उनके मुख पर क्षण-क्षण के अन्तर से विविध भाव-भंगिमाएं क्रीड़ा करने लगीं। नेत्रों को नचा, ओष्ठों को तनिक बिचकाते हुए उन्होने उस जन-प्रवाह की ओर देखा, जिसे इस समय उनकी ओर देखने तक का भी, जैसे अवकाश नही था। रसिक पौरजनों की इस वीतरागता पर वे यदाकदा खिलखिला भी उठतीं। इस पर जन-प्रवाह में बहे जा रहे इक्के-दुक्के व्यक्ति की दृष्टि हठात् उस ओर उठ जाती; पर, साथ ही, अवसर बोध की लज्जा से नत हो रहती।

और, इसी वीथी के बीच ही गणकल्याणी, नगर शोभिनी, कला की अधिष्ठात्री देवी आम्रपाली की वैभवशालिनी, नीलवर्णा, सप्तखण्डीय उच्च अट्टालिका गर्व से ग्रीवा ऊपर उठाये खड़ी थी। और, स्वर्ण कलशों से युक्त, कला-कुल गौरव आभा से दीप्त उसके उन्नत ललाट पर इस समय भी एक कासिक कौषेय धवल पताका पवन झोंकों से गुदगुदा मानों देवी अधिष्ठात्री के कला कौशल का यशगान गुनगुना रही थी।

केवल कल तक ही तो इसी अट्टालिका के विस्तृत प्रांगण में नित्य, सन्ध्या बेला में, वैशाली का नृत्य समाज जुडा करता था। उसमें न केवल नगर का अभिजात वर्ग एवं जन साधारण समान रूप से सम्मिलित होता था; वरन् दूर दिगंत से सामन्त, श्रेष्ठी एवं कला रसिक जन भी इस ओर खिचें चले आते थे। गत संध्या ही तो

सोपारा जलपत्तन के महाश्रेष्ठी सुप्पारक ने उसके चरणों पर अपने बहुमूल्य मणि-मुक्ता कण्ठाहार को अर्पित कर, अभिभूत कण्ठ से कहा था—"कला देवी ! मेरे विकट अभियानों की विजय पर प्रसन्न हो स्वयं समुद्र-देवी देवी मणिमेखला ने एक नहीं अनेक बार मेरे इन नेत्रों के सम्मुख नृत्य किया है। परन्तु वे सभी काल्पनिक ही तो रहे। देवी ! और उन्हें आज मैं यहाँ साकार रूप में देख सचमुच धन्य हो गया हूँ।"

सुप्पारक ने कल इसे अपना केवल एक सुयोग ही समझा था। परन्तु, वैशालिकों के सम्मुख तो वह प्रतिदिन ही प्रस्तुत होती थी। तथापि, उसका नृत्य नूतनता लिए होता। प्रतिदिन सध्या बेला में जिस क्षण वह शुभ्र, हिमधवल, झीने परिधान में, रत्न-जटित कर्णाभूषण, बाहु अंगद, कटि मेखला एवं दीप्त मणिमुक्ता हार आदि अलंकारों से अलंकृत हो, नूपरों की धीमी, सहज, तालपूर्ण थापों एवं सरस झंकार के मध्य हंस युगल की सी मंद गति से दर्शनोत्सुक समुदाय के सम्मुख प्रकट होती तो सारा प्रांगण उस समय हर्षातिरेक की तुमुल ध्वनि से गूंज उठता। और फिर, उसी उत्साह के प्रवाह में प्रर्याप्त समय तक गुँजायमान रहता।

फिर, इस तुमुल ध्वनि के मंद होते ही जब वह सुरचित नृत्य मंचिका पर सम्हल-सम्हल कर डग रखती सी, अपनी लम्बी फैली सुगोल अरुणिम भुजाओं पर श्वेत उत्तरवस्त्र.के पल्लों को फैलाती-सी, उन्मन भाव से आगे बढ़ती; तो मंद गति से प्रवाहित होते वायु के झोकों का स्पर्श पा वे फरफरा उठते। तत्क्षण वह ऐसी प्रतीत होती कि ऊपर नभ-मण्डल मे पूर्णेन्दु के चारो ओर गतिमान निर्मल धवल रूई-गालो सदृश बादलों के गर्भ से प्रसूत कोई देव कन्या अपने श्वेत पंखों के सहारे, नीचे, इस भूतल पर अवतरित हो रही है। दर्शक समाज चित्रलिखा-सा उस ओर निहारता रहता, निहारता रह जाता तथा अन्त में सहसा उसके मध्य हर्ष की एक प्रगाढ़ लहर दौड़ जाती। साथ ही , 'साधुवाद-साधुवाद' अथवा 'अनुपम-अनुपम' की मृदुल ध्वनि से सारा नभ-मण्डल अनुप्राणित हो जाता।

तत्पश्चात् वह कलाप्राण, सस्मित वदन, अंजलिबद्ध हो दर्शक समाज के सम्मुख अभिवादन के लिए प्रस्तुत होती। तब, अन्तस के विनीत भाव से अवनत लतिका सदृश उसकी सुकोमल कांचन देह विशेष ध्यान देने योग्य होती। अभिवादन की मुद्रा में उसकी कटि रेखा पर उसका ऊर्ध्व भाग पुष्पभार से झुकी मालती वल्लरी की भाँति अवनत हो रहता, और उसके अन्तर का सारा विनीत भाव मानों साकार रूप में प्रस्तुत हो; दर्शकों के अन्तस्तल का स्पर्श कर जाता। इस सारी अवधि वे श्वास रोके इस भय से उसकी ओर देखते रहते, कि, कहीं, उसका अधोमुख ऊर्ध्वभाग, लतिका विच्छिन्न पल्लव की भाँति नृत्य मंचिका पर न आ गिरे। बैठे-बैठे ही वे उसके सुकोमल अवयवों को अपनी प्रसारित बाहुओं में सम्हालने के लिए उद्यत हो उठते ; परन्तु फिर शीघ्र ही सावधान हो, दर्शक समाज मृदुल कण्ठों से "धन्य-धन्य" का उच्चारण करता, नतमस्तक होता, उसके इस विनम्र अभिवादन को स्वीकार कर उठता। इसी मध्य, मृदंग पर एक जोर की थाप पड़ती, जिसकी ध्वनि के इंगित पर वह सहसा, हरिणी की सी चपलता से सम्हल, खड़ी हो जाती। और इस अभिनय विशेष से, सहसा उसके ग्रीवा भाग पर जो एक नचका सा लग रहता, उससे सिहर उसका सुग्रथित, श्यामल-

स्निग्ध केशों का जूड़ा सहसा विखण्डित हो, कतिपय अलकों में छिटक, रत्नाभा से दीप्त कर्ण कुण्डलों के आस-पास मण्डराने लगता। नितम्बों का स्पर्श करती उसकी लम्बी, काली, बल खाती, मुख्य वेणी एवं शीर्ष पर थिथरी श्यामल अलकों के मध्य उसका गौर, आभा दीप्त मुख मण्डल ऐसा प्रतीत होता मानों वर्षाऋतु में नभ पर तैरते सघन, कारे-कजरारे मेघों को छिन्न-विछिन्न करता शशांक सहसा बाहर खिसक आया हो। और उसके किसलय ओष्ठों पर मुस्कान की एक निर्मल रेखा सी खिच रहती।

मृदंग पर फिर एक थाप पड़ती। और, उसी के साथ इस बार वीणा के तार झंकृत हो उठते। बेला के हृदय से भी करुण स्वर में कोई मदमाता राग फूट निकलता तथा फिर उसके साथ शेष वाद्य भी परस्पर स्वर-ताल मिलाते हुए उसमें सम्मिलित हो जाते। देवी आम्रपाली के सहज रूप मे थिरकते पैर तथा उनमें बंधे किंकण शनैः-शनैः नृत्य को गति देने लगते, वाद्य वृन्द से प्रस्फुटित स्वरों के आरोह-अवरोह के साथ गति में प्रवाह आता चलता तथा उसी के साथ-साथ दर्शक समाज का मनमयूर भी आनन्दोच्छ्वास से तरंगित होने लगता। किंचित् समयोपरान्त जब नृत्य अपने पूरे प्रवाह वेग मे आता तो देवी आम्रपाली की थिरकती छरहरी देह शुक्ल पक्षान्त में पवन के झोकों के साथ क्रीड़ारत ज्योत्स्ना रेखा के समान प्रतीत होने लगती। झीने परिधान में से उसकी रूप छटा छिटक-छिटक स्वच्छन्द रूप से दर्शकों के सम्मुख बिखर जाती। और, अन्त में, विद्युत गति से होता उसका अवयव चालन कटिप्रदेश पर आकर केन्द्रीभूत हो रहता। दोलायमान नितम्बों के चंचल गति क्रम से उसका रोम-रोम स्फरित हो, उसके अग-प्रत्यंग को स्पन्दित कर देता। तब, नृत्य और गतिमान होता चलता।

फिर, श्रमाभिभूत उसका एक-एक अंग अधिकाधिक मुखरित हो दर्शक समाज के सम्मुख प्रस्तुत होने लगता। कपोल पहले से भी अधिक अरुणिम हो उठते। उसके मस्तक और नासिकाग्र भाग पर स्वेद कण उभर आते। ओष्ठ तरल हो रहते। और, फिर अपनी ही रूप सुषमा पर मानों प्रसन्न हो नेत्र मन्द-मन्द मुस्करा देते। तब केशपाश पर अटका शुभ्र पुष्प भी अपने स्थान से खिसक, उसके चरणों में आ लेटता। और, इस सारी अवधि नृत्य का गतिक्रम और भी अधिक वेग से चलता रहता।

अन्ततः, स्वेदकण एक प्रवाह में ढुलक, भ्रू रेखाओं को पार कर, कपोलों पर उतर, यत्र तत्र बिखरी अलकों को सिंचित करते से—ओष्ठ कोरो पर सहम—स्थिर हो रहते; तो तब यही प्रतीत होता कि उसकी रूप-सुषमा, लावण्य-प्रभा से प्रभावित हो, स्वय कामदेव ने उसे नववधु रूप में संवार, संवार कर बस देखते दिखाते रहने भर का कठोर व्रत लिया है। उसकी सघन, श्यामल, शीर्ष केश छटा के मध्य प्रदीप्त आमस्तक सींथी, कसौटी पर खिची कान्तिमान स्वर्ण रेखा की भाँति दर्शकों को सहज ही में अपनी ओर खीच लेती।

और जब नृत्य प्रवाह के पूर्ण वेग के मध्य मृदंग पर सहसा पड़ी एक जोर की थाप के साथ नृत्य देवी सहसा थिरक, स्थिर हो जाती तो सारा प्रांगण "साधुवाद-साधुवाद" के मदुल कोलाहल से गूज उठता। और फिर, दर्शक समाज मन्त्र मुग्ध हुआ सा,

उसके रूप-लावण्य को मन ही मन सराहता, उस पर पुष्प पंखड़ियों की वर्षा कर देता।

झीनी कौषेय शाटक में से पारदर्शित होती उसकी गौरवर्ण, स्फटिक जंघाएँ संवरे, कटे-छटे स्निग्ध कदली स्तम्भ की भाँति प्रतीत होतीं।

कुछ समय पूर्व ही खिचित केशों से उसके उचके-उचके अवयव अब नृत्य थकित होने पर शिथिलता वश कुछ नया ही रूप ग्रहण कर लेते। वक्षस्थल पर कसा सचेष्ट कौषेय पट्ट भी अंग चालन के कारण अपने स्थान से कुछ खिसक रहता। और तब, उच्छ्वास-निश्वास के गतिक्रम में सिमटते-उभरते उरोज युगल से सहसा जो सलिल रस-धार-सी फूट निकलती, और फिर वह दर्शक वृन्द की दत्तचित्त दृष्टि का स्पर्श कर आगे बढ़ती, तो सभी के ओष्ठ आनन्दातिरेक का रसास्वादन कर तरल हो उठते।

देवी आम्रपाली के नृत्य कौशल के प्रति समुचित समादर भाव होते हुए भी सभी आबाल-वृद्ध वैशालिकों के हृदय उसकी कमनीय देह तथा उस पर उभरे हुए उरोज युगल को अपने आलिंगन पाश मे समेटने के लिए तरुणित हो उठते। उसके किस-लय ओष्ठों के पराग पर उनके मन भ्रमर की भाँति मण्डराने लगते। तब वे उसकी नित नूतन यौवन छटा से पराभूत हो, कल्पना तरंग में, उसके चिबुक को तनिक ऊपर उठा, क्रीडा रत हो उसके रक्तिम कपोल पर एक हल्की सी चपत लगाते; और फिर, मन ही मन 'देवी तुम सचमुच कितनी सुन्दर हो' कहते हुए उसके नेत्रों में झाँक उठते। और फिर वे उस रूपसा के स्थिर नेत्रों में उभरी मादकता का अवलोकन कर उस पर उन्मत्त हुए बिना न रहते। परन्तु, देवी आम्रपाली केवल अंगुलि के इंगित पर सदा ही, सभी को, दूर रखती।

दर्शक वृन्द पर उसका सदैव दृढ़ आदेश चलता था। और कदाचित ही कभी, किसी ने, उसके निकट आने का साहस किया होगा।

कला की अधिष्ठात्री, गणनर्तकी, रूपसा देवी आम्रपाली के केवल नृत्य समाज में ही नही वरन समूची अट्टालिका की विस्तृत परिधि मे अनुशासन का दृढ़ता स पालन होता था। तथापि, वह सभी की हृदयप्रिया थी।

रूप और गुणों के कारण वैशाली समाज में उसका विशिष्ट स्थान था। वह रथ अथवा शिविका आरूढ़ हो जिस किसी भी नगर भाग से निकल जाती, दर्शन की इच्छा से पीछे-पीछे भागती जन साधारण की भारी भीड़ तथा उसके सोत्साह कण्ठों से उच्च स्वर मे निकले जय-जयकार, यह सारा दृश्य सहज ही में एक शोभायात्रा का रूप ग्रहण कर लेता।

अतः, आज जब पौरजनों ने यह सुना कि उनकी हृदयेश्वरी ने राग-रंग एवं कलाधर्म का परित्याग कर वैराग्य मार्ग का अनुसरण किया है तो उनके नेत्रों के सम्मुख जैसे निराशा का अन्धकार छा गया।

बौद्ध भिक्षुणी बनने से पहले वे कम से कम एक बार और, जी भर कर, उसकी रूप छटा का दर्शन कर लेने को आतुर हो उठे।

सप्तखण्डीय अट्टालिका का जो मुख्य प्रवेश द्वार सन्ध्या समाज के अतिरिक्त सदा ही बन्द रहा करता और किसी के लाख सिर पटकने पर न खुल पाता था, आज

वही, इस मध्याह्न बेला में उन्मुक्त भाव से मानों अपनी लम्बी भुजाएँ फैला, खिन्न मन वैशालिकों को अपने आलिंगन पाश में समेटने के लिए आतुर हो उठा।

घोर प्रतीक्षा के पश्चात् अन्त में तथागत भिक्षु मण्डली से घिरे मुख्य द्वार से बाहर निकले। दर्शन आतुर जन समुदाय में हर्ष की लहर दौड़ गई; और असंख्य कण्ठों से निकला, गगन को प्रकम्पित करता जयघोष गूंज उठा।

ज्येष्ठ मास की कड़ी धूप इस तीसरे प्रहर में भी अपने प्रचण्ड रूप में थी। साधारणतः किसी भी व्यक्ति के लिए उसमें बाहर निकलना असम्भव था। किन्तु सभी उसकी किंचित्मात्र भी चिन्ता न कर उत्साहोच्छ्वास का अनुभव करते हुए खड़े थे। इस समय सभी की दृष्टि एक बिन्दु पर, ऐसे बिन्दु पर जिसमें कि मानों अनन्त लहरा रहा हो, स्थिर थी। निष्पलक हो वे, सम्मुख की अलौकिक रूप छटा को निहार रहे थे। बृहत भिक्षु समुदाय के मध्य तथागत की मुख आभा उसी प्रकार प्रतीत हो रही थी जैसे वैशाख पूर्णिमा की रात्रि का पूर्ण चन्द्रमा मेघोन्मुक्त, निर्मल, नीले नभ वितान पर यत्र-तत्र छिटके तारकगण के मध्य अपनी आलोक छटा के साथ शोभित होता है। उनकी भव्य सौम्याकृति एवं प्रबुद्ध शीर्ष-शिराओं से प्रस्फुटित ओजपूर्ण तथा स्वर्णिम रेखाएं, तथा फिर, उनसे स्वतः सृष्ट वृत्ताकार प्रभामण्डल से उद्भूत आलोक किरणों ने जब नयन मार्ग से दर्शक जन-गण मन के अन्तः छोर का स्पर्श किया तो उनसे उनकी भवबाधा उसी प्रकार नष्ट विनष्ट हो उठी, जैसे, शुक्ल पक्षान्त की संध्या बेला में, प्राची दिशा में नवोदित नभ-शोभा शशांक इधर दिवस की तपस और उधर आगत रात्रि के अन्धकार को अपने अन्तर में समेट, समूचे भूमण्डल पर शीतल प्रकाश की स्वर्णिम कण-कणिकाएँ छिटका देता है।

सभी के मुख रात्रि में खिले कुमुद पुष्प की भाँति मुखरित हो उठे।

सहसा, नागरिकों की दृष्टि बलात पीछे-पीछे आती भिक्षुणियों पर जा टिकी। शास्ता के पीछे लगा भिक्षुणी सार्थ इस भीषण ग्रीष्म में भी निपट नग्न पैरों तप्त वीथी मार्ग को विश्राम भाव की सी मन्द गति से मापता आगे बढ़ता चला जा रहा था। उनके केश-विहीन नग्न-शिरों पर आकाश की ओर से चटकारें लेती प्रचण्ड सूर्य-किरणें फूत्कार रही थीं। परन्तु उस ओर भी जैसे उनका कोई ध्यान नहीं था। वे तो केवल वैराग्य की साकार मूर्ति बनीं, सर्वथा अविचलित रह, निर्द्वन्द्व भाव से, निश्चय की दृढ़ता के साथ बस आगे बढ़ी चली जा रही थीं। जैसे, उन्होंने जो कुछ भी कठोर व्रत लिया था, उसके प्रभाव में उनका न तो उन फूत्कारो से ही कोई सम्बन्ध था और न ही उस कौतूहल से, जो, इस समय तक दर्शक नागरिकों की दृष्टि में इन कोमलांगियों को देख-देख स्थिर हो गया था। नागरिक गण विस्मय से निष्पलक हुए उनकी ओर देखते रहे; देख रहे थे उन पीत चीवरों को, जिन्होंने उनकी रूप गर्व स्फुरित सभी भाव भंगिमाओं और मनोभावनाओं को समेट केवल वीतराग के प्रति अन्तर्मुखी कर दिया था, और, इस प्रकार, पटाक्षेप हो गया था उनके उस जीवन अध्याय पर जो कभी राग-रंग से ओतप्रोत रहा होगा। नागरिकगण मन ही मन आर्तनाद कर कह उठे—'अरे, ऐसा क्या था वह भाव द्वन्द्व, जिसने इन सभी प्रासाद शोभिनियों को सहज ही में वैराग्य पथ की ओर धकेल दिया; और कैसा है रे यह

अलौकिक तथागत-धर्म, जिसने इन्हें आश्वस्त कर इस दुर्दम एवं कठोर मार्ग का पथिक बना लिया।

और, इसी मध्य किसी दर्शन विशेष के लाभ से उल्लसित हो, जैसे किसी कंगाल को यों ही कोई पड़ा हुआ बहुमूल्य रत्न मिल गया हो, नागरिकगण उत्साह आवेग से एक दूसरे की ओर देख उठे। जैसे नेत्रों के इंगित से एक दूसरे से पूछ रहे हों—'भद्र ! भला पहचाना, वह देवी साध्वी कौन है ?'

देवी महाप्रजापति गौतमी कपिलवस्तु के राजप्रासाद के सुख वैभव को त्याग इस भीषण गर्मी में अपने पुत्र राजकुमार के पीछे-पीछे मानों कुछ इसी आशा से चली जा रही थी कि शायद वह उसे अब भी मना प्रासाद की ओर वापस लौटने को राजी कर ले। किन्तु, इस क्षण उसके मुख पर न तो कोई गर्व गरिमा का ही भाव था और न वात्सल्य की ही तरलता; केवल एक सौम्य भाव था और सौम्य भाव की वह तटस्थता, जिसमें सभी शेष सम्बन्ध केवल अशेष बन कर रह जाते हैं। फिर भला, भिक्षु-भिक्षुणी समुदाय के इस लहराते सागर में सद्य दीक्षित देवी आम्रपाली का ही क्या अस्तित्व शेष रह जाता ?

किन्तु, देवी अधिष्ठात्री तो गत संध्या तक भी कला रत रही थी। सदैव की भाँति कल भी उसके कला प्रांगण में नृत्य-समाज लगा था और वह, दीपालोकित मंच पर अवतरित हुई थी। मंच नूपुरों की झंकार से झंकृत हुआ था और रात्रि का उदास तिमिर भी उसकी नृत्य मुद्राओं, भाव-भंगिमाओं को देख आनन्दोच्छ्वास से स्फुरित हो उठा था। अतः जिन नागरिकों ने गत रात्रि तक ही नृत्य देवी के कला कौशल से अभिभूत हो, उन्मुक्त कण्ठ से 'साधु-साधु' एवं 'धन्य-धन्य' कह उसका अभिनन्दन किया हो, उसके केवल कुछ प्रहर पश्चात् ही उस देवी को विरक्ति के इस रूक्ष रूप में देख, भला, उनके मुख पर विषाद की प्रगाढ़ रेखा छाए बिना कैसे रह जाती ?

उसे मुण्डित शीर्ष देख समूचे जन गण का अन्तराल विवशता से सिहर, क्षुब्ध हो उठा। परन्तु स्वयं देवी आम्रपाली की मनोदशा इस समय कुछ और ही थी। उसे इस रूप में देख जन गण के हृदय पर भला क्या बीत रही होगी, इस ओर जैसे उसका ध्यान ही नहीं था। उसका जो कुछ भी अवशिष्ट अस्तित्व रहा था, मानों वह उसी को अधिकाधिक अस्तित्वहीन करती, नग्न पैर, पैदल ही, मन में यदि भूल से भी कोई आकांक्षा शेष रह गई हो, उसे, अन्तर और बाहर की पूरी शक्ति से रौंदते तप्त वीथी मार्ग पर शेष भिक्षुकी समुदाय के साथ आगे बढ़ी चली जा रही थी। और, वीथी में उमड़ता जन समुदाय व्यग्र-भाव से उसकी ओर निहार रहा था। परन्तु उसे भला आज इतना अवकाश कहाँ था कि वह एक क्षण को भी दृष्टि उठा उस ओर देख लेती। किन्तु, दर्शक गण उसके इस उपेक्षा भाव के पश्चात् भी उसका जय-जयकार कर उठे। और दिनों वह उनके इस जय-जयकार पर अपनी स्वर्णिम मुस्कान बिखेर देती थी; किन्तु आज उसने उसे सुनकर भी जैसे अनसुना कर दिया। मन ही मन कह उठी—'आम्रपाली, यही तो वह मोह माया और ममता है जिस पर तुझे विजय पानी है।' वह केवल तटस्थ भाव की साम्यगति से आगे बढ़ी चली जा रही थी। मानों,

किसी ने उसके अन्तर में कहा—'आम्रपाली, शिष्टता वश ही उस ओर देख लो।' परन्तु उसने उससे भी अधिक दृढ़ता से मन ही मन कहा—'शिष्टता तो आडम्बर है; और शाक्य पुत्र का धर्म आडम्बर हीन है।'

किन्तु, नागरिकों की दृष्टि पूर्व से भी अधिक भाव विह्वल हो उसे देखते रहने को उद्यत हो उठी। वे मन ही मन सोचने लगे—'देवी अधिष्ठात्री जो कल थी, वह आज नही रही, और जो आज है कल वह भी नहीं रहेगी, वह रहेगी अवश्य पर हमारी स्मृति में; दृष्टि में तो केवल अशेष बन कर रह जाएगी।' यह सोचते-सोचते उनका हृदय विवशता से मानों फटने-सा लगा। परन्तु नृत्य देवी का भला अब किसी भी भाव उद्वेग से क्या सम्बन्ध शेष रह गया था। यदि रह भी गया था तो बस वैराग्य के उस कठोर व्रत से, जिसके वशीभूत हो, वह दग्ध घाम में और इस सारी हलचल, कोलाहल के मध्य केवल एकान्त का अनुभव करती आगे बढ़ी जा रही थी। उसका मुख स्वेद जल प्लावित हो उठा। परन्तु उसकी भी उसे कोई चिन्ता न थी। किन्तु, स्वेद जल से स्वत: प्रक्षालित उसका मुख द्विगुणित मुखरित हो दर्शकों की दृष्टि में स्थिर हो उठा, और स्थिर हो उठा उनकी अभिभूत दृष्टि में वह काला तिल, जो उसके अरुणिम, ओज दीप्त कपोल पर इस क्षण भी विद्यमान था। किन्तु इस समय तो वह उसकी कभी-लहराती अनन्त-रूप-राशि पर मात्र शून्य बन कर रह गया था; और अशेष बन गया था उसका वह कला समृद्ध जीवन, जिसकी यशपताका अभी भी लुओं के प्रबल थपेड़ों के साथ वैशालिकों के हृदय पटल पर फहरा रही थी।

उनके नासिका रन्ध्र अब भी देवी आम्रपाली की सुकोमल देह से निरन्तर फूटने वाली आम्रमंजरी सदृश भीनी-भीनी गन्ध से सुवासित हो रहे थे, और उस सुवास से उनके मन-भ्रमर मदमस्त हुए जा रहे थे। किन्तु जिस क्षण भी उन्हें सहसा वस्तु-स्थिति का स्मरण हो आता उनकी मुख आभा मलिनता हो उठती, और पराभवकी खिन्नता छा जाती। अंत:पीडा मे कराह वे कह उठे—'देवी! यह तो वैराग्य नहीं निष्ठुरता है। निष्ठुरता नहीं तो भला और क्या है?'

चार

सिंहध्वज लहराता गणसंवाहक का विशाल भद्र वाहन मध्य मार्ग में ही रुक, खड़ा हो गया।

वीथी मुख के बाहर मुख्य राजपथ के पूरे आकार-प्रकार पर आच्छादित सघन भीड़ को देख वह अपने गरुड रथ से नीचे उतर पैदल ही संथागार की ओर हो लिए। किन्तु, अभी कुछ दूर ही चले थे कि उनका पैदल चलना भी असम्भव हो गया। तब विवश हो उन्होंने वहीं भीड के मध्य ही खड़े रह, प्रतीक्षा करना श्रेयस्कर समझा।

वयस की दृष्टि से गणसंवाहक अब तक निश्चित ही पूरे अस्सी मधुपर्व देख चुके होंगे। फिर भी, उनकी सुडौल देह ने कदाचित् ही कहीं से बल खाया था। ऊंचा डील-डौल, गौर वर्ण, श्वेत सघन श्मश्रु केश आच्छादित भारी भरकम मुख, उन्नत ललाट, उठी हुई नासिका, विशाल वक्ष, ज्योतित नेत्र और उनमें से प्रतिबिम्बित होता उनके अंतस् का कुल गौरवाभिमान; फिर उस पर छाया हुआ उच्च पदाधिकार का मद; यदि वह सहज दृष्टि से भी किसी की ओर देख लेते तो न चाह कर भी उसका शिर नत हुए बिना न रह पाता। फिर वैसे ही, उनका अपने कुछ विशिष्ट गुणों के कारण वैशाली में क्या कुछ कम सम्मान था? तो भी, उनका यह प्रभावोत्पादक व्यक्तित्व इस समय प्रतीक्षातुर पौर जनों का ध्यान अपनी ओर आकृष्ट करने में सर्वथा असमर्थ रहा। वास्तव में, इस क्षण सभी की दृष्टि सम्मुख दिशा से वीथी मार्ग पर आते तथागत एवं उनके भिक्षु समुदाय पर स्थिर थी।

सामन्त भंजदेव ने भी जैसे इस ओर विशेष ध्यान नहीं दिया। प्रकट में, स्पष्ट ही, उनके मुख पर प्रगाढ़ शान्ति व्याप्त थी। किन्तु नेत्र दृष्टि? वह विचारों के उठते उफान अथवा समस्या की गहनता में उलझ, कुछ खोई-सी प्रतीत हुई।

सहसा, अंतस् में उठी एक सावेग हिलोर के साथ वह सोचने लगे—'भंजदेव इस जन-साधारण को तो देखो, जिसका न तो कोई धर्म है और न कोई आस्था भाव ही। एक बार जिधर मुख उठ गया न, वे बस उसी ओर दौड लिए। आज यदि यह शाक्यपुत्र गौतम यहाँ है तो उसी का जय-जयकार कर उसके पीछे भाग लिए। और यदि कल यहाँ महाभाग वर्द्धमान महावीर आ जाएँ तो? तब वे उनके दर्शन को भी ऐसे दौड़ पड़ेंगे, जैसे उनकी आस्था का अवलम्ब बस वही हैं। भला कोई इन अल्पबुद्धि नागरिकों से यह तो पूछे, अरे मूर्खो, क्या भिक्षु संघ में एक गणिका को प्रविष्ट करने के पश्चात् भी इस तथागत के सद्धर्म का कोई गौरव शेष रह गया है? मूर्खो, जिस आम्रपाली की सम्पत्ति का क्रय करने की बात सोचते हुए एक बारगी महाश्रेष्ठी

मणिरत्न भी संकोच का अनुभव कर उठता है, उसी सम्पत्ति को इस भिक्षु संघ ने सगर्व स्वीकार कर ऐसे उदरस्थ किया है, जैसे वह सर्वथा निर्विकार हो। धन्य है यह सद्भ्रम और धन्य है जन-साधारण का यह निरपेक्ष आस्था भाव।'

इसी मध्य लहराते जन-सागर में उद्वेलित एक ज्वार की लहर उनसे आ टकराई। उसके प्रबल आघात से उनकी न केवल विचार तद्रा भंग हुई, व रन् वह गिरने से भी किसी प्रकार बच सके। केवल दैव संयोग से ही अपने को सम्भाल सके। दर्शक समुदाय की इस उन्मत्तता अथवा अपनी ही इस दयनीय स्थिति पर खिन्न हो, वह हल्के से हंस भी दिए।

तथागत का भिक्षु सार्थ इस समय तक वीथी को पार कर मुख्य राजपथ पर आ चुका था; और, वीथी में खड़ा जन-समूह सोत्साह अपने को धकेलता, परस्पर टकराता तथागत एवं भिक्षु वृन्द के पीछे-पीछे भाग रहा था। इधर, मुख्य राजपथ के विपुल विस्तार पर दर्शनोत्सुक पौर जनों की विशाल भीड़ खड़ी ही थी। वीथी वाली भीड़ को इसमें समाविष्ट होते देख ऐसा प्रतीत होने लगा, मानो समतल भूमि को जलप्लावित करता कोई महानद अब उच्छांगें लेती उत्तुंग हिलोरों के साथ किसी अनत सागर में प्रविष्ट हो रहा हो।

उत्साह आन्दोलित सघन भीड़ में से भारी कोलाहल फूट निकला। जन-पंक्तियाँ भी विशृंखलित हो उठी। इस अव्यवस्था को देख तथागत समेत भिक्षु वृन्द ने अपनी चारिका की गति धीमी कर दी। साथ ही मृदुल कंठ से प्रस्फुटित "बुद्धं शरणं गच्छामि, धम्मं शरणं गच्छामि, सघं शरणं गच्छामि" का मन्द स्वर पाठ भी गूंज उठा। उसे सुन जन समुदाय भी स्थिर चित्त से यथा स्थान ही खड़ा हो गया। सर्वत्र महासागर में उठे ज्वार के पश्चात् की प्रगाढ़ शान्ति छा गई, जिसमें अब त्रिशरणं का सौम्य स्वर गूंजता रहा।

किन्तु गणसंवाहक इस समय चकित हुए से एक दृश्य विशेष को देखने में तल्लीन थे। पर्याप्त समय से उधर ही लगी अपनी दृष्टि को ऊपर उठा वह कुछ कहने को उद्यत ही हुए थे कि उससे पूर्व ही उनके मुख से एक भारी श्वास निकल चारों ओर के उच्छ्वसित वातावरण में फैल गई। फिर जैसे अपने को ही सुनाते हुए वह बोले—'अब समझा राजा चेटक, अब समझा; अन्यथा, आम्रपाली का यह दुस्साहस कदापि न होता।'

भिक्षु सार्थ के पीछे-पीछे केवल गणाध्यक्ष राजा चेटक ही नहीं वरन् महाबलाधिकृत सिंह सेनापति, विनिश्चय महामात्य रिपुदमन, महापौर श्रेणिय रत्न एवं कोष्ठागारिक सुव्रत को आते देख उनकी भृकुटी तन गई। साथ ही आम्रपाली द्वारा एक दासी कन्या को प्रदत्त उत्तराधिकार का स्मरण कर उनके माथे पर बल पड़ गए। तथागत की ओर वह केवल तिरस्कार की ही दृष्टि से देख सके। भिक्षु समुदाय को देख कर तो उनका हृदय जैसे घृणा से ही भर गया।

उनका दुराग्रह भाव प्रबल हो उठा। अंतर में उठते विचारों के आवेग में उनका तिक्त स्वर सहसा ध्वनित हो, जोर से कह उठा—"शाक्यपुत्र! भला यह कैसे संभव है?"

यह सुन निकट खड़े सभी पौर जनों का ध्यान गणसंवाहक की ओर आकृष्ट हो उठा। चकित हुए से वे उनकी ओर देख अपने मन में कहने लगे—'देखो तो,

श्रद्धास्पद सामन्त को आज भला यह क्या हो गया !'

तथागत इस समय तक कुछ आगे निकल चुके थे; फिर भी, गणसंवाहक का यह प्रश्न उनके विशाल कानों से जा टकराया। वह वहीं रुक खड़े हो गए। उनका अनुगमन करता भिक्षु सार्थ भी उनके साथ ही रुक गया। त्रिशरणं का उच्चारण करता मृदुल कण्ठ स्वर भी, सहसा, मन्द हो, निस्तब्धता में लीन हो गया। सबसे अन्तिम पंक्ति में पीछे-पीछे आ रहा वैशाली का अभिजात समाज गणसंवाहक के प्रश्न पर जैसे खीझ उठा। पर वह इस समय कहता भी क्या ? विक्षोभ के कारण फड़फड़ाते ओष्ठों के साथ वह विवशता से केवल मौन रह गया।

ध्यानमग्न तथागत के अर्ध-निमीलित नेत्र इस मध्य प्रश्न-कर्त्ता पर जा टिके थे। पर गणसंवाहक अब चाह कर भी उनकी ओर दृष्टि न उठा सके। उनके मुख पर उभरा दुविधा भाव और प्रगाढ़ हो स्पष्ट धाराओं में प्लावित हो उठा। इस अप्रत्याशित स्थिति को उपस्थित हुआ देख उनके प्रदीप्त नेत्र चिन्ता में ग्रस्त हो रहे। वास्तव में उनके मुख से जो कुछ भी निकल गया था, उन्होंने वह निश्चित ही कहने के अभिप्राय से नहीं कहा था, वरन् मानस के उद्वेलित विचार प्रवाह में वह स्वतः ध्वनित हो उठा था; वह अब किंकर्त्तव्यविमूढ़ थे।

इस मध्य तथागत सर्वथा सौम्य भाव से गुरु गम्भीर ओजपूर्ण कण्ठ स्वर में पूछ उठे—"आयुष्मान्, हाँ तो वह क्या है, जो सम्भव नहीं ?"

गणसंवाहक की सारी अंतः चेतना जड़वत हो रही। विवेक मानों कुंठित हो गया। साहस का पाश भी ढीला हो बिखर उठा। हतप्रभ हुए से वह सप्रयास सोचते रहे—'उत्तर में अब क्या कुछ कहूँ ?' अंततः, किसी प्रकार अपने अंतर का साहस बटोर नतमस्तक हो वह बाले—"भगवन् ! गण नर्तकी आम्रपाली को आपने संघ में प्रविष्ट किया है, इस पर भला मुझे क्यों आपत्ति होने लगी। उसने अपनी आधी सम्पत्ति भिक्षु संघ को भेंट की है, इस पर भी मुझे कोई आपत्ति नहीं भन्ते। हाँ, मुझे यदि कोई आपत्ति है तो केवल इस बात पर कि आम्रपाली ने यदि आधी सम्पत्ति भिक्षु संघ को प्रदान की है तो शेष एक दासी कन्या को। तो क्या भन्ते, एक दासी कन्या संघ के समकक्ष हो गई ?"

सामन्त भंजदेव के इस तर्क को सुन जन-सागर में कौतूहल की एक लहर हिलोर उठी और सभी के नेत्र उत्सुकता से दीप्त हो गए। उधर राजा चेटक, सिंह सेनापति तथा महापौर श्रेणियरत्न इस विवाद पर विचलित हो उठे। किन्तु देवी आम्रपाली गणसंवाहक के प्रश्न का वास्तविक तात्पर्य समझ उसका उत्तर देने को व्यग्र हो उठी। तथापि उसने अपने को इस समय सर्वथा संयत रख मौन रखना ही श्रेयस्कर समझा।

तथागत ने अपने प्रधान शिष्य आनन्द की ओर दृष्टि फेर, कहा—"आयुष्मान् आनन्द ! देवी आम्रपाली जब भिक्षु संघ में नहीं आई थी तो उसका मुख्य धर्म क्या था ?"

आनन्द ने अपना नतमुख और अवनत कर, कहा—"भन्ते ! जैसा शास्ता ने कहा है, सर्व-हिताय किया जाने वाला कोई भी कर्म कर्त्तव्य है और कर्त्तव्य ही धर्म है।

देवी आम्रपाली नृत्यरत थी, अतः उसका धर्म कला था।"

तथागत फिर पूछने लगे—"और आयुष्मान्, जब देवी ने कला धर्म भी ग्रहण नहीं किया था तब ?"

"भन्ते, तब वह एक गृहस्थ के योग्य सभी गुणों से सम्पन्न एक कुल कन्या थी और कुल सेवा ही उसका मुख्य धर्म था।"

"तो आयुष्मान्, जिस प्रकार देवी आम्रपाली के वहीं रहने पर भी समयांतर अथवा कर्म-भेद से उसका धर्म रूप बदल गया, तो क्या इसी प्रकार उस दासी कन्या का भी धर्म नहीं बदल जाएगा।"

कौतूहल अभिभूत पौर जनों में यह सुन हर्ष की प्रगाढ़ लहर दौड़ गई। और वे उल्लसित कण्ठ स्वर से तथागत एवं तत्पश्चात् सद्धर्म का जय-जयकार कर उठे। किन्तु तथागत का मुख भाव पूर्ववत तटस्थ बना रहा। निरुत्तरता का सा अनुभव कर गणसंवाहक खिन्न हो उठे। पर अगले क्षण ही उनकी फीकी मुख आभा पर भावावेश की रक्तिमा फैल गई। वह सावेश बोल उठे—"किन्तु वैशाली की कुछ सुस्थापित परम्पराएँ भी हैं; उसकी अपनी कुछ विशिष्ट मान्यताएँ हैं, और व्यवस्था भी। भन्ते ! उसी व्यवस्था के अन्तर्गत कला पीठिका की अधिष्ठात्री नियुक्त नहीं होती वरन् उसका चयन होता है।"

इस पर तथागत ने पूर्ववत शान्त भाव से पुनः अपने प्रधान शिष्य को सम्बोधित कर पूछा—"क्यों आयुष्मान आनन्द, जब देवी आम्रपाली केवल एक कुल कन्या ही थी तो उसने कला धर्म क्यों ग्रहण किया ?"

यह सुन देवी आम्रपाली उत्तर देने की अभिलाषा मे पुनः व्यग्र हो उठी। उसे भय हुआ, आनन्द तथ्यो से अनभिज्ञ होने के कारण कही भिन्न उत्तर न दे बैठे।

इसी मध्य आनन्द कह उठा—"भन्ते ! वैशालिकों ने नायक महानाम कन्या को कलाधर्मोचित सभी गुणों से सम्पन्न समझ उसे अधिष्ठात्री के पद पर अभिषिक्त किया था।"

देवी आम्रपाली की जो आशंका थी, वह उचित ही रही। अतः इस बार वह अपने पर नियंत्रण न रख सकी। अपने स्थान पर खड़ी भी न रह सकी। कुछ क्षणों पूर्व तक उसके मुख पर जो तटस्थ भाव था, वह विचलित हो उठा। वह सावेग, जिधर शास्ता खड़े थे, उधर ही की ओर बढ़ ली। उनके समीप जा उनके दिव्य रूप को नत मस्तक हो प्रणाम किया और फिर, भगवान् ही जिसे मान लिया है ऐसे बुद्ध की परिक्रमा कर, सम्मान का भाव दिखाते हुए कुछ पीछे हट खड़ी हो गई। फिर अत्यन्त विनीत भाव से बोली—"भगवन् ! यह सर्वथा सत्य है कि मुझ में कला धर्मोचित सभी गुण विद्यमान थे, तथापि अधिष्ठात्री रूप में अभिषिक्त होने की मेरे मन में लेशमात्र भी इच्छा नहीं थी। कारण, वैशाली के अभिजात वर्ग ने अपने निहित स्वार्थों के कारण इस गौरवपूर्ण पद की पुनीत परम्परा को नष्ट-भ्रष्ट कर, उसे घृणित बना दिया था। किसी भी स्वाभिमानी कुल कन्या का तो उस पद पर आसीन होना शोभा की बात नहीं रह गई थी। भन्ते, मुझे उस पद पर बलात् आरूढ़ किया गया, प्रतिशोध के कारण, सामन्त भंजदेव ने प्रतिशोध के वशीभूत होकर ही मुझे उस पद पर आसीन

कराया था।"

यह सुन सभी उपस्थित जन चकित हो उठे। उनके सम्मुख जैसे सहसा कोई बड़ा भारी रहस्योद्घाटन हुआ हो। उनका मन प्रस्तुत वाद-विवाद की कल्पनातीत रोचकता से स्फुरित हो उठा। सभी के उत्सुक नेत्र गणसंवाहक की ओर घूम गए।

आम्रपाली के इस प्रहार पर सामन्त भंजदेव तिलमिला उठे। उत्तर में क्या कुछ कहें, अत्यधिक आवेग के कारण वह उसका भी तत्परता से निर्णय करने में जैसे असमर्थ रहे। अतः अपने ही पर क्षुब्ध हो उठे। साथ ही अन्तर में प्रवाहित होता उनका उग्र भाव भी पूर्णवेग में प्रज्ज्वलित हो, धधक उठा। आग्नेय नेत्रों से देवी आम्रपाली की ओर देखते हुए वह उत्तर में कुछ कहने को उद्यत ही हुए थे कि इसी मध्य देवी आम्रपाली फिर बोल उठी—"शास्ता! कला के अधिष्ठात्री पद पर रहते हुए मैंने दृढ़ता से पूर्व का कुछ पुनीत परम्पराओं का पालन किया है; और अब उस गौरवपूर्ण आसन के लिए मैंने एक ऐसी कन्या को प्रस्तुत किया है, जो कलाधर्म के पालन में सभी दृष्टियों से दक्ष है। भन्ते, कला और धर्म पर सभी का समान रूप से अधिकार है; और फिर वह दासी कन्या तो मेरी सभी शिष्याओं में प्रमुख थी।"

गणसंवाहक आवेश के दृढ़ स्वर में बोल उठे—"भन्ते! आम्रपाली ने यह सब कुछ कर अधिकार का अतिक्रमण किया है। कला-अधिष्ठात्री के पद पर किसी आर्य कन्या को ही अभिषिक्त किया जाना वैशाली की पुरानी परम्परा रही है। फिर, इस परम्परा का एक विशिष्ट राजनीतिक कारण भी तो है। भन्ते, वैशाली की सर्व सुन्दरी का सभी समान रूप से उपभोग कर सकें, यह उसका निश्चित उद्देश्य था!"

यह सुन आम्रपाली का सारा अतराल फूत्कार उठा। क्रोधाविष्ट उच्च कण्ठ स्वर में वह ललकारती हुई सी बोल उठी—"गणसंवाहक, बस करो! यह तुम्हारे दुराग्रह की अति ही तो है, अन्यथा जिस वैशाली में महिलाओं से सविनय प्रणय निवेदन की परम्परा हो, वहाँ कभी सौन्दर्य के उपभोग की दूषित वृत्ति भी सम्भव हो सकती है?"

इधर तथागत सर्वथा शान्त स्वर में गणसंवाहक से पूछ उठे—"और आयुष्मान का सभी द्वारा उपभोग से तात्पर्य?"

"भन्ते, जिसकी भी कला में रुचि हो।" गणसंवाहक के मुख से यह जैसे अनायास ही निकल गया। तनिक रुक कुछ सोचते हुए से वह फिर बोल उठे—"और भन्ते, जो भी गण नर्तकी के सौन्दर्य का इच्छित पुरस्कार दे सके, वह उसके उपभोग का अधिकारी था।"

उनके इस उत्तर पर देवी आम्रपाली पुनः क्रोधाभिभूत हो उठी। ऊर्ध्वबाहु हो, वह सावेश बोली—"भन्ते! यह एक दम मिथ्या है। आम्रपाली ने यह अधिकार कदापि किसी को नहीं दिया। फिर भन्ते, कला संयम ही का तो दूसरा नाम है।"

सामन्त भजंदेव इस बार कुछ परास्त हुए से भर्राए कण्ठ स्वर में बोले—"भन्ते! संयम के नाम पर यह गण नर्तकी की हठ धर्मिता थी। वस्तुतः उसने अपने धर्म का

आचरण ही नही किया ।"

देवी आम्रपाली इस आक्षेप का उत्तर देने को उद्यत हुई ही थी कि सहसा उपस्थित जन समूह एक स्वर में वह उठा—"श्रद्धेय सामन्त का यह आरोप तो एक दम निराधार है। देवी आम्रपाली ने हमें अपने अनुपम नृत्य कौशल से सदा ही तो प्रसादित किया है।"

जिधर से यह ध्वनि आई थी, सामन्त भंजदेव ने उस ओर तनिक आक्रोश से देखा। किन्तु शीघ्र ही सावधान हो अपने आप को संयत कर पुनः तथागत की ओर देखते हुए बोले—"भन्ते, आम्रपाली पर मेरा एक स्पष्ट आरोप है। उसने एक आर्य भिन्न कन्या को संभ्रान्त समाज में बलात् प्रतिष्ठापित कर सामाजिक, राजनीतिक एवं नैतिक-सभी दृष्टियो से वैशाली का नियम भंग किया है। अतएव, उसे भिक्षु संघ में प्रविष्ट होने से पूर्व विनिश्चय-अमात्य के सन्मुख उपस्थित होना होगा। भन्ते, उसने राजद्रोह का जघन्य अपराध किया है, जिसके लिए उसे कदापि क्षमा नहीं किया जा सकता।"

यह सुन समूचा जन-समुदाय पहले तो स्तब्ध रह गया, फिर शीघ्र ही उसमें से एक कोलाहल गूँज उठा। इस कोलाहल को शान्त करने के प्रयास में भिक्षु समुदाय ने 'शान्तं आवेश शात आवेश' कहना प्रारम्भ कर दिया।

गणसवाहक ने जैसे सभी के सामने एक जटिल समस्या प्रस्तुत कर दी।

सारा जन समुदाय कौतूहल एवं आशकाजन्य त्रस्त भाव से तथागत की ओर देखने लगा। परन्तु तथागत स्वयं इस नवोत्पन्न समस्या से सर्वथा अविचलित रह पूर्ववत् शान्त स्वर में बोले—"आयुष्मान आनन्द! नियम क्या है?"

आनन्द ने नतमस्तक हो कहा—"भन्ते, जिसे अधिकांश जन स्वीकार कर लें, वही नियम है।"

"और जिसे सभी स्वीकार करें, वह क्या है आयुष्मान आनन्द?"

"वह बड़ा नियम है, भन्ते।"

"और आयुष्मान आनन्द, जिसे विपक्षी वर्ग के भी अधिकांश जन स्वीकार कर लें?"

"वह शाश्वत नियम है भन्ते।"

जन साधारण इस पर हर्ष प्रकट करता भारी करतल ध्वनि कर उठा।

किंतु, गणसंवाहक अपने उच्चतम कण्ठ स्वर में सावेश कह उठे—"भन्ते! यदि यही और ऐसा ही शाश्वत नियम है तो फिर मैं उसे दूर ही से नमस्कार करता हूँ।"

क्रोध से उनके मुख का रक्तिम वर्ण प्रगाढ़ हो गया।

परन्तु, तथागत ने उस ओर कोई ध्यान न दे सर्वथा शान्त स्वर में कहा—"आयुष्मान आनन्द!"

"हाँ भन्ते", उनके प्रधान शिष्य ने सदैव की भाँति नतमस्तक हो कहा। तथागत ने तत्पश्चात् प्रश्न किया—"आयुष्मान आनन्द, भला सबसे बड़ा दास कौन है?"

आनन्द ने तत्परता से विनयातिरेक के कण्ठ स्वर में कहा—"भन्ते। भला बुद्ध से बड़ा दास कौन है।"

तथागत ने पुनः प्रश्न किया—"और आयुष्मान्, सामन्त जिसे दासी कन्या कह सम्बोधित कर रहे हैं ; वह ?"

'वह, कलाधर्म में दीक्षित एक मानव मात्र है भन्ते।"

"और सद्धर्म क्या कहता है आयुष्मान् ?"

"भन्ते, मानव मात्र के साथ सम-भाव का व्यवहार।"

इस पर, गणसंवाहक क्रोधावेश के साथ बोल उठे—"और यदि कोई तथा-कथित सद्धर्म को न माने तो ?"

तथागत ने उलट कर प्रश्न किया—"आयुष्मान आनन्द, और यदि कोई सद्-धर्म को न माने तो ?"

आनन्द ने शान्त भाव से कहा—"भन्ते, तो भी सद्धर्म सर्वव्यापी है, क्योंकि वह मानव मात्र के कल्याण के लिए है; दुराग्रह विकार है, और विकार की उग्रता ही पाप है।"

तत्पश्चात् समूचा भिक्षु समुदाय 'शान्तं पापं,-शान्तं पापं' का उच्चारण करता चारिका व्यस्त तथागत के पीछे-पीछे हो लिया।

जन समूह में पुनः हर्ष की एक प्रगाढ़ लहर दौड़ गई। गणसंवाहक भी उस जन समूह की सघन धार मे बलात् आगे बढ़ लिए। परन्तु साथ ही वह मन ही मन कहते रहे—'तथागत यह सद्धर्म का विनय नहीं, वरन् हठ हुआ। भंजदेव भला उसे क्यों स्वीकार करे ? मैं उसे कदापि स्वीकार नहीं कर सकता।'

पाँच

जहाँ तक अधिकारों का प्रश्न है, वज्जि संघ के गतिमान जीवन में गणसंवाहक सामन्त भंजदेव और गणाध्यक्ष राजा चेटक, दोनों ही का विशिष्ट स्थान था। लिखित संविधान 'प्रवेणी पुस्तक' में निर्दिष्ट व्यवस्थाओं के अनुसार यदि सामन्त भंजदेव संघ की प्रभुसत्ता सम्पन्न वृहत-सभा गण संथागार के सर्वोच्च पद पर आसीन थे तो राजा चेटक के दृष्टि इंगित पर सारा शासन कार्य चला करता था। वह पूर्ण अधिकार प्राप्त गण शासन-परिषद अष्ठ कुल के प्रधान पद पर शोभित थे। फिर भी, जब वह संथागार में उपस्थित होते तो उन्हें गणसंवाहक के आदेश के सन्मुख नत मस्तक होना पड़ता। अनुशासन की दृष्टि से राजा चेटक को सामन्त भंजदेव के प्रत्येक निर्णय को नियम रूप में मान उसका पालन करना होता। एक अर्थ में वहाँ उनका कोई भी विशिष्ट स्वरूप न रह संथागार के शेष सभी सदस्यों के समान केवल सामान्य बनकर रह जाता। जैसे अन्य वैशालिक सदस्य रूप में राजा कहलाते, वह भी बस वही होते। फिर भी अपने कतिपय गुणों के कारण सभी के मध्य उनका विशेष सम्मान था। यद्यपि अपने सभी शासन कार्यों के लिए वह गण संथागार के समक्ष उत्तरदायी थे, तो भी वैयक्तिक रूप में उनका शेष सभी सभासद् राजाओं पर विशेष प्रभाव था।

आयु की दृष्टि से राजा चेटक सामन्त भंजदेव के समकक्ष ही थे। संभवतः वह एक दो वर्ष बड़े भी रहे हों। किन्तु दोनों के स्वभाव और विचारों में भारी अन्तर था। यदि सामन्त भंजदेव में अभिजात कुल का गौरवाभिमान कूट-कूट कर भरा था तो राजा चेटक सरल रुचि एवं साधारण प्रकृति के जाज्वल्यमान प्रतीक थे। गणाध्यक्ष होते हुए भी उन्हें दम्भ छू तक नहीं गया था, हठ उनमें नाममात्र को नहीं था और उदारता तो उनकी जैसे चेरी बनकर रह गई थी। उनके विशाल दुर्ग के द्वार सदैव सभी के लिए समान रूप से खुले रहते। उत्तराधिकार में उन्हें भी सामन्त भंजदेव की भांति विपुल सम्पत्ति मिली थी; और सम्बन्धों की दृष्टि से भी वह सुप्रतिष्ठित थे। मगधराज बिम्बसार के साथ उनकी पुत्री चेल्लना का पाणिपीड़न हुआ था और इधर जैन धर्मावतार वर्द्धमान महावीर की माता त्रिशला उन्हीं की बहिन थी। तथापि उन्होंने अपने जीवन में शायद ही कभी पक्षपात का आचरण किया होगा। गंगातट स्थित तीर्थ विवाद को लेकर उनके जामाता बिम्बसार ने जब वज्जिसंघ के विरुद्ध युद्ध के लिए प्रस्थान किया तो उसकी विजयोन्मत्त वाहिनियों का सामना करने के लिए वह स्वयं वैशालिकों की अग्रिम पंक्ति में उपस्थित थे; और गणाध्यक्ष रूप में केवल महावीर और तथागत का ही

नहीं, वरन् अन्य सभी श्रमण सम्प्रदायों का समान भाव से आदर कर वह सभी की दृष्टि में ऊँचे उठ गए थे। परन्तु इसके अतिरिक्त भी उनका एक और विशेष गुण था; जिसने उनकी यशोवृद्धि में महत्त्वपूर्ण योगदान किया। वह सदा ही नए विचारों का स्वागत करने को उद्यत रहते थे।

इसके विपरीत सामन्त भंजदेव निश्चय ही रूढ़िवादी स्वभाव के थे। उत्तराधिकार में उन्हें जहाँ भारी सम्पत्ति मिली, वहाँ कुछ कुल परम्पराएं भी; और ये परम्पराएं ही, जैसे उनके जीवन की मार्ग-दर्शक रेखाएं बन उठीं। प्रत्येक नये विचार का प्रतिरोध करना उनका सहज स्वभाव था। अतएव गण संथागार सदृश महत्त्वपूर्ण सभा के संवाहक पद पर सुशोभित होते हुए भी वह सभासदों के उतने प्रियपात्र नही बन सके, जितने कि राजा चेटक। फिर भी सामन्त भंजदेव का वैशाली प्रेम, वज्जिसघ के प्रति उनकी प्रगाढ़ आस्था, गण संविधान के प्रति अटूट निष्ठा भाव, ये कुछ ऐसे गुण थे, जिनके कारण सभी वैशालिक उनकी भूरि-भूरि प्रशंसा करते न अघाते थे। वज्जिसंघ के विरुद्ध प्रत्येक युद्ध में वह भी राजा चेटक की भाँति सदैव, न केवल अग्रिम पक्ति में दिखाई देते, वरन् संघ की मान मर्यादा की रक्षार्थ अपने प्राणों की भी बाजी लगा रिपुसेना पंक्ति में प्रविष्ट हो रहते। अतएव इन सभी कारणों से उनकी भी कोई कम प्रतिष्ठा नहीं थी। फिर भी, जब कभी किसी वैशालिक के सम्मुख प्रसगवश दोनो के मध्य तुलना करने का प्रश्न उपस्थित हो जाता तो राजा चेटक अवश्य ही उसके हृदय कोर का स्पर्श करते प्रतीत होते; और यह रहस्य स्वयं गणसंवाहक सामन्त भंजदेव से भी नहीं छिपा था। यही कारण है कि आज उनके अंतर में उठे विद्रोह के पश्चात् भी वह अंततः केवल खिन्न होकर ही रह गए।

संध्या समय जब वह अपने आवास की ओर चले तो उन्हें ऐसा अनुभव हुआ जैसे वह स्वयं ही अपने जीवन की सबसे महत्त्वपूर्ण विजय को पराजय के हाथों में सौंप लौट रहे हों। सदा की भांति आज भी उनका विशाल भद्र वाहन राजपथ पर जनरव के मध्य सरपट दौडता चला जा रहा था। किन्तु पथ पर पड़ती अश्वों की तालपूर्ण पदचापों से वह उल्लसित नहीं हो सके। और दिनों जब इन्हीं सैंधवों की पग ध्वनि उनके कानों से टकराती थी तो उनके अंतर में बैठे गणसंवाहक का उदात्त भाव और मुखरित हो उठता था। पद गौरव से प्रदीप्त उनका मुख मार्ग पर आते-जाते पौरजनों पर सहज मुस्कान बिखेरता चलता। किन्तु आज उनके मन में न तो जन-प्रवाह की ओर देखने का ही कोई उत्साह शेष रह गया और न वह आत्मीयता का भाव ही। वे सभी तो उन्हें परिजन जैसे प्रतीत हुए। मार्ग में पड़ते सुपरिचित आवास भी उन्हें अपनी ओर आकृष्ट करने मे असमर्थ रहे। सारी वैशाली ही उन्हें एक अनजान नगरी के सदृश प्रतीत होने लगी। और राजा चेटक, महाबलाधिकृत सिंह, महापौर श्रेणिय रत्न सभी तो...। उन सभी के ध्यान मात्र से उनके मन में तिक्त भाव उभर आया और फिर वह उनके सारे अंतराल पर व्याप्त हो उठा।

सम्मुख ही, पश्चिम दिशा में सदानीरा के उस पार यात्रा थकित सूर्य रश्मियाँ अपनी थिथरी मुस्कान के साथ क्षितिज रेखा पर ढुलकती जा रही थीं। उत्तरोत्तर क्षीण होती जा रही उनकी मलिन आभा को देख आज न जाने क्यों उनके मन में एक

टीस-सी उठ खड़ी हुई। रथ से मुख बाहर निकाल वह उसी ओर निहारते रहे। सूर्य अपना अन्तिम आलोक दिखा अस्ताचल में दुबक रहा और दिन डूब गया। सोचने लगे—'यह जीवन भी क्या है ! मध्याह्न-पूर्व के उस प्रचण्ड रूप का क्या हुआ ? अरे, केवल दो पहर पश्चात् ही वह तो ढल कर अंधकार में विलीन हो गया। मनुष्य का जीवन भी तो कुछ ऐसा ही है। और, मेरे जीवन की यह बेला ?'

उनके मुख पर निराशा का प्रगाढ़ भाव छा गया।

इसी मध्य सरपट दौड़ता उनका रथ, घर्राता, मुख्य राजपथ से उतर आवास द्वार की ओर मुड़ लिया।

द्वार मण्डप में रुके रथ से जब वह नीचे उतर सोपान की ओर बढ़े तो उन्हें तुरन्त सेवकों की उपस्थिति का ध्यान हो आया और उनका स्वामी रूप सचेष्ट हो उठा। उनके अन्तर का खिन्न भाव जैसे स्वतः लुप्त हो गया; और, शयनकक्ष में प्रविष्ट होते-ही उन्होंने सदा की भाँति आज भी 'छाया-छाया' की रट लगा दी।

दासी कन्या छाया इस समय शयन कक्ष के ही एक कोने में कुछ सिमटी-सी बैठी थी। वास्तव में स्वामी की प्रतीक्षा करते-करते वह अपने अन्तर में उठे भावों तथा तत्पश्चात् विचारों की भंवर में कब उलझ गई, इसका उसे स्वयं कुछ भान नहीं रहा। अतः स्वामी का शब्द उसके कानों से टकराया तो भंग हुई विचार तन्द्रा के साथ वह कुछ चौंक-सी गई। सशंक दृष्टि से वह जैसे अपने ही में कुछ टटोलने का प्रयास कर उठी। स्वामी ने न जाने कितनी देर तक प्रतीक्षा कर मुझे पुकारा होगा, इस आशंका से उसका सारा गात प्रकम्पित हो उठा। परन्तु फिर शीघ्र ही अपने को किसी प्रकार संयत कर वह गणसंवाहक के सम्मुख आ उपस्थित हुई।

वह नयन नत किए खड़ी रही और वृद्ध सामन्त ससंभ्रम दृष्टि से उसकी सुगठित देह एवं मुख छवि को निहारते रहे।

सामन्त भंजदेव के विचार-उद्वेग थकित मस्तिष्क को कुछ-कुछ विश्रांति का सा अनुभव हुआ। उनके मुख से संतोष की एक भारी श्वास निकल गई। कक्ष में यत्र-तत्र उभरी सुगंधित अगरु धूम्र रेखाएँ अंगड़ाई ले उठीं तथा दीप शिखाएँ कुछ मचल-सी गईं। और, वृद्ध सामन्त आयु थकित पैरों को तनिक विश्राम देने की इच्छा से शय्या पर आ बैठे।

दासी कन्या भी हाथ पर टिके रजत आधार एवं उस पर रखे स्वर्ण-मद्य पात्र को लिए, आगे बढ़, स्वामी के समीप जा खड़ी हुई।

क्षणेक उसकी ओर देखते रह वृद्ध सामन्त ने रजत आधार से मद्य पात्र उठा लिया। साथ ही कहने लगे—"दासी कन्या छाया ! तू जितनी सुन्दर है यदि उतनी ही वाचाल भी हुई होती तो भला क्या ही अच्छा होता।"

वृद्ध स्वामी की यह बात उसे अन्तर में अरुचिकर प्रतीत हुई। परन्तु प्रकट में, उसके मुख पर सहज संकोच का भाव उभर आया। उसकी समस्त कर्णपटी लालिमा से सिहर-सी गई।

सामन्त भंजदेव अपने ओष्ठों से मद्यपात्र को हटा पुनः बोल उठे—"दासी कन्या तुझ में यह संकोच ! अरी अभागी, यह संकोच और यह मौन तो केवल अभिजात

बाला को ही शोभा दे सकता है, जिसे न उदर पोषण की चिन्ता होती है और न किसी स्वामी को प्रसन्न कर पुरस्कार पाने की अभिलाषा ।"

दासी कन्या इस बार भी केवल मौन ही रही। हाँ, उसके ओष्ठकोर खिन्नता से अवश्य फैल गए।

किन्तु सामन्त भंजदेव ने उस ओर विशेष ध्यान न दे अपना हाथ उसके मुख की ओर बढ़ा दिया। उसके चिबुक को अंगुलि के सहारे से तनिक ऊपर उठा बोले—'छाया! इधर तो देख।"

वृद्ध स्वामी ने यह सर्वथा अनुनय के आर्द्र कण्ठ स्वर में कहा था, तो भी वह दासी कन्या के लिए केवल आदेश बनकर रह गया। स्वामी के आदेश पर उसने लज्जानत दृष्टि को ऊपर उठाने का सा प्रयास किया। वृद्ध सामन्त ने उसकी संकोच बोझिल दृष्टि में झाँकते हुए पहले तो अपने भर्राए कण्ठ को कुछ साफ किया तथा फिर उसको दृढ़ करने का प्रयास करते हुए बोले—"छाया, भला तेरा यह रूप उस दासी कन्या से कुछ कम थोड़े ही है परन्तु…।" कहते-कहते उनका कण्ठ स्वर स्वतः अवरुद्ध हो गया। परन्तु दृष्टि फिर भी कौतूहल से हतप्रभ हो उसकी ओर देखती रही।

किस दासी कन्या से, यद्यपि स्वयं सामन्त भंजदेव ने इसे स्पष्ट नहीं कहा, तो भी वह उसे समझने में असमर्थ नहीं रही। संदेशवाहक तरुण कपिल ने मध्याह्नोपरान्त में गणसंवाहक को बताने से पूर्व ही उसे सब कुछ बता दिया था। केवल बता ही नहीं दिया था बल्कि उसके चिबुक को इसी प्रकार अपनी अंगुलि के सहारे ऊपर उठा उल्लसित हो, स्फुरित कण्ठ स्वर में पूछा था—"क्यों कुमारी, क्या यह एक शुभ संवाद नहीं है?" दासी कन्या छाया उस समय भी मौन रही थी परन्तु प्रत्युत्तर में वह संदेशवाहक तरुण की ओर अपने नेत्र पलक उठा, उसे देखने का लोभ संवरण नहीं कर सकी थी। तरुण कपिल के मुख पर छाए भाव को देख वह कुछ-कुछ, केवल कुछ ही नहीं बल्कि असीम गर्व का अनुभव कर उठी थी; हृदय में एक स्फुरण का संचार हो उठा था, नेत्र आशा से ज्योतित हो गए थे और उसकी सारी देह एक उच्छ्वास का स्पर्श पा नवोदित ऊषा बेला की भाँति अरुणिम हो उठी थी। उस क्षण का वह दृश्य उसके नेत्रों के सम्मुख साकार रूप में आ उपस्थित हुआ और उसी के साथ एक आल्हाद विशेष के साथ उसका रोम-रोम पुलकित हो उठा।

और इस सारी अवधि वृद्ध सामन्त निष्पलक हो उसकी मुख छवि को देखते रहे, कल्पना करते रहे कि भला इसमें और आम्रपाली की उस शिष्या में क्या अन्तर होगा। अंततः वह यही भूल गए कि इस क्षण उनके सन्मुख उन्हीं की एक परिचारिका खड़ी है अथवा वही दासी कन्या, जिसे आज आर्य सम्पत्ति के उपभोग का उत्तराधिकार मिला है। जैसे कोई उनके समूचे अंतराल को कचौट-सा गया। केवल कुछ क्षणों पूर्व ही उनके नेत्रों में से प्रतिबिम्बित होता अनुनय का भाव प्रतिशोध की कर्कशता में परिणत हो उठा। मेघ गर्जन सदृश कड़कते स्वर में बोले—"दासी कन्या देखूंगा, तुझे भी देखूंगा।"

यह सुन रात्रि का अंधकार सहम गया और छाया काँप उठी। कहीं स्वामी को सारा रहस्य न खुल गया हो, इस भय से उसका सारा अन्तराल प्रकम्पित हो

उठा। सन्देशवाहक कपिल की वह न जाने क्या गत कर बैठें, इस भय से तो उसकी मनोदशा और भी अधिक विचलित हो उठी। प्रयत्न करके भी वह अपने को न संभाल सकी और न ही उस रजत आधार को, जो उसके हाथ पर टिका था। हाथ के कंप-कंपाते ही रजत आधार झंकारता हुआ धराशायी हो रहा; और उसी के साथ मख्य पात्र से मदिरा निकल कक्ष में बह निकली। मदिरा की गंध अगरु-धूम्र में से प्रस्फुटित होती भीनी-भीनी सुवास पर छा गई।

वृद्ध सामन्त ने समझा, छाया ने एक क्षुद्र दासी कन्या को मिली आर्य सम्पत्ति पर निश्चित ही गर्व का अनुभव किया है, तभी तो वह अपना सन्तुलन खो बैठी है। अन्यथा, एक दासी कन्या और उसे यह संकोच, यह गर्व, और उसका यह दुस्साहस ! उनकी उत्तेजना ने उत्तरोत्तर उग्रतम रूप ले लिया। नीचे, भूमि पर बिखरी बहुमूल्य मदिरा को देख वह और भी उत्तेजित हो उठे। अन्तर का उग्र भाव ध्वनित हो उठा। कड़कते हुए बोले—'चाडाल छोकरी, जानती नही तू इसका मूल्य? जानती नहीं क्या, कपिशा के एक सार्थवाह से वह पूरे एक शत कार्षापण प्रति कुप्पिय के भाव पर ली गई थी।"

उनका ग्रीवा भाग बुरी तरह फूल गया। नेत्र आग्नेय हो उठे। फिर भी, उनके अन्तर मे ही बैठा कोई उन्हें जैसे कुछ समझाने का प्रयत्न करता रहा। किन्तु, उनका प्रज्वलित क्रोध उतने ही परिणाम मे भड़क उठा। उनका क्रोध स्वयं उनके वश में न रह सका और आवेश मे उठे हाथ ने दासी कन्या को धकेल ही तो दिया। और उनके इस प्रहार के फलस्वरूप दासी कन्या तो गिर ही गई, साथ में स्वयं उनके हाथ से भी चषक छूट गया।

बिखरी मदिरा का स्पर्श कर दासी कन्या के गीले वस्त्र उसके गात से चिमट गए और उधर गात अधिकाधिक आतंकित होता अपने मे सिमटता जा रहा था। त्रस्त हरिणी की भाँति उसके नेत्र दैन्य भाव से क्रोधाभिभत स्वामी की ओर देखते रहे।

परन्तु उसकी दृष्टि का सहमा कातर भाव सामन्त भजदेव के आग्नेय नेत्रों को तनिक भी अपनी ओर आकृष्ट करने में असफल रहा। उनके नेत्रों के सम्मख तो इस समय कुछ क्षणो पूर्व की दासी कन्या का वह प्रफुल्लित मुख था, जिसे देख उन्होने अनुमान लगाया था कि आम्रपाली की शिष्या के प्रसंग मात्र से वह कितनी प्रसन्न हो उठी है। अत: उनके हृदय में प्रतिशोध की ज्वाला भडक उठी; और इस भडकते प्रतिशोध के साथ ही उनका हाथ सम्मुख पड़े चर्म-प्रतोद पर जा पड़ा। यह देख दासी कन्या बुरी तरह काँप उठी; उसकी देह से स्वेद जल फूट निकला। हाथ मे प्रतोद के आते ही गणसवाहक का उग्र रूप और प्रचण्ड हो उठा।

दासी कन्या प्रतोदाघात से कराह उठी। उसके मुख से निकला चीत्कार रात्रि के अन्धकार में विलीन हो उसे प्रकम्पित करता रहा। अन्धकार सिहर उठा, परन्तु गणसंवाहक का उठा हाथ और भी अधिक आवेग के साथ उस दासी कन्या पर प्रहार करता रहा, और प्रत्येक प्रहार के साथ वह मेघ गर्जन सदृश कण्ठ स्वर में कहते रहे : "मातुंगो, देखता हूँ सामन्त भंजदेव के जीवित रहते तुम्हें वैशाली में कैसे समाधिकार मिलता है।"

इसी मध्य, गण संथागार का कांस्य घड़ियाल 'टन्न-टन्न' का आर्तनाद कर ज उठा।

रात्रि का सघन अंधकार भी जब दासी कन्या के चीत्कारों को सहन करने में वयं असमर्थ रहा तो उसने उसे प्रासाद के ओर छोर तक फैला दिया। फलस्वरूप उसे सुन अन्य दास दासी एवं भृत्य जन भी कक्ष की ओर दौड़ लिए। सम्मुख पड़ी बेसुध छाया को देख उनका मन गणसंवाहक को धिक्कार उठा। प्रतोद प्रहारों से फटे छाया के वस्त्र चीथड़े होकर इधर-उधर छितर गए थे और अब वह प्रायः नग्नावस्था में पडी थी। उसकी देह का रंग भी नीला हो गया था। उसकी यह दशा देख उन सभी का हृदय फूत्कार उठा। परन्तु विवशता से वे सभी मौन रहे। मन ही मन केवल इतना ही कहा—'स्वामी यह तो सचमुच अति है।'

सामन्त भंजदेव भी वहीं खड़े रह उसकी ओर देख रहे थे। प्रहारों के शक्ति क्षय से उनका श्वास बुरी तरह फूल उठा। परन्तु दास-दासियों को इस प्रकार एकत्र होते देख उनका विश्राम करता क्रोध जैसे पुनः सचेष्ट हो गया। कुछ उस पर अधिकार का स्वाभाविक गर्व आरूढ़ हो रहा। आदेश के दृढ, कर्कश स्वर मे वह बोले—"अरे मातंगो, मेरा मुख क्या ताक रहे हो, ले जाओ न इसे।"

किन्तु उनकी यह ललकार निष्फल रही; भृत्य जन उस पर किंचित् भी नहीं हिले डुले, पाषाण मूर्ति की भाँति बस छाया की ओर निहारते रहे।

उनके इस अवज्ञापूर्ण दुस्साहस पर भी गणसवाहक कुछ कहने को उद्यत हो उठे कि इसी मध्य सन्देशवाहक कपिल ने सहसा कक्ष में प्रवेश किया। नेत्रकारों से सन्मुख बेमुध पड़ी अपनी छाया को देख उसका हृदय टीस से कराह उठा। परन्तु प्रकट मे सदा की भाँति इस समय भी नतमस्तक हो गणसवाहक का अभिवादन कर वह बोला—"सामन्त श्रेष्ठ! गणाध्यक्ष के दुर्ग से सन्देशवाहक-प्रधान आर्य मृत्युंजय पधारे हैं।"

किन्तु, सामन्त भंजदेव ने पूर्ववत् भावावेश में कहा—"तो फिर उपस्थित करो न।"

फिर भी कपिल प्रत्युत्तर में सदा के सहज भाव में बोला—"भन्ते, आर्य मृत्युंजय कोई गोपनीय सन्देश लाए हैं अतएव उन्होने एकान्त का अनुरोध किया है।"

और फिर वह गणसंवाहक के उत्तर की प्रतीक्षा किए बिना ही वहाँ से चल दिया। वास्तव में वह कक्ष मे जितनी देर खडा रहा, वही उसे भारी बन आया था। कक्ष के बाहर निकलते ही उसका हृदय व्यथा बोझिल हो उठा और नेत्र भी सजल हो गए।

उपस्थित दास-दासी तथा भृत्यजन सन्देशवाहक कपिल का संकेत समझ वहाँ से छिटक गए। केवल दासी कन्या ही अपनी बेसुध अवस्था के कारण जाने में असमर्थ थी; सो वह वहीं पड़ी रही। उसे देख सामन्त भजदेव के क्रोधाभिभूत मुख पर भी एक बार को चिन्ता की रेखा-सी खिच गई। अतः वह तत्परता से उस मृतप्राय देह को शय्या के नीचे खिसकाने लगे, परन्तु इसी मध्य गणाध्यक्ष के सन्देशवाहक मृत्युंजय वहाँ आ पहुँचे। कक्ष पर एक भेदपूर्ण दृष्टि डालते हुए उन्होने गणसंवाहक का

अभिवादन किया और फिर नतमस्तक हो बोले—"सामन्त श्रेष्ठ ! गणाध्यक्ष राजा चेटक ने आर्य की सेवा में एक आवश्यक संवाद निवेदन करने का आदेश किया है।"

गणसंवाहक ने किंचित उत्सुकता का भाव प्रदर्शित करते हुए कहा—"निवेदन करो आयुष्मान।"

मृत्युंजय बोले—"आर्य ! गणाध्यक्ष ने कहा है कि आज संध्या से सुरक्षा प्रधान के पद पर तक्षशिला विद्यापीठ से आए सद्य-स्नातक आयुष्मान ध्वजधर की नियुक्ति कर दी गई है।"

संदेशवाहक मृत्युंजय के मुख से यह संवाद सुन सामन्त भंजदेव स्तब्ध रह गए। किन्तु, शीघ्र ही भावावेश से उनका मुख रक्तिम हो उठा। उन्हें प्रतीत हुआ कि गणाध्यक्ष ने यह संवाद नहीं भेजा वरन् प्रत्यक्षत: वज्र प्रहार किया है।

वह बोले—"आयुष्मान मृत्युंजय ! मेरी ओर से आर्य चेटक की सेवा में निवेदन करना कि वैशाली की शासन व्यवस्था में सुरक्षा प्रधान का पद अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है; और उस पद पर एक ऐसे युवक की नियुक्ति की गई है जो न केवल वैदेशिक है वरन् अज्ञात कुलशील भी है; और साथ ही अनभिषिक्त भी, अतएव मैं उसकी इस नियुक्ति का विरोध करता हूँ।"

आर्य मृत्युंजय सामन्त भंजदेव द्वारा प्रस्तुत आपत्ति को नत मस्तक हो सुनते रहे। आयु की दृष्टि से वह प्रौढ़ावस्था के अन्तिम छोर पर पहुँच चुके थे। उनके मुख पर इस समय गाम्भीर्य और विनय का अद्भुत मिश्रित भाव व्याप्त था। फिर दीर्घावधि से गणाध्यक्ष के दुर्ग में प्रधान संदेशवाहक के पद पर आसीन होने के कारण उसके दायित्व भार तथा शील से सुपरिचित थे। अतएव गणाध्यक्ष के संदेश के उत्तर में गणसंवाहक ने जो कुछ भी कहा उसे सुनने के पश्चात् भी वह धैर्य से किंचित् समय तक वहीं खड़े रहे। अन्ततः जब वह आश्वस्त हो गए कि गणसवाहक को अब निश्चित ही और कुछ नहीं कहना है तो वह "आर्य की आज्ञा शिरोधार्य है' कह, अभिवादन कर, कक्ष से बाहर की ओर चल पड़े।

छह

कृष्ण पक्ष का गहन तिमिर भी एक दृश्य विशेष को देख, उन्मुक्त भाव से खिलखिला उठा।

मुख्य महानगरी से बाहर, सदानीरा के बाएँ तट से सटी कम्मकरों की बस्ती में इस समय हर्षोल्लास का प्रवाह गतिमान था। एक वृद्ध ने अपने से भी अधिक आयु की एक स्त्री के सिर पर जब जीर्ण-शीर्ण गंध मुकुट रखा तो चारों ओर से हँसी की फुहार छूट पड़ी। वृद्धा के सिर पर गंध मुकुट रख रसिक दीखते वृद्ध ने घुटनों के बल नत हो, अपने दोनों हाथों को लम्बे फैला साभिनय कुछ कहा भी था; परन्तु उनके वे सभी शब्द हंसी की उस फुहार में विलीन हो गए। आबाल वृद्ध नर नारियों की अपार भीड़ इस दृश्य विशेष को देख हंसी से लोट-पोट हुई जा रही थी कि इसी मध्य एक दासी बाला ने अपने हाथ की सभी पुष्प मालाओं एवं गजरों आदि को सावेश उस रसिक वृद्ध के सामने जा पटका। किन्तु उसके मुख पर आवेश से भी अधिक निराशा का भाव व्याप्त था। भर्राए कण्ठ स्वर में वह कह उठी—"लो, ये लो सारी मालाएँ जितनी गूंथी थीं, सभी तो बच गईं।"।

वृद्ध पहले तो खिलखिला कर हंस पड़ा। फिर सांत्वना के से आत्मीय कण्ठ स्वर में बोला—"अरी ओ छोकरी घबराती क्यों है? कल ही देख लेना, ये तो क्या दस गुनी मालाएँ भी गूंथेगी तो थोड़ी पड़ जाएँगी। देवी आम्रपाली की वह शिष्या कोई ऐसी वैसी नहीं है। उसके अनुपम नृत्य के देखने वालों की एक दिन वह भीड़ लगा करेगी कि तू, बस देखते ही रह जाएगी।"

यह सुन उस दासी बाला को हँसी आ गई। वास्तव में वह उपहास की हँसी थी, जिसके मध्य से उसका निराशा का भाव भी स्पष्ट रूप में प्रतिबिम्बित हो रहा था। व्यंग के से तिक्त स्वर में वह बोली—"कितनी भीड़ लगा करेगी, यह तो आज ही विदित हो गया। चलो, वह कल भी दूर नहीं, देखूंगी वह भीड़ कैसी लगती है।"

उसके मुख की निराशा और प्रगाढ़ हो गई। वृद्ध इस बार कुछ-कुछ उल्लास के से स्वर में बोल उठा—"बंधुजनों, यह हमारे उदास होने का समय नहीं। एक दिन हम में से किसी ने यदि कुछ ताम्र कार्षापण अर्जित न किए तो उससे क्या? क्या हमारे लिए यह गर्व की बात नहीं कि हम ही में से एक कल इस महानगरी की कला अधिष्ठात्री होने वाली है। देवी आम्रपाली के स्थान पर जब वह विराजमान होगी तो क्या हमें कुछ भी नहीं मिलेगा? क्या हम सभी यहीं इसी प्रकार रह जाएंगे।"

वृद्ध की इस बात को सुन सभी में हर्ष की एक लहर दौड़ गई। परन्तु वह बाला

तथा उसी की भांति पुष्पमालाओं का विक्रय करने वाली अन्य बालाएँ जैसे आश्वस्त न हो सकीं। एक दूसरी पहली वाली की ही भाँति झल्ला उठी। फिर, अविश्वास के से बिखरे कण्ठ स्वर में बोली—"वृद्ध बाबा यह तुम्हारा केवल एक स्वप्न है। जानते नही, वैशाली के ये सामन्त कितने बलवान हैं।"

यह कह वह तनिक रुकी। फिर चुटकी बजाते हुए बोली—"देखो तो, ए, यूँ... देखते ही देखते उस दासी कन्या को समाप्त कर देंगे, जिस पर कि तुम इतना गर्व कर बैठे हो।"

एक आगत यौवना के मुख से यह सब कुछ सुन कर भी वृद्ध खिन्न नहीं हुआ। उल्टे उसके अन्तर का उत्साह द्विगुणित हो उठा। उसके नेत्र प्रदीप्त हो गए। आत्मविश्वास के से दृढ़ कण्ठ स्वर में बोला—"ऐसा कदापि नहीं हो सकता पुत्रियो! और यदि हुआ भी तो निराश होने की आवश्यकता नहीं। मेरी अभागी पुत्रियो, वास्तव में तुम्हारे अन्दर का साहस मर चुका है और मर चुका है तुम्हारा आत्मविश्वास; तुम्हारे स्वाभिमान का गला समय के क्रूर हाथों ने घोंट दिया है, जो अब केवल निराशा की ही भाषा बोल सकता है। अन्यथा क्या तुम एक तथ्य को सामने देखकर भी इस प्रकार अविश्वास की बात करती? क्या तुम समझती हो कि देवी अम्बपाली ने अपनी आधी सम्पत्ति वैसे ही, बिना कुछ समझे बूझे, एक दासी कन्या को सौंप दी है? उसके पीछे भी तो कोई शक्ति ही होगी? यदि न होती तो तुम सभी आज देखते कि वैशाली में रक्त की नदियाँ बह उठी हैं।"

एक प्रौढ कम्मकर इस पर उत्सुकता का सा भाव दिखाते हुए तत्परता से पूछ उठा—"और वह शक्ति कौन सी है महाभाग?"

इसी मध्य एक दूसरा कम्मकर तत्परता से कह उठा—"रक्त की नदियाँ यदि आज न बहीं तो कल बह जाएँगी, पर एक दासी कन्या को किसी आर्य की सम्पत्ति मिल जाए, वैशाली में यह कोई सहज काम नहीं।"

वृद्ध वक्ता यह सुन इस बार कुछ खीझ-सा गया। किन्तु फिर भी प्रकट में किसी प्रकार अपने उल्लास को बनाए रख वह बोला—"तुम्हारी यह निराशा स्वाभाविक है। कारण, एक दीर्घ अवधि से दास रूप मे जो हमारा क्रय विक्रय होता आ रहा है, उससे हमारा विश्वास समाप्त हो चुका है, परन्तु एक दिन तुम अवश्य ही देखोगे कि हमारा यह अविश्वास निरर्थक था।"

इस वाद-विवाद मे हर्षोल्लास का वह रंग स्वतः फीका पड़ चला, जो कम्मकरों की इस धूम्राच्छादित बस्ती में दिन के एक प्रसग को सुन इस समय अनायास ही प्रारंभ हो गया था।

इसी मध्य हांफते आ रहे एक दास कम्मकर ने कम्मकरों की उस भीड में प्रवेश किया और फिर अपने उच्च कण्ठ स्वर मे बोला—"बन्धु जनो! सुना तुमने, अरे सुना नहीं क्या तुमने, आज सामन्त भंजदेव ने एक दास पुत्री छाया को किस बुरी तरह से पीटा है, इतना पीटा है कि उसका समूचा गात नीला पड़ सूज उठा है और वह अभागी अभी भी अचेत पडी है।"

यह सुन सभी अवाक् रह गए। भीड़ में से एक वृद्ध विक्षोभ के बोझिल कण्ठ-

स्वर में कह उठा—"बन्धुवरो, धैर्य रखो, यह गणसंवाहक का प्रतिशोध भाव है, और केवल हताश ही ऐसा आचरण करते हैं।"

पहले वाला वृद्ध वक्ता इस बार सावेश बोल उठा—"धैर्य रखो ? किस बात का ? सामन्त है तो क्या वह एक दासी कन्या को जान ही से मार देगा? अरे, मानवता भी तो कोई चीज होती है। यदि आज वह समर्थ है तो हम क्या जीवन को भी तरस जाएँगे ?"

यह सुन भीड़ के बीचों बीच खड़ा एक प्रौढ़ कम्मकर जैसे क्रोध के पर्णविश में ललकारता हुआ-सा बोल उठा—"वृद्ध रहने दो इस उपदेशना को, नहीं चाहिए हमें तुम्हारा यह साहस; क्या तुम हमें इस प्रकार प्रोत्साहित कर धधकती अग्नि ज्वालाओं की ओर नहीं धकेल रहे हो? याद रखो, सामन्त जन यदि एक बार भी प्रतिशोध की भावना से भभक उठे तो हमारा, हम सभी का वही हाल होगा जो आग की लपटों में निरीह कीट पतंगों का होता है। अत. कृपा कर, हमारी दशा पर दया कर हमें बस वहीं रहने दो जहाँ हम रहते चले आ रहे हैं। पूर्ण विनाश हो, इससे तो यही श्रेयकर है कि हमारा कैसा भी अस्तित्व शेष रह जाए। देवी अम्बपाली ने तो यह हमारे अस्तित्व को समूल नष्ट करने का ही अनुष्ठान किया है। बंधुओ ! उसे कृपा कदापि न समझो, और यदि उसे कृपा समझो तो पहले अपने विनाश की कल्पना भी कर लो।"

प्रौढ कम्मकर आवेश मे यह सब कुछ अबाध गति से कहता चला गया। बहुत कुछ कह चुकने के पश्चात् भी उसे लगा, जैसे अभी और भी बहुत कुछ कहने को शेष रह गया है। सभी उसकी बात को ध्यान से सुनते रहे और दासी बालाएँ उसके इस वाक्-सामर्थ्य पर मुग्ध हो उठीं। अपनी ही बात का समर्थन होते देख उनके नेत्र प्रदीप्त हो उठे। परन्तु पहले वाला वृद्ध यह सब कुछ सुन न केवल अवाक् रह गया, वरन् उदास भी हो उठा। एक बारगी किसी आशंका से उसका समूचा अंतर प्रकम्पित हो उठा। कुछ समय पूर्व तक के उसके उत्साह-ज्योतित नेत्रों में निराशा की गहनता छा गई। उसका मुख निस्तेज हो उठा तथा वह अपने को निर्जीव की भाँति अनुभव करने लगा ; और, सहारे के लिए उसने निकट बैठे एक युवक की ओर देखा। साथ ही, अन्य की दृष्टि भी उधर की ओर घूम गई। अपने मध्य एक अभिजात दीखते युवक को देख वे सभी दंग रह गए।

युवक के मुख पर आत्मविश्वास की मुस्कान खेल रही थी। वह अपने स्थान पर अत्यन्त शान्त भाव से उठ खड़ा हुआ, फिर बोला—"भद्रजनो !"

दास कम्मकर इस प्रकार के सम्बोधन के अभ्यस्त नहीं थे। अत: उन्होंने समझा यह युवक निश्चित ही उनका उपहास कर रहा है। परन्तु उनमें से अनेक ने उसे गत दिनों से अपनी बस्ती में आते-जाते देखा था, अत: उपहास का भ्रम अधिक देर तक मन मे टिका नहीं रह सका। फिर भी ससभ्रम दृष्टि से वे एक दूसरे की ओर अवश्य देखते रहे। युवक पुन: बोल उठा:—"भद्रजनो ! शायद तुम सभी मेरे सम्बोधन पर कुछ चकित हुए हो। पर क्यों ? क्या वैशाली में भी इस बात पर चकित होने की आवश्यकता है ? क्या तुमने आज, दिन में, देवी आम्रपाली को यह कहते नहीं सुना कि कर्म ही धर्म है, और दासी कन्या दासी कन्या नहीं वरन् एक कलाकार है; उसका धर्म कला है। भद्र

फिर भला भगवान् तथागत से भी बड़ा कोई धर्मावतार है। जानते हो, आज उन्होंने अपने प्रधान शिष्य से क्या प्रश्न किया था? उन्होंने आनन्द से पूछा था—"क्यो आयुष्मान आनन्द, भला इस संसार में सबसे बडा दास कौन है? जानते हो, तब आनन्द ने क्या कहा था? श्रद्धास्पद आनन्द ने तब भगवान् के दिव्य रूप को मस्तक नवा कहा था—तथागत, भला आपसे बड़ा दास कौन है?"

यह सुन, श्रोता कम्मकरों के नेत्र जैसे किसी नव प्रस्फुटित आलोक का स्पर्श कर प्रदीप्त हो उठे। एक प्रौढ़ कम्मकर के मुख से अनायास ही निकल गया—"बंधुवर, हम उस समय भला वहाँ कैसे होते? हम तो उस समय दूरस्थ ईक्ष कर्मांतों में गुडाई कर रहे थे अथवा सेट्ठी भित्तविदक की बडी-बड़ी गाँठों को अपनी पीठों पर लाद, उसके कोठारों मे पहुँचा रहे थे, अथवा किसी अन्य कर्मशाला में कार्य व्यस्त रहे।"

युवक इस मध्य, जैसे उसकी बात को बड़े ध्यान से सुनता रहा। कम्मकर जब अपनी बात कह चुका तो युवक फिर बोला—"मित्रवर, कार्य रत रहने से तो बढ़कर कोई पावन धर्म ही नहीं। किन्तु जो बात मैं कहने लगा था, वह तो कुछ और ही है। जानते हो वैशाली एक देव भूमि है, ऐसी देव भूमि जहाँ सभी समान होने चाहिएँ। और जब यहाँ इस गणराज्य की स्थापना हुई थी, तब यहाँ सभी समान भी थे। इस देव भूमि का कभी भी युद्ध में विश्वास नहीं रहा। हाँ, यदि कोई उस पर आक्रमण करे तो आत्मरक्षा में लड़े जाने वाला युद्ध, युद्ध कदापि नही कहा जा सकता। तो, जब वैशालिकों का युद्ध में विश्वास नहीं, फिर विजितों अथवा विजयी का भेदभाव यहाँ कैसे आ गया। उन्मत्त विजयी लोगों ने ही तो विजितों को दास बनाया है। दास कौन हैं? जो विजित हैं; वे ही दास हैं। बन्धुओ, कदाचित् तुम मानव जाति के इस कलंकपूर्ण तथ्य को भूल गए हो। वैशाली में कोई विजयी नहीं, सभी समान हैं। क्यों? क्योंकि उसने कभी भी किसी विजय के लिए युद्ध नहीं किया। फिर विजित कैसे? दास कैसे?"

सम्मुख ही खड़े एक कम्मकर ने साश्चर्य पूछा—"बंधुवर, तो फिर हम सभी यहाँ कैसे आए?"

वक्ता युवक बोल उठा—"मित्र, तुम्हारा यह प्रश्न तो सचमुच चकित करने वाला है। तुम अनायास ही तो एक महत्त्वपूर्ण प्रश्न पूछ बैठे हो। तो फिर सुनो, तुम्हारा आज का यह अत्यधिक श्रम-सामर्थ्य बता रहा है कि कभी तुम भी बलवान रहे होगे। देवी शक्ति तुम्हारी सहचरी रही होगी, और देवी सिद्धि ने भी किसी दिन स्वयं अपने हाथों से तुम्हारे उन्नत ललाट पर समृद्धि का तिलक लगाया होगा; और तब तुम भी इस माता वसुन्धरा की गोद में स्वच्छन्द रूप से विचरण करते होगे। तुम उस भू भाग के निश्चय ही स्वामी रहे होगे। तब किसी महत्त्वाकांक्षी पड़ौसी ने ईर्ष्या-दृष्टि से तुम्हारी ओर देखा होगा; उसी प्रकार, जिस भाँति कि आज मगध वैशाली की ओर देख रहा है, कोशल कासी की ओर और अवन्तिका कौशाम्बी की ओर; और मगध ने तो अंग राज्य को अभी-अभी परास्त कर अपने में मिला भी लिया है। ऐसे ही एक दिन तुम्हारी भी पावन भूमि पर किसी ने क्रूर प्रहार किया होगा, तब तुम

हार गए होंगे और वे जीत गए होंगे। परास्त हुओं को बन्दी बना लिया होगा, और फिर आप सभी को निस्सहाय अवस्था में यत्र-तत्र बेच दिया होगा। क्यों ? इसलिए कि कभी फिर तुम्हारा स्वाभिमान न जाग उठे।" कहते-कहते वह सहसा रुक गया। उसका कण्ठ स्वर जैसे आत्म ग्लानि से कुछ बोझिल-सा हो गया। उसके आत्म विश्वास प्रदीप्त नेत्रों में अंतर्व्यथा का-सा भाव उभर आया। सभी एकत्र कम्मकर मन्त्र मुग्ध हुए से उसकी ओर देखते रहे।

तनिक रुकने के पश्चात् वह युवक फिर बोला—"और बन्धुवरो, इन राज्य लिप्सु राजाओं के संरक्षण में फिर स्वार्थी सार्थवाहों ने दासों का एक नियमित व्यापार ही प्रारम्भ कर दिया। जैसे वे मनुष्य नहीं वरन् कोई निर्जीव पदार्थ हों। और, तुम यहीं भूल गए हो कि तुम कहाँ से आए। पीढ़ी दर पीढ़ी और कालान्तर के दुर्दिनों ने तुम्हे इतिहास का केवल एक भूला भटका पन्ना बना कर छोड़ दिया है। किन्तु वैशाली में ·····"

सहसा, रात्रि के उस अन्धकार में नगर की ओर से दौड़ते आ रहे अश्वों की पद चाप गूंज उठी। उसे सुन सभी का ध्यान उस ओर आकृष्ट हो उठा। युवक भी कहते से रुक गया। सभी उपस्थित कम्मकर इस समय आतंकित प्रतीत हुए। पद चापों की अधिकाधिक स्पष्ट ध्वनि उनके इस मुख भाव को प्रगाढ़ करती चली। वक्ता युवक कुछ क्षणों तक उनकी ओर देखता रहा। फिर सहसा जैसे आह्वान करता हुआ उच्च स्वर मे बोल उठा—"माता वसुन्धरा के उपेक्षित पुत्रो ! वैशाली के गौरव के प्रतीक उस गण संथागार की ओर देखो, जो तुम्हें विचार स्वातन्त्र्य के आत्म विश्वास के लिए ललकार रहा है, और उच्च स्वर में पुकार-पुकार वह कह रहा है कि किसी दिन बहिष्कृत किए गए व्रात्यों का यदि मैं आदर्श हूँ तो मेरे इस स्वरूप निर्माण में तुम्हारा भी हाथ लगा है यदि मैं आज वैशाली का देव मन्दिर बन सका हूँ तो फिर मेरे लिए सभी समान हैं, समूची मानव जाति के लिए मैं समान हूँ। जो भी मेरी आधारशिला में रखे आदर्श का सम्मान करे, मैं उसी का हूँ; फिर क्या स्वामी और क्या दास ! यह सब कुछ भ्रम है। स्वार्थों का प्रपंच है। अतः साहस कर मेरे आलिंगन में आओ। जो कुछ मैं कह रहा हूँ तथागत ने उससे कुछ भी तो भिन्न नहीं कहा है। और देखो, उन्होंने अपने भिक्षु संघ की—उस भिक्षु संघ की जहाँ उपालि नापित और देवदत्त शाक्य पुत्र तथा मोग्गलायन ब्राह्मण सभी समान हैं—मेरे स्वरूप से प्रेरित हो रचना की है। फिर भला तुम्ही मेरी ओर अविश्वास की दृष्टि से क्यों देख रहे हो ?"

युवक का कण्ठ फन गया, किन्तु फिर भी वह कहता रहा—'ऐ माता वसुन्धरा के बहिष्कृत, विस्मृत पुत्रो, पदचापों की ध्वनि के साथ बढ़ते आ रहे संकट से मत घबराओ। तथागत ने आज हमें एक नई दिशा दी है तथा उस दिशा में अग्रसर होने के लिए मार्ग भी दिखाया है। उनके सद्धर्म का आचरण कर हम प्रस्तुत संकट का विनय और शील से सामना करेंगे। क्यो ? क्योंकि हमारा पक्ष बलवान है।"

सहसा उसके कण्ठ स्वर पर पदचापो की ध्वनि आच्छादित हो रही। अश्व सर्वथा निकट पहुँच खड़े हो गए। युवक तत्परता से भीड़ के मध्य से निकल अश्वारोहियों की ओर बढ़ फिर बोल उठा—"बन्धुवरो ! आश्वस्त रहो। इस संकट में मैं

तुम्हारे साथ हूँ। हम एक है। जब एक हैं तो कोई भी हमारा कुछ नहीं बिगाड़ सकता। हमारा लाभ ही होगा, हानि नहीं।"

कम्मकर कुछ आतंकित और कुछ उत्सुक दृष्टि से उसकी ओर देखते रहे।

अश्वारोहियों का एक पूरा गुल्म इस समय वहाँ आया था। उनमें से एक तत्परता से अपने अश्व से उतर कम्मकरों के समुदाय की ओर बढ़ लिया। शेष आरोही भी अश्व से नीचे कूद गए। परन्तु वे अभी वहीं खड़े रहे।

वातावरण संदिग्ध हो उठा और कम्मकर समुदाय के पूरे आकार-प्रकार पर निस्तब्धता छा गई; जैसे वह किसी तूफान से पूर्व की शान्ति हो।

किन्तु अश्वारोही ने सम्मुख खड़े युवक का अभिवादन किया और फिर तत्परता से एक पत्र उसकी ओर बढ़ा दिया। जब तक युवक ने वह पत्र पढ़ा, सभी उपस्थित जन उसकी ओर उत्सुकता से देखते रहे। पत्र पढने के पश्चात् युवक बोला—"अच्छा बन्धुओ, मैं चला। गणाध्यक्ष राजा चेटक ने मुझे तत्काल अपने दुर्ग में उपस्थित होने का आदेश दिया है।"

दिन भर के थके माँदे कम्मकर यह सुन स्तब्ध रह गए। आशंका से उनके क्लांत मुखों की खिन्न आभा और फीकी हो उठी। फिर भी वे सोत्साह एक स्वर में बोल उठे—"अज्ञात युवक तुम निश्चय ही हमारे त्राता हो, भविष्य की आशा हो, हम तुम्हें इस प्रकार एकाकी कदापि न जाने देंगे। हम सभी तुम्हारे साथ चलेंगे।"

युवक के मुख पर जैसे विनय की सहज मुस्कान खेल उठी। वह बोला—"नहीं बन्धुओ, ऐसी कोई बात प्रतीत नहीं होती, और यदि हुई भी तो······।"

और फिर वह तत्परता से एक वृक्ष से बधे अपने अश्व की ओर अग्रसर हो लिया।

सात

प्रत्यूष के धुंधलके में कई रथ अनुक्रम से एक प्रासाद के द्वार को आवेग के साथ फांद, और भी अधिक तीव्र गति से आगे की ओर बढ लिए; और फिर वे सभी घरति मुख्य राजपथ पर सरपट दौड चले।

उनकी गड़गडाहट से महनगारी का वह प्रान्तर तो गूंज ही उठा; पीछे छूटता हुआ मार्ग भी दहलता रह गया। तथागत के दर्शन को निकले कतिपय नागरिकों ने जब इस बेला विशेष में अभियान का सा यह दृश्य देखा तो वे सहम गए। वे सभी, वहीं रुक खड़े हो, इस दृश्य को देखते रहे।

वृक्षों के झुरमुट में अभी-अभी पक्षियों का कलरव प्रारम्भ हुआ था। घरति रथों के इस कोलाहल में उनका यह समवेत स्वर विलीन हो गया और निकटवर्ती आवासों में सोए पड़े नागरिक चौंक कर उठ बैठे।

कई रथ निकल चुके थे, फिर भी प्रासाद विशेष के द्वार मंडप के दोनों ओर अभी भी अन्य अनेक रथों की लम्बी पांत खडी थी। सम्मुख प्रांगण में शिविकाएँ टिकीं थीं और वृक्षों से अश्वों की वल्गाएँ बधी हुई थीं। अभिजात समाज के कुछ सदस्य जा चुके थे, और कुछ सोत्साह अभी तक वहीं द्वार मण्डप के पास परस्पर वार्ता व्यस्त थे। गणसंवाहक सामन्त भंजदेव प्रत्येक जाते हुए सामन्त अथवा श्रेष्ठिजन को नम्रता की जैसे प्रतिमूर्ति बन, नत मस्तक हो विदा कर रहे थे और कह रहे थे—"आयुष्मान ने इस आवास पर पधार सचमुच अत्यन्त कृपा की है।"

वह इस समय अत्यन्त प्रसन्न चित्त थे। उनका अंतराल उत्साहोच्छ्वास से स्फुरित था और नेत्र आत्म विश्वास से दमक रहे थे। महाश्रेष्ठी मणिरत्न जब चलने लगे तो उन्होने उन्हें जैसे भावविभोर हो अपने आलिंगन-पाश में ही कस लिया। फिर बोले—"बंधुवर ! आदि व्रात्यदेवों ने निश्चय ही यह हमारी परीक्षा ली है। किन्तु आज की इस सभा के सफल आयोजन को देख, अब हमें निराश होने की आवश्यकता नहीं रह गई। मित्रवर, इसका श्रेय केवल आप ही को है।" यह कहते हुए उन्होंने आलिंगन पाश को और दृढ़ कर लिया और साथ ही निकट खड़े श्रेष्ठी भित्तविदक की ओर दृष्टि फेर, पूछा—"क्यों आयुष्मान्, मैंने इसमें कुछ अनुचित तो नहीं कहा ?"

गणसंवाहक ने यह सर्वथा सहज ढंग में कहा था, फिर भी श्रेष्ठी भित्तविदक ने अपने को गौरवान्वित हुआ अनुभव किया। प्रकट में उसके मुख पर सौम्यता एवं संकोच का सा मिश्रित भाव फैल गया। नतमस्तक हो बोले—'आर्य, आप दोनों ही तो अभिजात समाज के गौरव पूर्ण मुकुट हैं।"

यह कह, श्रेष्ठी भित्तविदक ने अपने समवयस्क सामन्त कार्तिकेय की ओर देखा। सामन्त कार्तिकेय श्रेष्ठी भित्तविदक की ही बात को जैसे आगे बढ़ाते हुए बोल उठे—'मित्र श्रेष्टिन्, आपने यह उचित ही कहा है। तनिक सोचो तो, इन दोनों श्रद्धास्पदो के नेतृत्व के अभाव में भला हमारी क्या गत हुई होती ?"

इसी मध्य, महाश्रेष्ठी मणिरत्न सामन्त भंजदेव के कसे आलिंगन में एक पक्षी की भाँति फड़फड़ा उठे। सविनोद बोले—"बन्धुवर, इस आयु में तुम्हारा यह दृढ आलिंगन ! इस संघर्ष में यदि तुम अकेले भी होते तो पर्याप्त था, इतने आयुष्मानों को व्यर्थ ही, भला काहे कष्ट दिया।"

गणसंवाहक इस पर खिलखिला पड़े। साथ ही अन्य भी। तत्पश्चात्, गण-संवाहक जैसे गम्भीर हो बोले—"मित्रवर, इस सशक्त आलिंगन का रहस्य जानते हो ?"

महाश्रेष्ठी को विदित था कि गणसंवाहक इसका क्या कारण बताएँगे, अत: वह केवल मुस्कुराते हुए उनकी ओर देखते रहे। किन्तु द्वार-मण्डप में खड़े अन्य सभी उनकी ओर उत्सुकता से देखने लगे। महाश्रेष्ठी को मुस्कराते देख गणसंवाहक स्वयं ही बोल उठे—"महाश्रेष्ठिन्, आलिंगन की इस दृढता का रहस्य ये आयुष्मान ही हैं, इनके उत्साह ने उदास मन को कितनी शांति प्रदान की, मेरे पक्ष को कितना सुदृढ़ किया है, और उनके इस सहयोग से मैं परम्पराओ की रक्षा के प्रति कितना आशावान् हो उठा हूँ, यह सब कुछ इन्हीं आयुष्मानो की तो देन है।"

इस पर सभी उपस्थित सामन्त एवं श्रेष्ठिजन् नत मस्तक हो बोले—"आर्य हमें लज्जित न करें।"

फिर, सामन्त कार्तिकेय का अकेला स्वर बोल उठा—"आर्य, आपने इस विश्राम योग्य वयस का ध्यान न करते हुए भी इस सघर्ष में जो आह्वान किया है, वह हम सभी के हितो की दृष्टि ही से तो किया है। आपका उसमें निज का भला क्या स्वार्थ था ?"

सभी कह उठे—"बन्धुवर कार्तिकेय ! तुमने यह तो सचमुच हम सभी के मन की बात कह डाली।"

गणसंवाहक उच्च स्वर में बोल उठे—"आयुष्मानो, तुम्हारा यह विनय उच्च कुल गौरवोचित ही है। सारी रात्रि जागरण करते रहने के पश्चात् भी तुम्हारा यह उत्साह देखकर मुझे तो सचमुच गर्व का अनुभव हो रहा है।"

तनिक रुक वह फिर बोले—"व्रात्यों की कीर्ति पताका फहराने वाले आयु-ष्मानो ! हाँ, एक बात तो मैं तुम सभी से कहना भूल ही गया। आज रात्रि यहाँ क्या कुछ मंत्रणा हुई है अभी उसे गुप्त रखना ही श्रेयस्कर है। उसका भेद खुलते ही विपक्षी सचेष्ट हो उठेंगे और हम संघर्ष का साहस खो बैठेंगे। अत: इस ओर से पूर्ण सावधान रहने की आवश्यकता है।"

सभी एक स्वर मे कह उठे—"आर्य आश्वस्त रहे।"

तत्पश्चात्, वे एक-एक कर एक दूसरे से सोल्लास विदा लेते हुए अपने-अपने वाहन की ओर बढ़ लिए। वे क्या बढ़े जैसे वैशाली का कोई घटना क्रम ही आगे की ओर बढ़ लिया।

उधर, क्षितिज पर भोर की फूटती प्रथम किरण के साथ-साथ एक भद्र वाहन

पवन गति से दौड़ता देवी आम्रपाली की अट्टालिका के निकट पहुँच, सहसा रुक खड़ा हो गया।

वाहन के रुकते ही, उसमें से एक युवक सैनिक की सी तत्परता के साथ नीचे उतरा। प्रातःकाल के वायु-झोंको से उसका उत्तरीय कुछ-कुछ अव्यवस्थित हो उठा था। वह दाएँ हाथ से उसे संवारता तथा बाएँ हाथ से सिर के बिखरे केशों को तत्परता से व्यवस्थित करता आगे बढ रहा था। किन्तु उसने अभी कुछ ही डग रखे होंगे कि वह सहसा रुक खड़ा हो गया; उसकी दृष्टि सन्मुख खडी अट्टालिका पर केन्द्रीभूत हो रही। नील वर्णा अट्टालिका के भव्य रूप पर प्रात. बेला की पड़ती स्वर्णिम सूर्य रश्मियों के सहयोग में उसका सुर्चित रूप और मुखरित हो उठा। उसकी यह छवि देख युवक की मुख आभा भी अधिक परिमाण मे प्रदीप्त हो उठी। उसका गौर वर्ण, उन्नत ललाट, उठी नासिका, विशाल वक्षस्थल, सुडौल भुजदड तथा नेत्रों में से झाँकता आत्मविश्वास स्पष्ट ही उसके कुलीन होने का परिचय दे रहे थे। परन्तु उसकी नेत्रदृष्टि मे कुछ और असाधारण भी था; और वह था उसके हृदय का कोमल भाव, जिसमें से अत: वेदना की एक क्षीण रेखा स्पष्ट झलक रही थी। अपनी इस सवेदन शील आर्द्र दृष्टि के साथ वह जिस किसी की ओर भी देख लेता, उसमें सहज ही मे आत्मीयता के भाव का सचार हो उठता।

वह कुछ क्षणों तक वहीं खड़ा रह जैसे अट्टालिका के भव्य रूप को निहारता रहा। उसके मुख पर एक व्यथा भाव झलक आया और फिर उस पर शीघ्र ही एक सहज मुस्कान फैल गई। बाहर निकलते श्वास के साथ उसका भी अन्त: भाव ध्वनित हो उठा। वह बोला—"देवी शिष्या, सचमुच तुम अत्यन्त अबोध हो, अन्यथा क्या आज इस अट्टालिका ने यह रूक्ष रूप धारण किया होता।"

फिर, जैसे अपने ही को समझाता, मन ही मन में 'चलो कोई बात नहीं' कहता हुआ वह पूर्वकी हीं तत्परता के साथ अट्टालिका के मुख्य प्रवेश द्वार की ओर बढ़ लिया।

देवी आम्रपाली की अट्टालिका पर सारी रात्रि दृढ पहरा रहा था; और प्रधान द्वारपाल शंबुक पहरे को अभी-अभी शिथिल कर मुख्य द्वार के ही सम्मुख पड़े एक शिलाखंड पर आकर बैठा था। रात्रि बिना किसी व्याघात के बीत सकी, इस पर उसने मन ही मन भारी सन्तोष का अनुभव किया। अत: शिलाखड पर बैठते ही उसके निद्रा-बोझिल नेत्रों में एक झपकी सी आ गई। किन्तु केवल कुछ क्षणों पश्चात् हो जब उसके कानों में रथ-ध्वनि टकराई तो वह पुनः सचेष्ट हो उठा। चौंककर वह शिलाखड से उठ खड़ा भी हो गया। अत्यधिक थका होने के कारण कदाचित् कुछ झल्लाया भी। निद्रा आलस्य से आई जम्हाई के साथ उसका खुला मुख कुछ बड़-बड़ा भी उठा। बोला—"अरे ओ मातंगपुत्रो, अब क्या यहाँ देवी आम्रपाली बैठी है; जो इस प्रातः बेला में यूं सिर पटकने आ पहुंचे।"

किन्तु फिर शीघ्र ही उसे जैसे कोई बात स्मरण हो आई। वह सशंक हो उठा और हाथ यत्र गति से स्वत: बाईं ओर लटकते खड्गकोष पर जा पहुँचा। वक्र दृष्टि से आगंतुक की ओर देखता सावधान हो वह द्वार छिद्र के सम्मुख तन कर खड़ा हो गया।

द्वार छिद्र पर खड़े हो उसने इस बार अपने नेत्रों को पूरा खोल, फैली दृष्टि से

आगंतुक की ओर देखा; किन्तु शीघ्र ही उसके प्रति उपेक्षा का सा भाव दिखा अपनी दृष्टि को समेट भी लिया। वास्तव में एक दीर्घ अवधि से देवी आम्रपाली की सेवा में नियुक्त रहने के कारण इस प्रकार असमय में आये सभी जनों के प्रति उपेक्षा का भाव दिखाना उसके स्वभाव का प्रमुख अंग बन चुका था। कभी-कभी उन्मत्त दशा अथवा विक्षिप्त-प्राय अवस्था में आए किसी सामन्त अथवा श्रेष्ठी-पुत्र को तो वह जैसे साधिकार दुत्कार भी उठता था।

किन्तु आगंतुक युवक जब सर्वथा अविचलित रह सहसा उसके सम्मुख ही आ खड़ा हुआ तो वह निश्चित ही स्तब्ध हो उठा। युवक की ढिठाई पर नहीं वरन् उसके इस आकस्मिक आगमन पर। अगले क्षण ही उसके मुख का भाव परिवर्तित हो रहा। स्तब्धता से अवरुद्ध रक्त धमनियों में नवोत्साह का सचार हो उठा और मुख का गाढ़ा वर्ण उल्लास से दीप्त हो गया। नेत्र भी दमक उठे। वह हर्षातिरेक से पुलकित हो उठा। उसने सोल्लास अपने बाईं ओर लटकते कोष में से खड्ग को खींचा, फिर दोनों हाथों को हवा में उछालते हुए वह स्फुरित कण्ठ स्वर में बोला—"आचार्य शिष्य की जय हो! आज इस बेला में आप के शुभ दर्शन कर यह शंबुक सचमुच धन्य हो गया है, महाप्रभो।"

उसके समूचे अन्तराल में भावोद्गारो की एक साथ ही तो सहस्रों धाराएं फूट निकलीं। उसका कण्ठ स्वर यह कहकर भी और अधिक आवेग के साथ गद्गदाता रहा। किन्तु वह और अधिक कुछ न कह, अपना मस्तक नत कर, शान्त भाव से ऐसे खड़ा हो गया जैसे कोई आदेश पाने की प्रतीक्षा कर रहा हो। विनम्रता से उसका मस्तक अधिकाधिक नत होता रहा, किन्तु साथ ही वह उसी परिमाण में गर्व का भी अनुभव कर उठा।

शबुक द्वारा प्रस्तुत इस अभिवादन के उत्तर में आगंतुक युवक का मुख भी एक सहज मुस्कान बिखेर उठा। साथ ही उसके कण्ठ स्वर में जैसे अत्यधिक आत्मीयता का भाव सिमट आया। पूछने लगा—"क्यों मित्रवर शंबुक, सब सकुशल तो हैं न ?"

भीमकाय दीखते प्रधान द्वारपाल का मस्तक इस प्रश्न के उत्तर में सौजन्य से और अवनत हो गया। उसका रोम-रोम जैसे कृतज्ञता का अनुभव कर उठा। बोला—"यह सब स्वामी की ही कृपा है आर्य, कि रात्रि बिना किसी व्याघात के बीत गई।"

तनिक रुक वह फिर कुछ व्यथित हुए से कण्ठ स्वर में बोला—"किन्तु स्वामी, देवी शिष्या ने समूची रात्रि ही तो दुविधा में बिताई है।"

"भला क्यों शंबुक ?" आचार्य शिष्य के मुख से यह प्रश्न जैसे स्वतः निकल गया। किन्तु प्रश्न के साथ ही उसका मुख भाव जैसे कुछ विचलित हो उठा।

शंबुक ने उत्तर में अपने नेत्र पलक ऊपर उठा आचार्य शिष्य की ओर देखा। वह कुछ कहने को उद्यत भी हुआ कि उससे पूर्व स्वयं आचार्य शिष्य कह उठा—"शंबुक, देवी शिष्या की दुविधा से मैं अनभिज्ञ नहीं। उसकी यह मनोव्यथा स्वाभाविक ही है। तो भी, उसे अपना दायित्व तो समझना ही चाहिए।"

देवी शिष्या की भला क्या दुविधा होगी, और इस दुविधा के मध्य भी उसे अपना कौन-सा दायित्व समझना चाहिए, शंबुक भी उससे अनभिज्ञ नहीं था। तो भी, वह इस समय मौन रहा। फिर स्वयं ही उस मौन को भंग कर, उल्लसित कण्ठ स्वर में बोल उठा—"स्वामी आपके इस आगमन के समाचार को सुन देवी शिष्या निश्चित

ही हर्षित हो उठेंगी, अतएव मुझे संवाद निवेदन का आदेश करें।"

आचार्य शिष्य की दृष्टि इस समय अट्टालिका पर केन्द्रित थी; और उसका मन दुविधा ग्रस्त देवी शिष्या की ही कुछ बात सोच रहा था। अतः वह अपनी उन्मन मनःस्थिति के कारण शंबुक के प्रश्न का तत्परता से उत्तर न दे सका। इसी मध्य शंबुक पुनः बोल उठा—"आर्य, जब तक मैं स्वामिनी के पास संदेश पहुँचाने की कुछ व्यवस्था करूँ, आप आस्थानागार में पधार विश्राम करें। महाप्रभो, इसमें आपको कोई कष्ट तो न होगा?"

प्रथम दृष्टि में ही दास जातीय दीखने वाले द्वारपाल के मुख से शिष्टाचार की यह भाषा सुन आचार्य शिष्य चकित हुए बिना न रहा। परन्तु आश्चर्य से भी अधिक उसके अंतर में आशा का संचार हो उठा, और फिर साथ ही जैसे किसी की दयनीय स्थिति का ध्यान कर उसका हृदय टीस से कराह उठा। मन में, अपने में ही बोला—'ध्वजधर, मानव के अन्दर बैठी एकाधिकार की स्वार्थपूर्ण महत्त्वाकांक्षा ने देखो तो अपना ही रूप कैसा विकृत कर लिया है। एकाधिकार की इस घृणित महत्त्वाकांक्षा ने युद्ध की कैसी-कैसी भयावह विभीषिकाओं को जन्म दिया है। फिर भी वह उस पर लज्जित नहीं, वरन् उल्टे उसे गर्व है, गर्व है इस बात पर कि उसने अपने ही स्वाभिमान को कुचल डाला है और वह एक ऐसी परम्परा का सूत्रपात करने में सफल हुआ है, जिसमें उसकी आने वाली सभी पीढ़ियाँ भयाक्रान्त रहेंगी। फलस्वरूप वह अपने ही प्रति संदिग्ध हो उठा है। संदेह के वशीभूत हो कर वह एक दूसरे का गला घोटने पर उतारू हो गया है। वास्तव में, निरीह मानव ने जब युद्ध का सूत्रपात किया, वह उस समय यही भूल गया कि उसकी विजय कोई स्थायी विजय नहीं है। किसी दिन वह स्वयं भी विजित हो सकता है और जैसे वह किसी को विजित कर उसे दास बना सकता है, वैसे ही वह स्वयं भी इतिहास के क्रूर हाथों के कशाघात से दास बन सकता है, और एकाधिकार का स्वामी बनने वाला, जीवन के आधार भूत अधिकार से वंचित हो, एक पशु का जीवन बिताने के लिए भी बाध्य हो सकता है।'

अपने इस विचार प्रवाह में वह जैसे भटक-सा गया। उसको यथापूर्व गतिमान् देख वह पुनः अपने ही से बोला—'ध्वजधर, इसका कोई अंत नहीं और यदि अन्त है तो तथागत का वह मार्ग है, जो युद्ध-त्रस्त समूचे मानव समाज को सद्भाव की ओर आह्वान कर रहा है, और अनुकरणीय है देवी आम्रपाली का वह त्याग, जिसके फलितार्थ रूप में आज इस देवी शिष्या का सृजन हुआ है।'

सहसा वह शंबुक की ओर दृष्टि कर बोल उठा—"मित्रवर शंबुक, देवी आम्रपाली ने एक महान् त्याग कर वैशाली के जीवन मे एक पुनीत परम्परा की स्थापना की है। देवी शिष्या को उसने जो कुछ भी प्रदान किया है, उसके फलस्वरूप वह निश्चित ही एक उज्जवल भविष्य की प्रतीक बन उठी है। देवी शिष्या को इस संघर्ष में केवल मुस्काना ही शोभा देता है, खिन्नता कदापि नहीं। शंबुक, देवी शिष्या को एक दिन अपना यह दायित्व समझना ही होगा।"

शंबुक ने उत्तर में कुछ कहना प्रारम्भ ही किया था कि इसी मध्य एक और रथ सावेग दौड़ता उधर की ओर आ पहुँचा। शंबुक के मुख से निकले शब्द उसकी

घरघराहट में ही विलीन हो गए। वह सशंक दृष्टि से उस ओर देख उठा। रथ के रुकते ही उसमें से एक साथ कोई दस सशस्त्र व्यक्ति सावेग नीचे कूद पड़े। उसकी दृष्टि बलात् निकट में खड़े आचार्य शिष्य की ओर घूम गई। उसे निश्शस्त्र देख उसके मुख का गाढ़ा रंग फीका पड़ गया। आचार्य शिष्य ने दास कम्मकरों की बस्ती में क्या कुछ कहा था, वह उसे सुन चुका था, और गणसंवाहक ने प्रतिशोध के वशीभूत दासी कन्या छाया की क्या दशा कर दी थी, वह भी उसे विदित हो गया था; और फिर देवी आम्रपाली ने भिक्षु संघ में प्रविष्ट होने से पूर्व उससे क्या कुछ कहा था, ये सभी बातें तो उसके मस्तिष्क में एक साथ सावेग घूम गईं। वह आचार्य शिष्य और देवी शिष्या की रक्षा के लिए देवी आम्रपाली से वचन बद्ध था, अतः वह इस समय जैसे भारी दुविधा में पड़ गया। आचार्य शिष्य को इस समय निश्शस्त्र देख वह खिन्न हो उठा। परन्तु इस समय न तो दुविधा का समय था और न ही खिन्न होने का।

रथ से उतरे सैनिक आवेग उसी दिशा में बढ़े आ रहे थे, और इस समय तक सर्वथा निकट पहुँच चुके थे। उन्हें इस प्रकार सन्निकट देख शंबुक को तत्काल बस यही उपाय सूझा कि वह तत्परता के साथ अपने स्थान से हट आचार्य शिष्य के सम्मुख आ गया और उसे अपनी ओट में ले लिया। किन्तु स्वयं आचार्य शिष्य इस पर खिलखिला पड़ा। उसे इस प्रकार हँसते देख शंबुक कुछ झल्ला-सा गया, पर वह आचार्य शिष्य से कुछ न कह सका; सम्मुख से आते सैनिकों को ही ललकार उठा। उसका खड्ग तो कोष से कभी का निकल ही चुका था; वह उसे ऊपर हवा में तानते हुए कुछ बड़बड़ा भी उठा, परन्तु इससे सैनिकों का बढ़ना नहीं रुक सका। वे उसी प्रकार आगे की ओर बढ़ते रहे। यह देख शंबुक का दैत्याकार रूप प्रचंड हो उठा। वह अपने ऊपर नियंत्रण न रख सका और इससे पूर्व कि वे कोई प्रहार करें, सावेग उनकी ओर बढ़ने को उद्यत हो उठा। आचार्य शिष्य इस पर जोर से चिल्ला उठा—"मित्र शंबुक!" परन्तु शंबुक ने, जैसे उसे अनसुना कर दिया। सम्मुख दिशा से आते सैनिक उसे इस प्रकार प्रहारोद्यत हुआ देख, वहीं रुक, खड़े हो गए। केवल खड़े ही नहीं हो गए वरन् हतप्रभ भी हो रहे। आचार्य शिष्य पुनः चिल्ला उठा—"शंबुक, तुम्हें शायद भ्रम हो गया है, वे गणसंवाहक के व्यक्ति नहीं वरन् गण पुरुष ही हैं।"

शंबुक यह सुन वहीं रुक गया। किन्तु उसके मुख पर आश्चर्य का भाव फैल उठा। उसने चकित दृष्टि से पहले तो आगतुक सशस्त्र सैनिकों की ओर देखा और फिर आचार्य शिष्य की ओर। सारे अनुमान लगाने के पश्चात् भी वह जैसे कुछ न समझ सका। इसी मध्य, सैनिकों का वह समूचा गुल्म आचार्य शिष्य का अभिवादन कर उठा।

शंबुक इस दृश्य को भी केवल चकित दृष्टि से देखता रह गया।

किन्तु आचार्य शिष्य ने अब और अधिक विलम्ब न कर उसे बताया—"मित्र शंबुक, देवी शिष्या की रक्षा का भार अब केवल तुम्हीं पर नहीं, मुझ पर भी है और ये सभी सैनिक आज से जब तक नगर की स्थिति सामान्य नहीं हो जाती, तुम्हारी इस कार्य मे सहायता करेंगे।'

तनिक रुक वह इस बार किंचित मुस्कान के साथ बोला—"मित्र शंबुक, तुम्हारा

आचार्य शिष्य इस समय कोरा आचार्य शिष्य ही नहीं बल्कि वैशाली का सुरक्षा प्रधान भी है और साथ ही ......"

शंबुक इस संवाद को सुन प्रसन्न हो उठा। हर्षातिरेक में वह अपने एकाकी, किन्तु गाढ़े स्वर में आचार्य शिष्य का जय-जयकार भी कर उठा। किन्तु अगले क्षण न जाने किस बात का ध्यान आते ही उसके मुख का प्रफुल्ल भाव लुप्त हो गया। सुरक्षा प्रधान आचार्य शिष्य जैसे उसके कारण को तत्काल ताड़ गया। अतः वह शंबुक की पीठ को थपथपाते हुए बोला—"मित्रवर घबराओ नहीं, अट्टालिका के सुरक्षा-दायित्व पर तुम्हारा अभी भी एकाधिकार है, ये सभी सैनिक तुम्हारे अधीन होंगे।"

इस घोषणा पर सभी उपस्थित सैनिक शंबुक का अभिवादन कर उठे। शंबुक का वक्षस्थल गर्व का अनुभव कर फूल गया। वह आचार्य शिष्य का अभिवादन कर नत मस्तक बोला—'यह सब आर्य की ही कृपा है अन्यथा वैशाली में भला कभी कोई आर्य गण पुरुष किसी दास जातीय के अधीन रहा है।"

इसी मध्य सभी का ध्यान द्वार कपाट की ओर से आती थपथपाहट की ध्वनि को सुन, उसी ओर आकृष्ट हो उठा। और उसे सुन शंबुक तो तत्परता से उसी ओर बढ़ लिया। छिद्र में से झाँक कर देखा तो विस्मित हो उठा। देवी शिष्या रजत आधार पर अर्घ्य सामग्री ले अट्टालिका की सभी परिचारिकाओं के साथ स्वयं द्वार पर आ उपस्थित हुई थी।

शंबुक के मुख पर हर्ष का प्रगाढ भाव छा गया। पर आचार्य शिष्य ने जब यह सुना तो वह संकोच एवं आनन्दोच्छ्वास का स्फुरण एक साथ ही अनुभव कर उठा। संकोचवश वह उस समय वहाँ से भाग खड़ा होना चाहता था किन्तु आनन्दोच्छ्वास से गुदगुदाता गात, जैसे यह स्वीकार न कर सका।

शंबुक ने कपाट खोल दिए। कपाटों के खुलते ही परिचारिकाओं से घिरी देवी शिष्या आगे बढ़ने को उद्यत हुई। फिर आचार्य शिष्य भी खड़ा न रह सका। मधु-पर्व वाले नृत्य के पश्चात् जिसे आचार्य शिष्य ने एक नहीं अनेक बार नेत्रकोरों से टटोलने का प्रयत्न किया था, आज उसी के साक्षात्कार का वह जैसे साहस खो बैठा। अंततः उच्छ्वसित हृदय और संकोच बोझिल पैरों से जब वह उधर की ओर चला तो नयन नत हो रहे, और कपोलों पर फैली आकर्ण लालिमा प्रगाढ़ हो उठी।

देवी शिष्या दासी कन्या ने अपने ऊर्ध्व भाग पर इस समय झीने वस्त्र का उत्तरीय डाल रखा था; और वह उत्तरीय, शीर्ष पर से खिसक नीचे नासिका तक उतर आया था; जिसने सहज ही में अवगुंठन का रूप ले लिया। अवगुंठन की ओट में से झाँकता देवी शिष्या का सौम्य रूप जैसे द्विगुणित हो उठा।

आचार्य शिष्य को सम्मुख देख देवी शिष्या के नत नयन और अवनत हो रहे। पर आचार्य शिष्य का संकोचशील मन गर्व का अनुभव कर उठा। किसी आत्मीय की कृपा कोर से जैसे सारा अंतर्जगत गद्गद् हो नृत्य कर उठता है, कुछ वैसा ही आभास इस क्षण आचार्य शिष्य को हो रहा। संकोच का स्थान उत्साहोच्छ्वास ने ले लिया। देवी शिष्या का संकोच भाव और संकुचित हो अपने में सिमट उठा। उसके मुख पर अभी भी दुविधा का सा भाव दीख रहा था। अन्ततः किसी प्रकार साहस कर

उसने अर्घ्य थाल में रखे कुंकुम को अपने अंगूठे पर लगा उसे आचार्य शिष्य की ओर बढ़ा दिया। तरुण आचार्य शिष्य ने अनुभव किया, जैसे किसी देवी का कृपा पूर्ण हाथ उसकी ओर बढ़ा चला आ रहा हो। उधर, देवी शिष्या को आभास हुआ, जैसे उसके लघु हाथ ने ऊपर नभ में देदीप्यमान किसी नक्षत्र के स्पर्श का प्रयास किया हो। इस दृश्य को देख सभी गद्गद् कण्ठ से दोनो का जय जयकार कर उठे।

तत्पश्चात् आचार्य शिष्य ने घोषणा की—"देवी शिष्या, गणाध्यक्ष राजा चेटक ने एक आदेश कर मुझे कृतार्थ किया है। जानती हो देवी, इस अकिंचन को आपका अभिभावक बनने का सौभाग्य प्राप्त हुआ है।"

उत्तर में देवी शिष्या कुछ कहने को उद्यत हुई पर उसके हृदय से निकले शब्द केवल ओष्ठो में ही फड़फडा कर रह गए। विवशता से वह अपना माथा ठोकती रह गई, प्रकट में नहीं, मन ही मन में।

किन्तु आचार्य शिष्य ने उसकी इस विवशता को भाँप लिया। फिर भी वह पूछ उठा—"क्यो देवी, क्या आपको मेरा यह परम सौभाग्य स्वीकार है ?"

देवी शिष्या ने इस बार जैसे अपने अतर का साहस बटोरने का प्रयास किया। पर वह शीघ्र ही नेत्रों में अश्रु-कण बन कपोल पर ढुलक रहा।

उसके मुख से भी एक निःश्वास निकल गया। फिर नत मस्तक हो सप्रयास बोली—"आचार्य शिष्य, यह तो मेरे जीवन का दूसरा सुमंगल प्रभात है, इस पर तो मैं जितना भी गर्व करूं······।"

उसके मुख पर पुनः संकोच, विवशता एवं गर्व का मिश्रित भाव प्लावित हो उठा; और सौम्यातिरेक में कपोलों की रक्तिमा प्रगाढ़ लालिमा में परिणत हो उठी।

और, अभिभावक आचार्य शिष्य ?

वह केवल अपने सौभाग्य को ही सराहता रह गया।

आठ

गण संवाहक ने जब यह समाचार सुना तो वह एक कड़वी घूंट पीकर रह गए। पर शेष अभिजात समाज उसे सुन उत्तेजित हो उठा। उनमे से अधिकांश गणसंवाहक के पास दौड़े-दौड़े भी आए। सावेश बोले—"आर्यवर, यदि शासन पक्ष का आप हर प्रहार इसी प्रकार सहन करते रहे, तो वह अवश्य ही यह समझ बैठेगा कि हमने उसके सम्मुख आत्म समर्पण कर दिया है।" इस पर वयोवृद्ध सामन्त हँसे बिना नही रहे। बोले—"आयुष्मानो, यदि वह ऐसा समझ ले, फिर तो बस यही समझो कि हमारा मार्ग और भी प्रशस्त हो जाएगा। और विपक्ष जिस समय प्रमाद में होगा, हम अवसर पा उस पर कोई ऐसा प्रहार करेंगे कि वह केवल देखता रह जाएगा। परन्तु आयुष्मानो, यह निश्चित ही भूल होगी। राजा चेटक अथवा इस आन्दोलन के वास्तविक सूत्रधार सेनापति सिंह कोई कम नीतिपटु नही। आयुष्मानो, विश्वास रखो सिंह सेनापति जितना उच्च कोटि का सैनिक है, उतना ही वह राजनीति में भी दक्ष है।"

गणसंवाहक के मुख से सेनापति सिंह की इस प्रकार प्रशंसा सुन उनमें से कुछ क्षुब्ध हो उठे। सामन्त वीरभद्र कुछ उत्तेजित हो बोले—"आर्यवर, क्या अपने विपक्षी की इस प्रकार प्रशंसा करना हमारे लिए उचित है?"

गणसंवाहक एक दीर्घ निःश्वास के साथ बोले—"आयुष्मान, यह तो मैं भी मानता हूँ कि उचित नहीं। किन्तु विपक्षी का बल वास्तविकता से कम आँकना भी तो कोई बुद्धिमता नहीं। किसी भी संघर्ष अथवा युद्ध के प्रांगण में विपक्षी को सदा अपने से अधिक बलवान समझ कर उतरना चाहिए, और जब उसमें एक बार कूद पड़े तो फिर केवल समान ही नही बल्कि उसे निर्बल समझे; ऐसा नीतिकारों ने कहा है, केवल नीतिकारों ने ही वरन् मेरा निज का भी तो यही अनुभव है।"

सभी उनके इस तर्क को सुन मौन हो गए। परन्तु गणसंवाहक उन्हें जैसे समझाते हुए फिर बोल उठे—"सभी आयुष्मान आश्वस्त रहें, अवसर आने पर वृद्ध सामन्त कभी चूकने वाला नहीं है, वह प्रहार करके ही रहेगा।'

और इन बातों को अभी पूरा एक सप्ताह भी नहीं बीता होगा कि गण महानगरी में एक अन्य समाचार विद्युत लहर की भाँति सर्वत्र फैल गया।

श्रेष्ठी-पुत्र कप्पिन लगभग छः मास पूर्व शरद् ऋतु के प्रारम्भ में अपना सार्थ ले पश्चिम दिशा में गांधार राष्ट्र की ओर गया था। यूं तो वह प्रायः प्रतिवर्ष ही अपना सार्थ उधर ले जाता था, परन्तु चार मास से अधिक का समय कभी भी न लगाता। अतएव उसके लौटने में इस प्रकार विलम्ब हुआ देख कौटम्बिकों का चिन्ता-

ग्रस्त हो उठना स्वाभाविक था। शनैः-शनैः यह चिन्ता जैसे सभी वैशालिकों की चिन्ता बन गई।

इसी बीच पश्चिम दिशा से आए एक संवाद विशेष ने सभी पौर जनों का ध्यान अपनी ओर आकृष्ट किया। सभी के मुख चिन्ता से मलिन हो उठे और यह संवाद विशेष था—"गांधार देश से इधर गंगा के उस पार एक पूरी की पूरी वन्य जाति पश्चिमोत्तर मार्ग पर आते-जाते सार्थों को लूटने में व्यस्त हो उठी है। अतएव जिसने भी यह संवाद सुना, वह इस प्रसंग विशेष से अत्यधिक चिन्तित हो उठा। कुल कन्याएं तथा नव वधुएं पूर्व उपांत स्थित यक्षेश मणिभद्र के चैत्य के सम्मुख जा, अपना मस्तक नवां आर्द्र कण्ठ स्वर में श्रेष्ठीपुत्र कपिन के सुरक्षित महानगरी लौटने की याचना करने लगीं।

नव नियुक्त सुरक्षा प्रधान आचार्य शिष्य ने भी इस सम्बन्ध में विशेष तत्परता दिखाई। संवाद मिलते ही उसने पूरे बीरा सशस्त्र अश्वारोहियों का एक दल महा-जनपथ की ओर प्रस्थित कर दिया था। किन्तु पूरा एक सप्ताह बीत जाने के पश्चात् भी जब उस ओर से कोई संवाद नहीं आया तो जन साधारण और शासकवर्ग समान रूप से व्याकुल हो उठे। अभिजात समाज ने तो इस सम्बन्ध में उनसे भी अधिक व्याकुलता प्रकट की। केवल व्याकुलता ही नहीं वरन् वह अत्यंत व्यग्र भाव से गण शासन तथा विशेषरूप में सुरक्षा प्रधान आचार्य शिष्य की भर्त्सना में व्यस्त हो उठा। इधर इस प्रकरण ने वैशालिकों के सम्मुख एक और नई समस्या उपस्थित कर दी।

गण महानगरी की परम्परा थी कि व्यापार कार्य अथवा किसी अन्य अभि-यान पर गए किसी भी पौर जन के सम्बन्ध में यदि कोई दुविधापूर्ण संवाद मिलता, तो उसी संध्या को तत्परता से स्थल यात्रा के संरक्षक देव यक्षेश मणिभद्र के चैत्य के सन्मुख विशेष नृत्य समारोह का अनुष्ठान किया जाता। यह आयोजन रात्रि पर्यन्त चलता रहता। अब तक इस नृत्य समाज का अनुष्ठान स्वयं कला पीठिका का अधि-ष्ठात्री, गण कल्याणी देवी आम्रपाली सम्पन्न किया करती थी। परन्तु इस समय यह पद रिक्त था। देवी आम्रपाली एक प्रकार से अपनी ही एक शिष्या देवी शिप्रा को उस के लिए सर्वथा योग्य घोषित कर गई थी, परन्तु उसके अभिषेक की दिशा में अभी न जाने कितनी बाधाएँ दीख रही थीं। अतः अधिष्ठात्री पद की यह रिक्तता इस समय सभी पौर जनों को बुरी तरह खटकने लगी। नागरिकों का यह असंतोष शासक वर्ग के लिए जैसे विशेष चिन्ता का कारण बन उठा। पर अभिजात समाज को जैसे एक स्वर्णिम अवसर ही हाथ लग गया।

प्रत्येक पौर जन की रक्षा का मुख्य दायित्व सुरक्षा प्रधान के ही कंधों पर था। अतएव इस समय सदैव उसके मुख पर चिन्ता की गहरी रेखा खिची दिखाई देती। उसका मस्तिष्क प्रत्येक क्षण ही कोई युक्ति खोज निकालने में व्यस्त रहता। विपक्षी इस अवसर का लाभ उठा कहीं कुछ कर न बैठे, इस ओर से भी उसे प्रति क्षण सावधान रहना पड़ता। वास्तव में, अपने दायित्व भार को वह जिस तत्परता एवं कौशल से निभा रहा था, उससे शासक वर्ग तो प्रसन्न हो ही उठा, जनसाधारण में भी अधि-कांश उसकी भूरि-भूरि प्रशंसा करने लगे। परन्तु कुछ नागरिक जन अभिजात समाज के

स्वर में स्वर मिला, सुरक्षा प्रधान पर अनुभव हीनता का आरोप लगा, उसकी कटु आलोचना करने में व्यस्त हो उठे। सुरक्षा प्रधान के साथ-साथ अब तो खुले तौर से समूचे शासक वर्ग की तथा उसमें विशेष रूप से महाबलाधिकृत सिंह सेनापति की निंदा होने लगी। इस प्रसंग में सिंह सेनापति पर केवल एक ही आरोप लगाया जाता। और वह था; उसने एक अज्ञात-कुल गुरुबन्धु को प्रश्रय देने के लोभवश समूची वैशाली हित का ही परित्याग कर दिया है। जब जनसाधारण में भी कुछ को इस प्रकार सिंह सेनापति अथवा गणाध्यक्ष राजा चेटक की आलोचना करते हुए अभिजात समाज के सदस्यों ने सुना तो उनका मन प्रसन्न हो उठा। इनके मुख पर विजय की मुस्कान फैल गई।

परन्तु आचार्य शिष्य न तो अपनी प्रशंसा पर फूला, और न ही आलोचना से क्षुब्ध हुआ। उसे तो केवल यही चिन्ता रहती कि श्रेष्ठी-पुत्र कपिन किसी प्रकार सकुशल वापस लौट आए। अतः उसने इस बार तत्परता से गण शासन में अथवा उससे बाहर नागरिकों के जितने भी द्रुतगामी अश्व थे, उनका चयन कर उन पर विश्वस्त सैनिकों का एक अन्य दल उसी ओर भेज दिया।

और, एक दिन वह स्वयं गणाध्यक्ष राजा चेटक के पास जा उनसे बोला—"आर्य की यदि स्वीकृति मिल जाए तो यह अकिंचन यक्षेश मणिभद्र की उपासना की समुचित व्यवस्था का कुछ प्रयास करे।" इस पर गणाध्यक्ष ने उत्तर में कहा—"आयुष्मान् जो भी उचित समझें अवश्य करें, गणशासन पूर्णत आपके साथ है। अभिजात समाज की ओर से हो रही आलोचना की ओर भी विशेष ध्यान देने की आवश्यकता नहीं। पर हाँ, एक बात की ओर से मैं आयुष्मान् को अवश्य सावधान करना चाहूँगा; और वह यह है आयुष्मान् कि वैशाली, वैशाली क्या समूचे वज्जि संघ में जनमत का विशेष सम्मान होता है।" यह कह, गणाध्यक्ष ने आचार्य शिष्य की ओर देखा। आचार्य शिष्य नत मस्तक हुआ गणाध्यक्ष की बात को पूरे ध्यान से सुन रहा था, तथा साथ ही यह समझने का भी प्रयत्न कर रहा था कि कहीं वह कोई बात अप्रत्यक्ष में तो नहीं कह रहे। उत्तर में वह कुछ कहने को उद्यत हो उठा कि इसी बीच फिर गणाध्यक्ष बोल उठे—"परन्तु आयुष्मान, राष्ट्र के जीवन में ऐसे क्षण भी आते हैं जब जनमत की अवहेलना तो नहीं, हाँ उसका नव-निर्माण अवश्य करना होता है। क्या हम उसी संक्रमण काल में से नहीं गुज़र रहे ? और आयुष्मान् की तो यह अग्नि परीक्षा है ही।"

यह बात युवक सुरक्षा प्रधान का अंतरान्त मानों किसी अदम्य साहस से स्फुरित हो उठा। नतमस्तक हो बोला—"आर्य की आज्ञा शिरोधार्य है। यह परीक्षा उत्साह भी प्रदान करे, इस समय बस मेरी यही एक इच्छा है।"

और फिर वह महाबलाधिकृत सेनापति सिंह के प्रासाद की ओर चल पड़ा। सेनापति सिंह ने उसे अत्यन्त आत्मीय भाव से समझाया—"आयुष्मान लेशमात्र भी धैर्य न खोएं। यही समय है जब हमें अपने आत्मविश्वास का परिचय दे पूज्यपाद आचार्य बहुलाश्व द्वारा इंगित मार्ग पर अग्रसर होना है; सम्मुख जो प्रतिरोध दीख रहा है, वह वायु के केवल एक झोंके के समान है, अतः क्षणिक भी।"

आचार्य पुत्री देवी रोहिणी भी उस समय वहीं बैठी थी। उसने अपने पितृ-

शिष्य युवक की पीठ पर अत्यन्त दुलार से हाथ फेरते हुए कहा—"आयुष्मान्, यह केवल आपकी ही नहीं वरन् उन सभी की, जो एक महत्त्वपूर्ण कार्य में संलग्न है, अग्नि परीक्षा है। विश्वास रखो, एक दिन हम अवश्य सफल होगे।"

परन्तु ये सभी आश्वासन एवं समर्थन प्राप्त करने के पश्चात् भी सुरक्षा प्रधान के सम्मुख एक विशेष समस्या प्रस्तुत थी ; और यह समस्या थी स्वयं देवी शिष्या की ओर से।

देवी शिष्या जितनी सौम्य-मुखी थी उतनी ही स्वभाव से गम्भीर भी, अतः मित-भाषिणी थी। हृदय में क्या कुछ है, यदि यह उसका अन्तर्यामी भी जान लेता तो वह निश्चय ही अपने को धन्य हुआ समझता। परन्तु आचार्य शिष्य का अन्तर्यामी कुछ ऐसा अनुभव करता कि जैसे उसने देवी शिष्या के मनोभावों को निश्चित ही कुछ-कुछ समझा है अतः वह मन ही मन गर्व का अनुभव कर उठता। इन दिनों अत्यधिक कार्य व्यस्त रहते हुए भी वह प्रायः प्रति दिन ही उसके प्रासाद का चक्कर लगा आता तथा उसे सकुशल देख वह मनस्तोष की साँस लेता, परन्तु साथ ही यह अनुभव भी कर उठता कि उसके मौन के सम्मुख वह आज कल से भी अधिक परास्त हो लौटा है। देवी शिष्या जैसे उसके निकट प्रति दिन ही अधिकाधिक रहस्यपूर्ण पहेली-सी बनती जा रही थी।

परन्तु वास्तव में वह उतनी रहस्यपूर्ण नहीं थी, जितनी कि आचार्य शिष्य समझ बैठा था। उसके अभिभावक को इन दिनों क्या चिन्ता है, वह उससे न तो अनभिज्ञ थी, और न उदासीन ही। वास्तव में उसे इस प्रकार निरंतर चिन्तातुर देख वह व्यथित हो उठी थी। परन्तु व्यथित हो कर भी वह आचार्य शिष्य के सम्मुख सहानुभूति का एक शब्द भी मुख से न निकाल पाती। यह उसका स्वाभाविक संकोच ही था, जिस पर वह कभी-कभी अपने पर ही झल्ला उठती। परन्तु आचार्य शिष्य के वहाँ से प्रस्थान करते ही जैसे उसके संकोच का यह आवरण विलग हो उठता। श्रेष्ठी पुत्र के सम्बन्ध में आचार्य शिष्य के मुख से कोई शुभ सवाद न मिलता तो वह और भी व्यथित हो उठती तथा व्यग्र भाव से कला देवी की प्रतिमा के सम्मुख जा उपस्थित होती। प्रतिमा के चरणो पर अपना शीर्ष रख याचना के से दीन स्वर में कहती—"क्यों आराध्य देवी, क्या श्रेष्ठी-पुत्र के सकुशल लौटने के लिए तुम कुछ नही कर सकतीं।" उसके नेत्र सजल हो उठते।

कभी-कभी वह यक्षेश मणिभद्र के चैत्य के सम्मुख मंगल कामना नृत्य के लिए भी उत्कंठित हो उठती। परन्तु फिर वैशाली की कलहपूर्ण स्थिति का ध्यान कर उसकी यह उत्कंठा स्वत शान्त हो जाती। वह नही चाहती थी कि ऐसे चिन्ताग्रस्त क्षणों मे इतने ज्वलंत प्रश्न को छेड़ा जाय। किन्तु साथ ही वह सोचती—'पर अब उससे बचना भी तो असम्भव है।'

इसी मध्य अभिजात समाज ने जैसे अपना अन्तिम प्रहार किया। महानगरी के ओर छोर से टकराता सर्वत्र यह संवाद फैल गया कि देवी शिष्या आज संध्या ही यक्षेश मणिभद्र के सम्मुख नृत्य करेगी। जन-साधारण को उसके नृत्य के प्रति कोई दुराग्रह नहीं था। वास्तव में दुराग्रह तो दूर की बात, वह अब मन ही मन उसके नृत्य को देखने को उत्कंठित था। परन्तु जब उसने इस सम्बन्ध में एक अन्य प्रसंग को फैलते सुना तो

सभी मौन हो रहे। अभिजात समाज के सदस्य जनसाधारण में घूम-घूम प्रचार करते फिर रहे थे—"भला यह कैसे सम्भव है कि मंगल कामना नृत्य के लिए चैत्य के सम्मुख एक दासी कन्या प्रस्तुत हो। यह कोई साधारण नृत्य तो है नहीं; उसमें तो समूचे नगर की कुल कन्याए तथा नव बधुएं उपस्थित होती हैं। तो फिर क्या एक दासी पुत्री उन सभी की शीर्षस्थ बन आयोजन का संयोजन करेगी। नहीं बन्धुओ नहीं, वैशाली में यह न कभी हुआ है न होगा, और न होने ही दिया जायगा।"

देवी शिष्या ने भी यह सब कुछ सुना। अभिजात समाज की ओर से क्या कुछ कहा जा रहा है, उससे तो वह चिंतित नहीं हुई परन्तु हाँ उसे एक बात पर अवश्य आश्चर्य हुआ। मंगल-कामना नृत्य के लिए वह आज संध्या ही चैत्य के सम्मुख उपस्थित होने वाली है और स्वयं उसे इसका पता तक भी नहीं। उसे लगा, आचार्य शिष्य ने यह अवश्य ही अत्यधिक आत्मविश्वास से काम लिया है। परन्तु मार्ग में जाते-जाते जब कुछ नागरिकों ने कौतूहल से आचार्य शिष्य को टोक यह पूछा तो वह स्वयं आश्चर्य चकित हो उठा। वास्तव में चकित होने से भी अधिक वह क्षुब्ध हो गया। अपने से बोला—'ध्वजधर, माना कि तू देवी शिष्या का कुछ भी न सही, पर अभिभावक तो है ही। देवी शिष्या को तुझसे अवश्य पूछना चाहिए था। चलो, यदि पूछा नहीं तो कोई बात नहीं। फिर भी कम से कम अपने इस निर्णय की बात तो उसे सर्वप्रथम तुझे ही बतानी चाहिए थी।'

यह सोचते-सोचते जैसे कोई उसके सारे अंतराल को झिझोड़ गया। उसकी मुख आभा खिन्नता से फीकी पड़ गई। उसे कुछ ऐसा आभास हुआ कि वह अनायास ही कुछ खो बैठा है। उसे कुछ घुटन का सा अनुभव हुआ और उसी के साथ उसने अपने अश्व की वल्गा को सावेश खीच लिया। अश्व भी अपनी ग्रीवा को घुमा पीछे की ओर लौट लिया। किन्तु, अश्व की पीठ पर एड़ लगाते-लगाते आचार्य शिष्य को सहसा कुछ ध्यान हो आया। बाहर निकलते निःश्वास के साथ वह अपने ही से कह उठा—'ध्वजधर। तू केवल अभिभावक ही नहीं सुरक्षा प्रधान भी है।"

वह सचेष्ट हो उठा। साथ ही, उसके खिन्न मुख पर प्रसन्नता का भाव भी छा गया। बोला—"ध्वजधर, चलो देवी शिष्या नृत्य को किसी प्रकार उद्यत तो हुई, यह क्या कोई कम महत्त्वपूर्ण बात है।"

उसका अश्व फिर अट्टालिका की दिशा में सरपट दौड़ लिया। परन्तु उसे लगा, जैसे केवल कुछ ही क्षणों के अंतर से वह पुनः परास्त हो उठा है। किसी और से नहीं, वरन् अपने ही से, अपने ही किसी मनोभाव से, जिसे दबा कर भी वह उस पर वश नहीं पा सका था।

प्रधान द्वारपाल शंबुक सदा की भांति द्वार पर उपस्थित था। आचार्य शिष्य के काम्बोज की पदचापें अब उसके कानों के लिए अपरिचित नहीं रह गई थीं। वह उन्हें दूर ही से सुन, स्वागत के लिए सावधान हो रहता।

द्रुत गति से दौड़ता आ रहा आचार्य शिष्य का अश्व द्वार के सम्मुख पहुँच रुक रहा। जैसे उसके रुकने में भी उत्साह का आवेग था।

शंबुक ने सदा की भांति नतमस्तक हो अभिवादन किया, किन्तु आचार्य शिष्य

ने इस समय जैसे उस ओर कोई ध्यान ही नहीं दिया। वह अश्व को ग्रीवा पर ही वल्गा को फेंक तत्परता से अन्दर की ओर दौड़ लिया, और शंबुक केवल चकित हुआ-सा उसकी ओर देखता रह गया।

देवी शिष्या आज भी लता मण्डप के पास वाले शिलाखण्ड पर बैठी थी। और दिनों उसका जो मुख भाव हुआ करता, आज प्रत्यक्ष में उसमें किंचित भी तो परिवर्तन नहीं आया था। वह ऐसी बैठी थी, जैसे उसने कुछ सुना ही नही। फिर भला वह प्रगट में सोचती ही क्या ? किन्तु ऐसी बात नहीं थी। आज वह केवल कुछ सोच कर ही नही रह गई, वरन् विचारो के प्रवाह में उसका मन दूर दिगंत में पहुँच भटक भी गया था। तो भी, आचार्य शिष्य जब उसके समीप पहुँचा तो उसके मुख से केवल यही भाव परिलक्षित हो रह गया कि जैसी वह कल थी, आज भी है। आचार्य शिष्य को सम्मुख देख वह खड़ी हो गई, और जब वह शिलाखण्ड पर बैठ गया तो वह भी उसके एक कोने पर बैठ रही। आचार्य शिष्य के अंतस्तल में उठते भाव भी जैसे शान्त हो बैठ गए। किन्तु उसके नेत्र कोर उसी की ओर निहारते रहे और वह कब सरक कर देवी शिष्या से सट बैठ गया, इसका उसे भान तक भी नही हुआ। वह नयन नत किए मौन ही, जैसे कोई पाषाण मूर्ति हो, बैठी रही।

आज केवल कुछ क्षणों पूर्व ही आचार्य शिष्य का मन उससे न जाने क्या कुछ पूछने को विद्रोह कर उठा था। वास्तव में उसने जब पुनः अट्टालिका की ओर अश्व को मोड़ा था तो उस समय वह प्रकट में चाहे कुछ भी क्यों न सोचकर रह गया हो, पर मुख पर प्रसन्नता का भाव आने के पश्चात् भी उसके अन्तर के किसी गुह्य प्रान्त में एक-एक कर अनेक प्रश्न एक साथ उठ खड़े हुए थे। और प्रत्येक प्रश्न के साथ ही उसके मन का विक्षोभ अधिकाधिक होता चला था। किन्तु जब वह शिलाखंड पर बैठा तो उसे वे सभी निरर्थक प्रतीत हुए। उसे लगा, जैसे कुछ भी तो नही हुआ था—'फिर मैं भला व्यर्थ ही में उस पर क्यों इतना क्षुब्ध हो गया।' वह जैसे अपने ही से यह प्रश्न कर उठा; और फिर उसी के साथ आत्म-ग्लानि का सा अनुभव करने लगा। उसकी इच्छा हुई कि वह देवी शिष्या से इसके लिए क्षमा माग ले, किन्तु इसी मध्य उसने देखा, उसका हाथ देवी शिष्या की पीठ पर पहुँच गया है। कैसे पहुँच गया, वह इस पर स्वयं चकित रह गया, परन्तु उसीके साथ उसके अंतर में उठा प्रगाढ आत्मीयता का भाव जैसे उसे खींच देवी शिष्या के और अधिक निकट समेट लाया। उसका पीठ पर रखा हाथ देवी शिष्या को और अधिक समीप खींचने को आतुर हो उठा, किन्तु प्रबल इच्छा होकर भी वह ऐसा नही कर सका। फिर उसकी इच्छा हुई कि वह उसके दूसरी ओर के अरुणिमोपम कपोल पर अपना करतल रख उसके मुख को बलात अपनी ओर फेर ले, किन्तु वह ऐसा करने में भी असमर्थ रहा। फिर उसके मन में हुआ कि वह शिलाखड से उठ खड़ा हो, और फिर उसके चिबुक को ऊपर उठा उसके नेत्रों में ही झांक ले, देखे तो ऐसा उनमें क्या है, और क्या है उसके अंतर में, जो उसके अंतराल में इस तरह बैठ गया है। परन्तु उसके लिए भी जैसे वह साहस बटोरने में असमर्थ रहा, क्योंकि वह पाषाण मूर्ति की भांति मौन जो बैठी थी।

किन्तु, देवी शिष्या आज अधिक मौन नहीं रह सकी। आचार्य शिष्य को कुछ

ऐसा आभास हुआ कि उसके ओष्ठ खुल रहे हैं; और इस ओट के हटते ही जैसे कोई संजोई निधि बिखर उठी है। आचार्य शिष्य का मन खिल उठा; हर्षित होता शिला-खंड से उठ, अपने उत्तरीय के पल्ले को फैलाता, देवी शिष्या की दृष्टिछाया में जा बैठा।

परन्तु इस पर देवी शिष्या के नेत्र न तो मुस्कराए और न वह हँसी ही। किन्तु, आचार्य शिष्य ने इससे किंचित् भी हतोत्साहता का अनुभव नहीं किया, उल्टे उसके सौम्य रूप पर मुग्ध हो उठा। इसी मध्य जैसे देवी शिष्या की भी भाषा स्पष्ट हो चली और उसने जो कुछ कहा, आचार्य शिष्य के कान भी स्पष्ट सुनने में असमर्थ नहीं रहे। उसे सुन आचार्य शिष्य चौंका, जैसे फिर अगले क्षण ही उसके मुख का ओर-छोर व्यग्रता से ओत-प्रोत हो गया। उसकी अंगुलि यंत्र गति से देवी शिष्या के चिबुक के नीचे जा टिकी। फिर, उसे बलात ऊपर उठा आचार्य शिष्य ने कातर-प्राय स्वर मे पूछा—"क्या कहा शुभे ! गत रात्रि तुमने स्वप्न देखा था ?"

देवी शिष्या ने यह बात सर्वथा सहज ढंग में कही थी। किन्तु आचार्य शिष्य शंकित हो उठा। कदाचित् यह उसकी अपनी ही मनः स्थिति थी, जो श्रेष्ठी-पुत्र कप्पिन को इस प्रस्तुत समस्या को लेकर बनी हुई थी। अथवा यह उसके स्वभाव का ही अंग था। कुछ भी हो, देवी शिष्या द्वारा कही गई बात का उसके मन पर प्रतिकूल ही प्रभाव पड़ा। उसका मन अधीर हो उठा और अधीर मन तत्परता से स्वप्न जानने के लिए आतुर हो रहा था। उसके कंठ स्वर में स्पष्ट ही आतंक का प्रभाव था। पूछने लगा—"देवी शिष्या, भला क्या स्वप्न था वह ?"

किन्तु, देवी शिष्या आचार्य शिष्य को इस प्रकार आतंकित हुआ देखकर भी प्रकट में सर्वथा अविचलित रही। यथापूर्व नत दृष्टि रख उसने आचार्य शिष्य के प्रश्न का उत्तर देने का प्रयास किया। वास्तव में उसने प्रश्न का सीधा उत्तर न दे, जैसे अपने ही मन की किसी बात को आगे बढ़ाया, बोली—'आर्यरत्न, आज मैंने एक निश्चय किया है।"

देवी शिष्या के मुख से निकला 'निश्चय' शब्द आचार्य शिष्य के कानों में जैसे गूंज उठा। उसे ध्यान हो आया, देवी शिष्या के लिए तो कई निश्चय सम्भव हैं और उसका एक निश्चय-विशेष तो शासक-वर्ग को बीच मंझधार तक में डुबा सकता है। अतएव वह पहले से भी अधिक अधीर हो उठा। पूछने लगा "और वह निश्चय क्या है देवी शिष्या ?"

परन्तु देवी शिष्या ने इस बारे में कोई सीधा उत्तर न दे केवल अपने ही मन में रखी किसी बात को आगे बढाया। बोली—"श्रेष्ठी-पुत्र के सम्बन्ध मे अब तक कोई भी संवाद प्राप्त नही हुआ है और इस पर मुझे विशेष चिंता हो उठी है, आचार्य शिष्य !"

यह कहते हुए जैसे उसका कंठ स्वर अकुला गया। उसकी यह आकुलता आचार्य शिष्य के किसी अंतर्भाव को झिझोड-सी गई। साथ ही, उसके मुख से श्रेष्ठी पुत्र तथा उसके प्रति व्यक्त चिंता के साथ 'विशेष' शब्द को सुन आचार्य शिष्य को कशाघात का सा अनुभव हुआ। उसके अन्तर में बैठी आत्मीयता का सहज आलिंगन-पाश स्वतः शिथिल हो गया। वह कराह उठा और उसी के साथ आचार्य शिष्य पीछे

की ओर हट गया। किन्तु अगले क्षण ही सावेग आगे बढ़ उसने देवी शिष्या के नेत्रों में झांकने का प्रयास किया। पर वह नयन नत किए ही बैठी रही।

आचार्य शिष्य क्रोधावेश मे अपनी पूरी शक्ति के साथ जोर से चिल्ला उठा—"देवी शिष्या।"

और, उसके मुख से निकले इस उत्तेजनापूर्ण सम्बोधन की प्रतिध्वनि अधिकाधिक वेग से उसी के कानों में गूंजती रही। उसका कण्ठ आक्रोश की तपस से शुष्क हो उठा। उसका मन हुआ, इसी क्षण वहाँ से भाग खडा हो, किन्तु दायित्व भार जैसे पुनः उसका मार्ग रोक खड़ा हो गया।

किन्तु इतना सब कुछ होने पर भी देवी शिष्या सर्वथा अविचलित रही। पूर्ववत् सहज भाव से वह पुनः बोली—" आर्यरत्न, देवी आम्रपाली ने अपनी इस क्षुद्र शिष्या पर जो दायित्व भार सौंपा है मैं उससे अनभिज्ञ नहीं और न ही उस ओर से उदासीन हूँ। मुझे खेद है कि मैं अभी तक सार्वजनिक रूप से न तो गुरु वदना कर सकी हूँ और न कलादेवी की उपासना ही। यदि आप उचित समझें तो मैं आज ही संध्या वैशाली समाज के सम्मुख वंदना के लिए उपस्थित हुआ चाहती हूँ।"

देवी शिष्या अभी कुछ और कहा चाहती थी कि इसी मध्य आचार्य शिष्य उत्सुकता वश पूछ बैठा—"तो फिर क्या स्वय देवी शिष्या ने ही नगर में यह समाचार प्रचारित किया था ?"

इसके उत्तर में भी देवी शिष्या ने कुछ नही कहा। केवल नेत्र पलक उठाकर आचार्य शिष्य के मुख पर केन्द्रित कर दिए; और आचार्य शिष्य इस पर जैसे आश्वस्त हो गया।

देवी शिष्या पुन. बोली—"आर्य रत्न ! मेरा दूसरा अनुरोध है कि नृत्य का यह आयोजन यदि यक्षेश मणिभद्र के चैत्य के सन्मुख ही हो तो न केवल श्रेयकर, वरन् उचित भी होगा, ऐसी 'प्रवेणी पुस्तक' में स्पष्ट व्यवस्था है।" यह कह, देवी शिष्या शिलाखण्ड से उठ खड़ी हुई।

आचार्य शिष्य केवल उसकी ओर देखता रह गया। वह अभी कुछ ही आगे बढ़ी होगी कि आचार्य शिष्य भी उसकी ओर तत्परता से बढ़ लिया। उसका मार्ग रोक, उसकी बाहुओ को अपने हाथों मे दृढ़ता से पकड लिया। हृदय में उठी किसी एक भाव हिलोर के साथ सौम्य दीखती देवी शिष्या को यथा-शक्ति झिझोड़ता हुआ उल्लसित कण्ठ स्वर मे बोल उठा'—'देवी शिष्या ! देवी शिष्या!, सचमुच तुम हिमालय से भी ऊँची और महासागर से भी गहरी हो।" और फिर वह उसी भाव हिलोर की तरंग मे देवी शिष्या को छोड़, "द्वारपाल शबुक, नायक अनिरुद्ध" की उच्च स्वर में रट लगाता मुख्य द्वार की ओर दौड लिया। उनके निकट जा पूर्व से भी अधिक उल्लसित कण्ठ स्वर में, किन्तु आदेश की दृढ़ता के साथ बोला—"शंबुक, द्वार से तुरन्त तूर्य नाद हो।"

और फिर अपने सहायक अनिरुद्ध की दोनो बाहुओं को पकड़, हर्षोल्लास से उसे झिझोड़ते हुए बोला– 'बन्धु अनिरुद्ध, नगर के कोने-कोने में, उसके पूरे छोर में घोषणा करवा दो, वैशाली के सौम्य जनो, देवी शिष्या आज इसी संध्या से पूर्व

यक्षेश मणिभद्र के चैत्य वाले प्रांगण में देवी की उपासना के लिए उपस्थित होगी।"

अनिरुद्ध अपने प्रधान का यह आदेश सुन हर्षित हो चल पड़ा। किन्तु आचार्य शिष्य ने उसे पुनः टोक कहा—"मित्र अनिरुद्ध, उद्घोषकों से कहना कि वे कहें, देवी शिष्या ने अभिजात समाज की चुनौती को स्वीकार कर लिया है और इस प्रकार वह उसी की प्रेरणा पर नृत्य के लिये प्रस्तुत होगी।"

इस पर अनिरुद्ध ने अपना मस्तक नत कर कहा—"किन्तु बंधुवर यह तो संघर्ष को आमंत्रण देना हुआ। अभिजात समाज यह सुन एकदम ही तो उत्तेजित हो उठेगा। न जाने विकराल रूप भी ले ले।"

"किन्तु, इससे क्या अनिरुद्ध! उन्होंने ही तो यह प्रचार किया था। फिर हम ही उनके प्रहार को कब तक सहन करते रहेंगे?"

और फिर वह तत्परता से अपने अश्व को ले आगे बढ़ लिया। अश्वारूढ़ होते-होते शंबुक का ओर दृष्टि फेर, बोला—"मित्र शंबुक, अट्टालिका की रक्षा का पूर्ण भार अब केवल तुम्हारे ही कंधों पर है।" फिर अनिरुद्ध की ओर देखते हुए बोला—"मित्र देखो, देवी शिष्या का वाहन आज पूरे बीस विश्वस्त सशस्त्र अश्वारोहियों से अनुसेवित होगा।"

यह कह, आचार्य शिष्य ने अश्व को एक जोर की एड़ लगाई।

अश्व भी उसे ले द्रुत गति से आवास की ओर दौड़ लिया; और वह नगर पथ उसकी पदचापों से गूंज उठा।

नौ

यह कोई तीसरे पहर की बात होगी।

गणसंवाहक सामन्त भंजदेव इस समय महाश्रेष्ठी के ही प्रासाद में उपस्थित थे; और उनके अतिरिक्त सामन्त कीर्तिकेय, सामन्त वीरभद्र, श्रेष्ठी धनंजय, श्रेष्ठी भित्तविदक आदि भी वहीं आए हुए थे। सभी ने जब तूर्य नाद और तत्पश्चात् की घोषणा सुनी तो उनके मुख निस्तेज हो गए। विपक्ष के इस नव प्रहार पर खिन्न दृष्टि से वे एक दूसरे की ओर देखते रहे। कुछ समय तक कक्ष में केवल मौन छाया रहा। अंततः उसे भंग कर महाश्रेष्ठी बोले—"क्यों बन्धुवर सामन्त भंजा अब क्या होगा?' फिर तो कार्तिकेय को भी कुछ कहने का साहस हुआ। कहने लगे—"आर्य, यह तो निश्चित ही अब जटिल स्थिति बन गई है।"

सामन्त वीर भद्र की खिन्नता इस समय तक स्पष्ट ही आवेश में परिणत हो चुकी थी। अतः वह बैठे नहीं रह सके। उठते हुए उत्तेजित स्वर में बोले—'क्या आर्य अब भी अभिजात समाज को धैर्य ही से काम लेने का परामर्श देंगे। आर्य भले ही न मानें, पर, मेरी तो यही निश्चित धारणा है कि विपक्षी को जब तक साहस कर कोई करारा उत्तर नहीं दिया जायगा, वह इसी प्रकार प्रहार करता रहेगा; और अंत में उसका परिणाम होगा हमारा समर्पण, आत्म समर्पण आर्य!"

किन्तु, इस रोष प्रकट से भी गणसंवाहक का मौन भंग नहीं हुआ। उन्हें मौन देख श्रेष्ठी धनंजय कुछ खीझ से गए। बोले—"सामन्त श्रेष्ठ, जब इस प्रकार निष्क्रिय ही रहना है तो फिर व्यर्थ में क्यों विरोध बढ़ाया जाए, फिर विरोध भी उनसे, जो सत्तारूढ़ हैं और एक प्रकार से शासक वर्ग बने हुए हैं।"

इस बार गणसंवाहक मौन नहीं रह सके। बोले—"आयुष्मान् मैं वही तो सोच रहा हूँ, सोच रहा हूँ कि उन्हें सत्तारूढ़ किया किसने? मैंने, तुमने तथा जन-साधारण सभी ने तो। और इस समय हमारा लक्ष्य भी यही है कि जन-साधारण को अपने पक्ष में किया जाए। आयुष्मान् श्रेष्ठी, वैशाली में सशस्त्र प्रतिरोध की नहीं वरन जन-गणमन पर अधिकार की आवश्यकता है और उसके सभी उपाय इस समय हमारे पास हैं; समय हमारे साथ है।"

"सो कैसे सामन्त श्रेष्ठ?" श्रेष्ठी भित्तविदक ने उत्सुकता से पूछा। किन्तु गणसंवाहक ने श्रेष्ठी की इस उत्सुकता की ओर जैसे कोई ध्यान नहीं दिया। उनके मुख भाव से प्रतीत हुआ, मानों वह किसी समस्या विशेष पर बड़े ही गूढ़ ढंग से सोच रहे हों। फिर, सहसा मौन भंग कर श्रेष्ठी कार्तिकेय की ओर अपनी दृष्टि करते हुए

बोले—"क्यों, आयुष्मान्, भला आयुष्मती ज्योत्सना की आयु इस समय क्या होगी ? अब तो वह निश्चित ही विवाह योग्य हो गई होगी ।"

कहाँ वैशाली की एक ज्वलत समस्या और कहाँ केवल पारिवारिक रुचि का यह प्रश्न । गणसंवाहक के मुख से यह सुन सभी को आश्चर्य हुआ, यहाँ तक कि स्वय उनके बाल-सखा महाश्रेष्ठी को भी । सोचने लगे—'यह तो निश्चित ही वृद्ध सामन्त पर वयस का प्रभाव प्रतीत होता है ।" परन्तु गण महानगरी मे पारिवारिक कुशल क्षेम अथवा उससे सम्बन्धित कोई भी प्रश्न अत्यन्त आत्मीयता का द्योतक समझा जाता था । जिससे भी वह पूछा जाता वह उसे अपने लिए गौरव की बात मानता था । अतः श्रेष्ठी कार्तिकेय ने इस पर अनुग्रह का भाव प्रकट किया और फिर विनय एव संकोच के मिश्रित स्वर में बोले—"हाँ आर्य, हो तो गई है ।" यह कहते हुए वह तनिक रुके । फिर जैसे मानस पटल पर सहसा कोई बात उभर आई हो । तत्परता से बोले—"किन्तु आर्य वह अब पहले जैसी चपल नही रह गई है । आर्य को भला वह घटना कुछ याद है ?"

गणसवाहक ने इस पर तनिक हर्ष प्रकट करते हुए अनुमोदन स्वरूप अपना शीर्ष हिलाया । फिर बोले—"हाँ, आयुष्मान, भली भाँति याद है ?" कहते हुए उन्होने इस बार अपनी दृष्टि महाश्रेष्ठी की ओर की । बोले—"बधुवर भला तुम्हे विदित है क्या हुआ था । एक दिन मैंने उसे गोद मे बैठाया तो उसने मेरे श्मश्रुकेश ऐसे खीचे, ऐसे खीचे कि मेरे मुख से 'ची' निकल गई ।"

गणसवाहक के मुख से यह घटना सुन सभी हँस पडे । महाश्रेष्ठी मणिरत्न भी हँसे, परन्तु साथ ही यह भी सोचते रहे कि गणसंवाहक ने आखिर यह बात इस समय किस उद्देश्य से कही है । मन ही मन बोले—"यह सामन्त बडा कुटिल है । वह बिना किसी प्रयोजन के यह बात कहने वाला नही था ।' जब सभी की हँसी का क्रम समाप्त होता चला तो वह गणसंवाहक की ओर उत्सुकता से देख उठे । गणसवाहक नेत्र कोरों से क्रमशः सभी की ओर देखते हुए अंत में गंभीर कण्ठ स्वर में बोले—"आयुष्मानो, मेरा एक प्रस्ताव है ।" यह सुन सभी उत्सुकता से उनकी ओर देखने लगे । गणसवाहक क्षणेक रुक जैसे सहज भाव मे बोले—"आयुष्मानो मेरा प्रस्ताव है कि यदि आयुष्मती ज्योत्सना का इस आचार्य शिष्य से··· ··"

उनके मुख से निकलती यह बात अधूरी ही रह गई । वह क्या कुछ कहने वाले हैं श्रेष्ठी कार्तिकेय इतने भर से ही भली-भाँति समझ गए । वह उत्तेजित हो उठे, इतने उत्तेजित कि क्रोध से उनका सारा गात काँप उठा । सावेश बोले—"हम आर्य का आदर करते हैं, पर उसका यह अर्थ कदापि नहीं कि आर्य हमें इस प्रकार अपमानित करें ।"

इस पर, शेष सभी स्तब्ध हो उठे । परन्तु स्वय गणसंवाहक एक उच्च ठहाका दे, हँस पड़े । पर महाश्रेष्ठी मणिरत्न इस सब कुछ से भी सर्वथा अविचलित रह यथापूर्व उत्सुकता से उनकी ओर देखते रहे । श्रेष्ठी कार्तिकेय अभी भी क्रोधाभिभूत थे, और उसके अतिरेक के कारण कुछ भी कहने में अपने को असमर्थ अनुभव कर रहे थे । गणसंवाहक बैठे से उठ खड़े हुए । श्रेष्ठी कार्तिकेय के कंधे पर हाथ की

थपकी देते हुए बोले—"आयुष्मान कुपित न हों, मैं तो केवल यह देख रहा था कि यदि इस प्रकार की बात उस आचार्य शिष्य और महापौर श्रेष्ठी-पुत्र श्रेणियरत्न की बहिन मंजरिका के सम्बन्धों को लेकर यदि नगर में कोई बात फैलाई जाए तो भला उसकी क्या प्रतिक्रिया होगी। नगर में कौन नहीं जानता कि आचार्य शिष्य एक अज्ञात कुल युवक है।"

"परन्तु उससे हमें इस समय क्या लाभ होगा, बंधुवर ?" महाश्रेष्ठी ने प्रश्न किया।

गणसंवाहक ने तत्परता से उत्तर में कहा—"लाभ ? उससे निश्चित ही हमारा लाभ होगा। महापौर श्रेणियरत्न उसे सुनेंगे तो अवश्य ही खीझ उठेंगे। वह आचार्य शिष्य के प्रति उपेक्षा का भाव भी दिखाएंगे; उपेक्षा का भाव ही नहीं वरन निंदा के भय से अपने आवास से भी निकाल देंगे; और इस पर सेनापति सिंह अवश्य ही क्रुद्ध हो उठेंगे। फिर उनमें परस्पर कलह बढ जाएगा; और यही तो हम चाहते हैं बंधुवर। विपक्षी का सबसे बड़ा बल एकता तो ही है जिसे हम भंग करना चाहते हैं। और फिर उधर जन-साधारण भी तो अपना कुछ मत बनाएगा।" यह कहते हुए उन्होंने क्रमशः सन्मुख बैठे सभी सामन्त एव श्रेष्ठी जनों की ओर देखा।

सामन्त कार्तिकेय सबसे इधर की ओर बैठे थे। गणसंवाहक की दृष्टि जब अन्ततः उन पर आ स्थिर हुई तो वह अपना मत प्रकट करते हुए बोले—"आर्य, यदि राजनीति दूरदर्शिता पर ही आधारित है तो आपका यह प्रस्ताव अक्षरशः मान्य है, एवं हम सभी उसका पालन करें, यह भी अनिवार्य है। आज ही, अभी से यदि हम उसका प्रचार करें तो अवश्य ही उसका कुछ लाभ होगा। तो भी, इस समय हमारे सन्मुख एक तात्कालिक समस्या है, और उसका अभी, इसी क्षण कोई निश्चित उपाय खोज निकालना नितांत आवश्यक है। वह समस्या है, या तो उस दासी कन्या को यक्षेश मणिभद्र के चैत्य के सन्मुख जाने से बलात रोका जाय अथवा फिर कोई दूसरा उपाय निकाला जाय।"

सामन्त कार्तिकेय की पहली वाली बात केवल सामन्त वीरभद्र के किसी और को नही रुची। कारण, गणसंवाहक तो उसके फलितार्थों का अनुमान लगा उसे विवेकपूर्ण नहीं समझते थे और महाश्रेष्ठी की उसमें स्वाभाविक अभिरुचि नहीं थी। फिर भी वे दोनो, दोनो ही नही वरन उनके साथ श्रेष्ठी भित्तविदक समेत समूचा श्रेष्ठी वर्ग एक बात के लिए तत्पर था। गृह-युद्ध की स्थिति में वे पूर्ण सहयोग को उद्यत थे। किन्तु साथ ही प्रकट में आने को तैयार नहीं थे। उन्होने यह बात कभी स्पष्ट तो नही कही, तथापि गणसंवाहक उससे अनभिज्ञ नही थे और न ही वह उनसे इससे अधिक की आशा रखना दूरदर्शितापूर्ण समझते थे। अतः इस सारी स्थिति को ध्यान में रख वह बोले—"आयुष्मानो, सशस्त्र संघर्ष की बात को बार-बार कहना व्यर्थ है। उसके कारण स्पष्ट हैं। एक तो यही कि हमें वैशाली की पुनीत परम्परा का पालन करना है। आयुष्मानो, वैशाली की पुनीत परम्परा है कि जब तक कोई उस पर स्पष्ट प्रहार न करे, वह स्वयं आगे बढ़कर ऐसा कदापि नहीं करती। जब हमारा बाहर वालों के साथ यह आचरण है तो फिर घर में भी हमारा यह व्यवहार क्यों न हो ? दूसरे आयुष्मानो,

लोहा लोहे को काटता है, हमें षड्यंत्र का षड्यंत्र से और नीति कौशल का केवल उसी से उत्तर देना है। इसी प्रसंग में मैं आयुष्मानो, अब यह भी कहना चाहूँगा कि अभिजात समाज को इसी समय एक ऐसी कला दक्ष एवं सुयोग्य कन्या की आवश्यकता है जो आज संध्या ही दासी कन्या के प्रत्युत्तर स्वरूप नृत्य मंच पर अवतरित हो सके। वास्तव में यह एक समस्या है, जिसका समाधान करना ही होगा।"

यह सुन सभी स्तब्ध हो उठे। पर महाश्रेष्ठी का मुख ओज तो अकस्मात् ऐसा लुप्त हो उठा कि उनकी दशा शोचनीय प्रतीत होने लगी।

परन्तु, गणसंवाहक ने जैसे उस ओर कोई ध्यान ही न दिया। उसी प्रसंग में वह आगे बोले—"आयुष्मानो, मेरे इस प्रस्ताव पर विशेष चिंतित होने की आवश्यकता नहीं। आप कदाचित् पूछेंगे, क्यों? इस प्रश्न के उत्तर में मुझे केवल इतना ही कहना है कि हमें प्रत्येक तथ्य को यथा रूप में स्वीकार करना चाहिए और यह एक सर्वथा जाज्वल्यमान तथ्य है कि महानाम कन्या आम्रपाली ने कला अधिष्ठात्री के पद को निश्चित ही गौरवपूर्ण बनाया है। उसने नि.संदेह ही उसे एक पुनीत स्वरूप प्रदान किया है, अतएव यदि आज किसी भी अभिजात कुल की कन्या इस गौरवास्पद पद के लिए अग्रसर होती है तो उसमें प्रतिष्ठा की कोई हानि न होगी। संभव है, भविष्य में यह पद और भी अधिक गौरवपूर्ण हो उठे।"

परन्तु इसके पश्चात भी महाश्रेष्ठी मणिरत्न का खिन्न भाव यथापूर्व बना रहा। वास्तव में, गणसंवाहक का लक्ष्य किधर है, वह उसे भली भांति समझ चुके थे, अतः उस पर गम्भीरता से मनन कर रहे थे। मनन करते हुए यदि वह कभी क्षुब्ध हो उठते तो कभी अपने ही विचार प्रवाह से सिहर भी उठते। परन्तु, सतत प्रयत्न के पश्चात् भी वह किसी निष्कर्ष पर न पहुँच सके। शेष अन्य भी इस समय जैसे इसी समस्या पर गम्भीरता से सोचने में व्यस्त थे। सहसा, सामन्त वीरभद्र बोल उठे—"परन्तु आर्य, क्या वैशाली मे इतनी शीघ्र कोई योग्य कन्या सुलभ हो सकेगी?"

गणसंवाहक सामन्त भंजदेव इस प्रश्न के उत्तर में आत्म विश्वास का सा भाव दिखाते हुए बोले—"क्यों नहीं आयुष्मान! भला ऐसा क्या है जो वैशाली में सुलभ नहीं। देवी आम्रपाली की कला पीठिका में केवल एक दासी कन्या ही तो नहीं थी, अभिजात समाज की भी कई आयुष्मतियों ने उससे कला की विधिवत दीक्षा ग्रहण की है, और उनमें से कई को तो कला अधिष्ठात्री की प्रमुख शिष्याएं होने का भी श्रेय प्राप्त हुआ है।"

यह कह उन्होंने इस बार सर्वथा स्पष्ट रूप से अपनी दृष्टि महाश्रेष्ठी मणिरत्न के मुख पर केन्द्रित कर दी। बोले—"बन्धुवर महाश्रेष्ठी, यह वैशाली एवं उसकी परम्पराओं के जीवन-मरण का प्रश्न है; और महाश्रेष्ठी ने उनके बनाए रखने में सदा ही महत्त्वपूर्ण योगदान किया है; तो क्या अभिजात समाज आज अपने इस घोर संकट के समय में महाश्रेष्ठी की ओर केवल असहाय अवस्था में देखता रह जायगा?"

गणसंवाहक ने जैसे इस बार महाश्रेष्ठी से कोई स्पष्ट प्रस्ताव किया। उसे सुन महाश्रेष्ठी अत्याधिक विचलित हो उठे। उत्तर में क्या कहें और क्या न कहें, वह उस पर अन्तिम रूप से इसी क्षण, केवल एक क्षण में ही सोचने के लिए विवश हो

उठे। सभी उनकी ओर उत्सुकता से देखते रहे। अततः महाश्रेष्ठी बोले—"बन्धुवर, आयुष्मती रत्नकमल केवल मेरी प्रपौत्री ही नहीं, आपकी भी है, अतएव उसके भविष्य के सम्बन्ध मे कोई भी बात सोचने का दोनों ही को समान रूप से अधिकार है। तो भी, मेरा एक नम्र निवेदन है। आयुष्मान सुव्रत इस समय वैशाली से बाहर है। अतएव यदि वह आज के नृत्य में देवी शिष्या को परास्त भी करदे तो उसे अधिष्ठात्री पद पर अभिषिक्त करने का प्रस्ताव आयुष्मान सुव्रत के आने तक स्थगित रहेगा; और इस सम्बन्ध में उनका ही निर्णय अन्तिम होगा।"

महाश्रेष्ठी के मुख से यह बात सुन सभी "धन्य-धन्य" कह उठे। सामन्त वीरभद्र सोल्लास उच्च स्वर मे बोले—"महाश्रेष्ठी आपसे समूचा अभिजात वर्ग उपकृत हुआ है।" और फिर वह इसी की रट लगाते हुए कक्ष से बाहर की ओर दौड लिए।

महानगरी मे यह समाचार भी विद्युत लहर की भांति फैल गया।

दस

कोई चार मास पूर्व की बात है। तब शरद् ऋतु रही होगी।

एक दिन मध्यान्ह के केवल कुछ समय पश्चात् ही एक धूलि-धूसरित अश्वा रोही ने गण महानगरी के एक विशाल प्रासाद की परिधि में प्रवेश किया और वाटिक पथ को पार कर मुख्य द्वार के सम्मुख आ, रुक, खड़ा हो गया।

इसी प्रासाद के छज्जे पर बैठी शरद् की ढलती-सुहाती धूप का आनन्द लेतं दो आगत यौवनाओं ने उसे आते देखा, पर चलो कोई आया होगा, यह सोच वे फि वार्ता-व्यस्त हो गईं।

आगतुक अश्वारोही ने कुछ समय तो इधर उधर देखा, फिर बलात् उसकी दृष्टि ऊपर उधर ही की ओर चली गई। 'चलो-कोई है', इस बात पर वह मन ही मन प्रसन्न हो उठा। परन्तु मुख पर जमी धूलि के आवरण मे उसका वह प्रसन्नता का भाव केव अतर तक ही रह गया, बाहर प्रकट नही हो सका। उसका कठ स्वर उल्लसित ह उठा। सम्मुख बैठी युवतियों को देख वह बोला—"शुभे।"

किन्तु छज्जे पर बैठी उन दोनों ने कुछ ऐसा भाव दिखाया जैसे कुछ सुना ह नहीं।

अश्वारोही ने इस पर पहले से कुछ अधिक उच्च स्वर में पुनः पुकारा—"शुभे।

उसका कण्ठ स्वर कुछ-कुछ क्लांत प्रतीत हो रहा था। परन्तु क्लांति मे भी इ समय मृदुलता का पुट था। अतः उसने निश्चित ही उन दोनों का ध्यान अपनी ओ आकर्षित किया। तो भी उन्होने आगंतुक के सम्बोधन का कोई उत्तर न दे, केवल मौ रखा। वास्तव में मौन भी नही रखा; वे खिलखिला पड़ी। साथ ही उधर देखा, औ फिर मौन हो बैठ गई।

इस समय तक उनका वार्ता क्रम भग हो चुका था।

आगंतुक को कुछ भी तो समझ में नहीं आया, पर वह इतना अवश्य सम गया कि हो न हो, कोई बात उसी को लेकर है। तथापि उस ओर विशेष ध्यान न वह पुन; पूर्व से भी अधिक उच्च कंठ स्वर में बोला—"शुभे, क्या महापौर श्रेणियरत का आवास यही है?"

वे दोनों इस बार फिर हंसे बिना न रह सकीं; और हंसते हुए दोनों एक सा स्वर में स्वर मिलाती हुई बोलीं—"अभ्यागत, वह हम अवश्य बताएंगी, परन्तु उस पूर्व हमें यह तो बताओ, भला हम एक हैं अथवा दो?"

अश्वारोही उनके इस उपहास का आशय समझ अपनी व्याकरण की भूल प

मन ही मन हँसे बिना नहीं रहा। परन्तु, साथ ही उसे स्वीकार करना उचित न समझ दोनों ही की ओर समान रूप से दृष्टि विस्फारित करता हुआ बोला—"शुभे, जब स्वर समान हो तो अनेक भी केवल एक बनकर रह जाते हैं; और फिर यदि शुभारूप दृष्टि-छाया में आकर भी अगोचर अथवा मौन बना रहे, तो, वह भी अनंत होकर केवल एक ही है। तो शुभे क्या अब बताएँगी कि महापौर श्रेणिय रत्न का आवास यही है?"

दोनों की सभ्रम दृष्टि आगंतुक पर टिक गई। उसके प्रश्न को सुन उनमें से एक तो कहने को उद्यत हो उठी—'हाँ, अभ्यागत यही है, आओ।' किन्तु इसी समय दूसरी का कण्ठ स्वर सहसा ध्वनित हो कह उठा—"और अभ्यागत, यदि वही अनंत सुलभ हो केवल दृष्टिछाया में ही न आ वरन् सर्वथा सन्निकट भी आ पहुँचे तो?"

अश्वारोही इस प्रश्न को सुन हतप्रभ हो गया, पर साथ ही संयत हो बोल उठा—"शुभे, वह निस्संदेह अहोभाग्य है, स्वागत योग्य भी, तो भी वह त्याज्य है, क्योंकि यही तो मोह है। और शुभे, मोह भेद का जनक है, भेद-प्रभेद संघर्ष का कारण हैं, संघर्ष घृणा का, घृणा युद्ध का और युद्ध विनाश का। और फिर शुभे, विनाश रूप कुरूप का, शुभ-अशुभ का समान रूप से सहार कर उठता है।" कहते हुए उसने अपनी दृष्टि ऊपर उठा इस बार केवल उसी एक पर टिका दी। युवती ने उलट कर प्रश्न किया—"और अभ्यागत, यदि विनाश को साकार मान लिया जाय तो?" वह क्षणेक रुकी। फिर, स्वयं ही उत्तर देते हुए बोली—"भला उससे बड़ा समदृष्टि और कौन होगा? और अभ्यागत समदृष्टि तो स्तुत्य है।"

इस पर आगंतुक युवक अश्व पीठ पर बैठा न रह सका। उल्लसित हो वह उससे नीचे कूद, हाथ की वल्गा को उसकी ग्रीवा पर फेंक, अपने दोनों हाथों को ऊपर उठाते हुए प्रफुल्ल कंठ स्वर मे बोला—"शुभे, धन्य है; शुभे, सचमुच धन्य है, यह ज्ञान तो मैं, क्या बताऊँ, निश्चय ही आचार्य बहुलाश्व की विद्यापीठ में भी नहीं पा सका।"

इस पर युवती चकित रह गई। नेत्रों को विस्फारित करते हुए पूछा—"तो क्या अभ्यागत का इस समय तक्षशिला महाविद्यापीठ से ही पधारना हुआ है?"

आगंतुक ने नत मस्तक हो कहा—"हाँ शुभे, वहीं से आना हुआ है। वहाँ से मैं महाबलाधिकृत सिंह के यहाँ आया था और उन्होंने अब मुझे यहाँ माता वसुन्धरा की सेवा में उपस्थित होने का आदेश किया है।"

यह सुन दूसरी युवती वहाँ और अधिक बैठी न रह सकी। मुख्य द्वार पर बन्धुवर सिंह के यहाँ से कोई अतिथि आया है, उसकी सूचना देने, वह सोत्साह अन्दर की ओर दौड़ ली।

जो गई वह श्रेष्ठी-पुत्री मंजरिका थी और जो वहीं बैठी रही, वह उसी की एक समवयस्का सखी चारुस्मिता थी; आने वाला आचार्य शिष्य ध्वजधर था।

और आचार्य शिष्य ध्वजधर तभी से इसी आवास में है। सामन्तपुत्री चारुस्मिता भी पूर्व की भाँति वहाँ आती जाती रहती है। परन्तु आकर भी वह समझती है जैसे उसका आना नहीं हुआ, क्योंकि नेत्रकोरों से मन के गुह्य भावों के साथ वह जिसे टटोलती आती है, वह उसे दीख नहीं पाता; और यदि वह दीख भी गया तो फिर स्वयं उसके लिए वहाँ टिके रहना असम्भव हो जाता है। फिर भी वह मन ही मन एक

निश्चय किए बिना नही रहती । उसने निश्चय किया हुआ है कि यदि आचार्य शिष्य मिलें तो उनसे पूछूं—'क्यों महाभाग, कोई दृष्टिछाया में आकर भी क्यों सुलभ नहीं हो पाता ? सुलभ होना तो दूर की बात; सान्निध्य लाभ से भी वह वंचित रह जाता है ।' परन्तु दूसरे क्षण ही उसे ध्यान हो आता—'देखो तो, सखी मंजरिका सान्निध्य प्राप्त करने के पश्चात् भी केवल खिन्न चली आती है । तो फिर क्या, जीवन में बाह्य रूप गौण, सान्निध्य निस्सार, और दृष्टिछाया केवल भ्रम मात्र है ।'

उधर मंजरिका सोचती—'सखी चारुस्मिता भी कितनी महाभाग है । उसकी जीवन वाटिका में सामन्त पुत्र क्या आया, मानों स्वयं ऋतुराज चला आया है । उस दिन छज्जे पर बैठी वह उसी सामन्त पुत्र की प्रशंसा कर न अघाती थी । नवागंतुक अश्वारोही की ओर उसे देखने तक में आलस्य प्रतीत हुआ, और यदि देखा भी तो परिहास कर बैठी । वह परिहास उल्लास ही तो था । और वह शास्त्रार्थ......?'

आचार्य शिष्य मन ही मन अपने से पूछता—'भला, वह शुभ मुखी कौन थी जो दृष्टिछाया में आकर भी चली गई । प्रासाद में जब कभी भी वह आता तो उसका मन मानों उसे देखने के लिए आतुर हो उठता । केवल देखने के लिए ही नहीं, बल्कि इसी मर्म-भेद पर वार्ता के लिए मन आन्दोलित हो उठता । परन्तु साहस कर मंजरिका से कुछ पूछ न पाता । मंजरिका के सेवा भाव से वह स्वयं को अनुगृहीत हुआ अनुभव करता था, पर संकोच वश उस भाव को भी प्रकट न कर पाता । मंजरिका इसे अपने प्रति आचार्य शिष्य का केवला उपेक्षा भाव ही समझती । अतः अन्तर में गर्व का अनुभव करते हुए भी वह प्रकट में केवल खिन्न रह जाती । प्रारम्भ में तो वह उसे आचार्य शिष्य का सहज-संकोच समझती रही, पर कब तक अपने को ऐसे समझाती रहती, अपने आप से कहती—'भला, ऐसी क्या है वह देवी शिष्या ?'

अतः आज जब आचार्य शिष्य ने सोत्साह, उल्लसित कण्ठ स्वर में उससे देवी शिष्या के नृत्य आयोजन की बात कही और फिर साथ ही चलने को अनुरोध किया तो वह उस पर अन्तर में प्रसन्न होकर भी प्रकट में 'हाँ' न कर सकी ।

"क्यों न कर सकी री ?" चारुस्मिता ने मंजरिका से प्रश्न किया । वास्तव में इसी समय वह वहाँ आ पहुँची थी और मंजरिका ने उसे सब कुछ बता दिया था ।

मंजरिका सोचने लगी—"भला, इसका क्या उत्तर ? और जो उत्तर है, उसे क्या चारुस्मिता स्वयं नहीं जानती । जानती है, फिर भी क्यों पूछ रही है ?' अंततः उसने चारुस्मिता के उत्तरीय के पल्ले का सहारा लिया । उसे अपने हाथ में ले और फिर उसी के साथ नेत्रकोरों के इंगित से उसे खींचते हुए उसे कक्ष से बाहर लिवा लाई । चारुस्मिता भी मानों सहज भाव में खिंची चली आई । पर उससे अन्त में पूछे बिना नहीं रहा गया । विहँसती हुई बोली—"जो कुछ कहना था, वही क्यों नहीं कह दिया था री ।"

मंजरिका ने धीमे से उसके कान में बताया—"वह अभी यहीं जो है !'

अब तो चारुस्मिता को जैसे यह पूछने की भी सुध नहीं रही कि जब वह वहाँ थे तो दिखाई क्यों नहीं दिए । मंजरिका के हाथ से पल्ला छुड़ा केवल भागते ही बना । परन्तु मंजरिका ने उससे भी अधिक तत्परता से लपक उसके पल्ले को कस कर

पकड़ लिया। कुछ संकोच, कुछ हंसी और कुछ खीझ से बोली—"ऐसे नहीं जाने दूंगी।" "तो फिर कैसे जाने देगी?" कहते हुए चारुस्मिता ने जोर से अपना पल्लू खींचा। किन्तु वह मंजरिका के हाथ में ही रह गया। साथ ही उसकी केश राशि मुख पर अलग बिखर उठी।

यह देख मजरिका हँस पड़ी; और उसी के साथ आचार्य शिष्य भी।

वह कब वहाँ आ खड़ा हुआ, दोनों में से किसी को भी इसका पता न चला। अत उसकी हँसी से एक बारगी दोनों सहम सी गईं। सहमी-सी खड़ी रहीं। आचार्य शिष्य हँसता भी रहा और नेत्र कोरों से उन दोनों की ओर देखता भी रहा। मजरिका की ओर इस आशय से कि कहीं वह देख तो नहीं रही, और चारुस्मिता की ओर इस प्रयोजन से कि तनिक अपनी दृष्टि ऊपर तो उठाओ शुभे, मुझे तुम से बहुत कुछ कहना है।

किन्तु एक ही दृष्टि में जब दो-दो बातें साथ-साथ उभर आएं तो बाधा का उपस्थित हो उठना स्वाभाविक है। अत मन की वल्गा को तनिक फेरते हुए वह बोला—"शुभे, जब सान्निध्य सुलभ होने पर भी कोई मौन रहे तो वह क्या है?"

मंजरिका को लगा, आचार्य शिष्य ने यह प्रश्न अवश्य ही उसे लक्ष्य कर किया है। अतः वह सहज सकोच से अपने में सिमट गई। किन्तु अंतराल उतने ही वेग से मुखरित हो उठा। उत्सुक दृष्टि से उसने चारुस्मिता की ओर देखा और दुविधाग्रस्त चारुस्मिता को मानों अवलम्ब मिल गया। स्वर्णिम मुख आभा पर पड़ी श्यामल केश राशि को अरुणिम हाथों से हटाते हुए वह बोली—"आचार्य शिष्य, वह यदि एक ओर आत्मीयता के सहज विश्वास की पराकाष्ठा है तो दूसरी ओर अधिकार की महत्त्वाकांक्षा।"

आचार्य शिष्य बोला—"किन्तु शुभे, महत्त्वाकांक्षा यदि एक पुनीत भाव है तो मन का विकार भी। यहीं वैशाली में देखो न; एक महत्त्वाकांक्षा वधुवर श्रेणिय रत्न की है और दूसरी सामन्त पुत्र अखडदेव की। परन्तु, दोनों की दिशाएं भिन्न हैं।"

प्रस्तुत बातों के प्रवाह में अकस्मात् की सामन्त पुत्र अखडदेव के नाम का उल्लेख को उठने से चारुस्मिता कुछ विचलित-सी हुई, परन्तु अंदर ही अंदर। मंजरिका को भी कुछ दुविधा का अनुभव हुआ। उसने आचार्य शिष्य की ओर देखा किन्तु वह कुछ भी समझने में असमर्थ रहा। वास्तव में, उसका उस ओर ध्यान ही नहीं गया। उत्तर के लिए केवल चारुस्मिता की ओर देखता रहा। चारुस्मिता सयत कण्ठ स्वर में बोली—"आचार्य शिष्य, आप ठीक कहते हैं। महत्त्वाकांक्षा मन का पुनीत भाव भी है और मन का विकार भी। मंजरिका से मैं केवल यही तो कहती रहती हूँ।" यह कहते हुए उसने मंजरिका और आचार्य शिष्य की ओर देखा।

मंजरिका उस दृष्टि के सम्मुख खड़ी न रह, भाग उठी। चारुस्मिता उन्मुक्त भाव से खिलखिला पड़ी। किन्तु आचार्य शिष्य के साथ एकाकी रह जाने पर अगले क्षण ही संकोच से अपने में सिमट रही।

आचार्य शिष्य अब भी हतप्रभ हुआ मंजरिका की ओर देख रहा था। फिर, अपनी दृष्टि सहसा चारुस्मिता के मुख पर केन्द्रित कर बोला—"देवी, उस दिन मैं

आपके विवेक पर चकित हो उठा था और आज मैं इस त्याग के सन्मुख नत मस्तक हुआ हूँ। विचारों और भावनाओं पर यह तो आप का समान अधिकार हुआ, देवी !"

गौरवर्णा चारुस्मिता उत्तर में कुछ न कह सकी। हाँ, उसके रक्तिम कपोलों पर प्रगाढ़ लालिमा अवश्य फैल गई, संकोच की सहज मुस्कान भी। तत्पश्चात् नत दृष्टि किए ही मृदुल कण्ठ स्वर में उसने पूछा—"आचार्य शिष्य, देवी शिष्या सकुशल तो हैं न ?"

उसके मुख से यह प्रश्न सुन आचार्य शिष्य न जाने क्यों अभिभूत हो उठा। चलते हुए गद्गद् कण्ठ से बोला—"देवी ! यह तो सचमुच देवी शिष्या का सौभाग्य है; और सामन्त पुत्री आप निस्संदेह महान हैं।"

ग्यारह

यद्यपि देवी शिष्या वैशाली के एक ज्वलंत विवाद की मुख्य भूमिका बनी हुई थी, फिर भी वैशालिकों ने उसे, अब तक, केवल एक बार देखा था; वह भी मधुपर्व के उल्लासपूर्ण अवसर पर, जबकि समूचे गण मन के ओर-छोर पर स्वयं देवी आम्रपाली पूर्ण रूप से छाई हुई थीं। फिर देवी आम्रपाली ने उस दिन भी उसे बिना किसी पूर्व प्रस्तावना के ही मच पर प्रस्तुत किया था। यूँ सभी उसके नृत्य कौशल पर मुग्ध हो उठे थे, तो भी मंच के गतिमान क्रम में व्यस्त दर्शकों में से किसी का भी उस ओर विशेष ध्यान नहीं गया। किन्तु, नृत्य की समाप्ति पर जब देवी आम्रपाली ने उसके दासी कन्या होने की घोषणा की तो इस रहस्योद्घाटन पर सभी उपस्थित जन चकित हो उठे। उत्सुक नेत्रों से सभी ने मंच की ओर देखा, पर तब तक वह वहाँ से जा भी चुकी थी।

उसके पश्चात आज ही यह दूसरा अवसर आया था। अतः नागरिकों ने जब इस घोषणा को सुना तो वे सभी पूर्व दुराग्रहों को अपने मानस पटल से धकेल कौतूहलवश उसे देखने को लालायित हो उठे; और फिर केवल कुछ समय पश्चात ही जब अभिजात समाज वाली घोषणा भी सुनी, फिर तो जो उदासीन वर्ग था वह भी उल्लसित हो उठा। यूँ महाश्रेष्ठी मणिरत्न की प्रपौत्री कुमारी रत्न कमल के अभूत सौन्दर्य की सर्वत्र चर्चा थी, पर किसी ने उसे कदाचित ही देखा था। जब देवी आम्रपाली यहाँ थीं तो कुमारी रत्न कमल नित्य उसकी कला पीठिका में नृत्य दीक्षा को जाती थी। पर वह कब, कैसे, और किस मार्ग से निकल जाती, किसी को इसका पता तक भी न चलता; और अब वही सार्वजनिक रूप से, सबके सम्मुख नृत्य मंच पर अवतरित होगी, यह सुन सभी के आश्चर्य का ठिकाना न रहा। गणसंवाहक सामन्त भंजदेव के इस बुद्धि कौशल की सभी मुक्त कण्ठ से प्रशंसा कर उठे। साथ ही सुरक्षा प्रधान आचार्य शिष्य के साहस को भी सराहने लगे। कारण, विपक्षियों की ओर से होते घोर प्रतिरोध के पश्चात भी उसने देवी शिष्या को इस प्रकार मच पर प्रस्तुत करने का भागीरथ प्रयास किया था।

द्वन्द्व-नृत्य के स्वरूप की कल्पना से एक बार को समूची महानगरी उत्साह के उच्छवास से स्फुरित हो उठी। किन्तु, साथ ही वैशालिकों के मन किसी आशंका से भी सिहर, खिन्न हो उठते। मानों उनके सम्मुख एक अस्पष्ट भविष्य का क्षितिज उतरता चला।

सुरक्षा प्रधान आचार्य शिष्य ने चैत्य की ओर जाते हुए मार्ग में इस घोषणा

को सुना था ।

उसे सुन वह स्तब्ध हो उठा । पर, दूसरे ही क्षण कर्तव्य भावना से अनुप्राणित भी हो रहा; और उसका अश्व पूर्व से भी अधिक वेग से राजपथ पर दौड़ लिया ।

देखते-देखते ही गण महानगरी की सुरक्षा व्यवस्था सुदृढ़ हो उठी और चैत्य दिशा में जाते सभी मार्गों पर जन-सागर लहराने लगा । आबाल-वृद्ध नर-नारी सभी उसी ओर प्रस्थान कर उठे । फलस्वरूप चैत्य प्रांगण का नृत्य-मंडप ज्वार उल्लसित जन-सागर में एक द्वीप की भांति प्रतीत होने लगा । नृत्य मंडप के सन्निकट पहुँचने की होड़ में सभी नागरिक एक दूसरे को धकेलते-फांदते, जैसे प्रयाण कर उठे ।

और, इस लहराते जन-सागर में इस समय सुरक्षा प्रधान सबसे अधिक चिंतित दीख रहा था । किन्तु चिंतित होकर भी वह सबसे अधिक गतिमान था । सारी सुध-बुध खोए वह व्यवस्था व्यस्त था । वह यदि अभी यहाँ दीखता, तो अगले ही क्षण दूसरे छोर पर पहुँच रहता । इंगित से अपने अधीनस्थ सैनिकों को सावधान करता अथवा आदेश देता, और फिर तत्परता से आगे बढ़ लेता । जन-समुदाय के इस अथाह सागर में कौन आ चुका है और कौन आ रहा है, भला यह ध्यान देने को उसे इस समय कहां अवसर था । हाँ, कभी-कभी स्वाभाविक रीति से अनायास ही उसकी उठी दृष्टि जन-समुदाय के आकार-प्रकार पर अवश्य फैल रहती । तब श्रेष्ठी पुत्री मंजरिका को लगता, हो न हो, आचार्य शिष्य ने उसे अवश्य ही देख लिया है । अतः वह मन ही मन संकोच का अनुभव कर अपने में सिमट-सी जाती । सामन्त पुत्री चारुस्मिता इस पर उसका हाथ खींच उधर ले जाने का प्रयास करती, जिधर कि इस बार आचार्य शिष्य अग्रसर होता । मंजरिका उसे यथाशक्ति विपरीत दिशा में खींचती । खींचातानी का यह क्रम पर्याप्त समय तक चलता रहा, किन्तु तो भी यथास्थिति ही बनी रही । कारण, सुरक्षा प्रधान को उनके आने का कुछ पता नहीं था, और उन दोनों को उसके निकट जाने से भी अधिक इस खींचातानी में ही आनन्द आ रहा था। सहसा आनन्दोच्छवास की उठी एक तरंग में मंजरिका ने अपना मुख चारुस्मिता के कानों के अत्यन्त समीप ले जा, फुसफुसाते हुए कहा—'सखी अब मैंने जाना कि तूने आज मुझे क्यों उपकृत किया है ।"

मंजरिका के ध्वनित फुसफुसाते श्वास ने जब चारुस्मिता के कानो का स्पर्श किया तो उसे गुदगुदी सी हो उठी । उसके कानों का रंग प्रगाढ़ हो उठा ; और गात फुरफुरा गया। फुरफुरी के साथ उसने किंचित मंजरिका की ओर देखा और फिर अत्यंत धीमे स्वर में बोली—'क्यों री, तू ने क्या जाना और मैंने तुझे कैसे उपकृत किया ?"

'यही कि तू मेरे साथ जो आई । भला कहाँ सामन्त पुत्र का साथ और कहाँ इस मंजरिका का ।"

चारुस्मिता की दृष्टि इस समय कही दूसरी ओर व्यस्त हो उठी थी । उधर देखते हुए ही उन्मन कण्ठ स्वर में बोली—"क्यों, क्या किसी प्रणय-उन्मत्त सखी के साथ होना कुछ कम आनन्द की बात है ।"

यह कह उसके मुख पर चपलता की सहज मुस्कान फैल गई। उसकी ओर देखती हुई वह पुनः बोली—"क्यों मंजरिका, मैंने इसमें कुछ अनुचित तो नहीं कहा ?"

मंजरिका ने उसकी ओर देखते हुए कहा—"भला मेरी सखी कभी कोई अनुचित बात क्यों कहने लगी, परन्तु सामन्त पुत्र भी तो यहाँ नहीं दीख रहे।"

चारुस्मिता कुछ खीझ-सी गई। बोली—"सखी! वह आजकल यहाँ हैं ही कहाँ, जो आते।"

मंजरिका हंस पड़ी। फिर हँसी को रोकने का प्रयास करती हुई बोली—"तभी तो मैं देख रही हूँ कि सामन्त पुत्री कुछ खोई-खोई सी है। कहाँ गए हैं री भला वह? या बिना बताए ही पिय परदेस गए…।"

चारुस्मिता हंस पड़ी। बोली—"अच्छा, श्रेष्ठी पुत्री आज तो तुझे भी कविता सूझ आई है।"

मंजरिका अपने अंतर के न जाने किस भाव वश इस समय अपनी इस निकटतम सखी के सम्मुख भी लजा गई। किन्तु अगले क्षण ही विहंस, बोली—"मुझे इधर उधर न घुमा, यह बता कहां गया है तेरा वह?"

अन्यमनस्क चारुस्मिता के मुख से बरबस निकल गया—"सखी वह राजगृह गए हुए हैं।"

मंजरिका यह सुन जैसे कुछ चौंक-सी गई। परन्तु प्रकट में सर्वथा संयत रह बोली—"वैशाली का यह आनन्द छोड़कर वह सामन्तपुत्र राजगृह गया है!" और यह कहते हुए मंजरिका के नेत्र आश्चर्य से विस्फारित हो उठे। तनिक रुक फिर बोली—"सचमुच, यह तो आश्चर्य है। या फिर वहाँ कोई राजपुत्री...! सखी, तू तो सचमुच बड़ी भोली है। जानती नही, किसी राजपुत्री के इन्द्रजाल में एक बार कोई फंसा नहीं कि फिर उसका बच निकलना एकदम ही असम्भव है।"

मंजरिका ने यह बात केवल विनोद में कही थी, फिर भी, वह जैसे चारुस्मिता के किसी मर्मस्थल का स्पर्श कर उठी। एक बारगी वह सिहर सी गई। किन्तु शीघ्र ही आत्मविश्वास के से दृढ़ स्वर में, सगर्व बोली—"सखी, यह तेरा भ्रम है, वह तो अपने किसी निजी काम से वहाँ गए हैं; अकस्मात् कोई महत्त्वपूर्ण काम जो निकल आया था।"

"ऐसा क्या महत्त्वपूर्ण कार्य था भला? क्यों सखी तुम्हें वह क्या यह सब कुछ नहीं बताते?"

इस पर चारुस्मिता ने जैसे कुछ रिक्तता का सा अनुभव किया। वह गंभीर हो उठी। बोली—"मंजरिका अब तक तो नहीं बताते थे। परन्तु हाँ, अब कुछ ऐसा अनुभव कर रही हूँ कि भविष्य में उन्हें बताकर ही जाना होगा।"

मंजरिका ने तत्परता से प्रश्न किया—"किन्तु सखी, क्या हमें पुरुष से यह सब जानने का अधिकार है?"

चारुस्मिता ने उत्तर से पूर्व मंजरिका की ओर देखा। फिर बोली—"अबोध सखी, अधिकार तो बनाने से बनता है अन्यथा—"

अभी वह कुछ और कह ही रही थी कि इसी बीच मंडप की ओर से तूर्य निनाद हो उठा; और उसकी ध्वनि कानों में पड़ते ही जन-समुदाय के मध्य से उठता कोलाहल शान्त हो गया। सभी के नेत्र उत्सुकता से मंडप की ओर देख उठे। गण-पुरुष साव-

धान हो, शस्त्रों को सम्भाल खड़े हो गए।

चारुस्मिता ने मंजरिका के हाथ को किंचित दबाया और फिर उसे झिंझोड़ते हुए नेत्रकोरों के इंगित से उसे कुछ दिखाने का प्रयास किया। आचार्य शिष्य इस समय सारी सुध-बुध खोये मंडप की ओर भाग रहा था। मंजरिका अभी उस ओर देख ही रही थी कि इसी मध्य जन-समुदाय भारी हर्ष ध्वनि कर उठा। इस पर उसकी दृष्टि हठात् मंच की ओर घूम गई। और फिर, वहाँ उसने जो दृश्य देखा उससे वह मन ही मन किसी अनिष्ट की आशंका से सहम सी गई। चारुस्मिता ने उसके कंधे पर हाथ रख उसे दबोचते हुए कहा—"सखी, भयभीत न हो, सब कुछ ठीक हो जाएगा।"

किन्तु मंजरिका आश्वस्त न हो सकी। विक्षुब्ध कण्ठ स्वर में बोली—"चारुस्मिता! आश्चर्य तो मुझे इस बात का है कि गणाध्यक्ष राजा चेटक और बन्धुवरसिंह अथवा श्रेणियरत्न कोई भी तो इस समय यहाँ उपस्थित नहीं। आचार्य शिष्य को अकेले ही......"

चारुस्मिता तत्परता से बोली—"तो उससे क्या, आचार्य शिष्य केवल उन्हीं के बल पर तो सुरक्षा प्रधान नहीं बना, उसकी अपनी भी योग्यता है।"

इस पर मंजरिका का कण्ठ स्वर सहसा तिक्त हो गया। बोली—"सामन्त-पुत्री, क्या व्यंग के लिए तुझे केवल यही अवसर रह गया था।"

वह कहने को यह कह गई, पर उस पर स्वयं ही चौंक भी उठी। चारुस्मिता ने उत्तर में केवल नेत्र तरेरते हुए उसकी ओर देखा। तब, मंजरिका दीनता से बोली—"सखी, भला मैं भी क्या कह गई। अरे, कहीं मैं विक्षिप्त तो नहीं हो उठी हूँ।"

चारुस्मिता इस पर हँसे बिना न रही। हँसी को रोक बोली—"श्रेष्ठी-पुत्री, सचमुच वह व्यंग ही था और तू विक्षिप्त भी हो गई है।"

मंजरिका जैसे कुछ भी न समझ सकी। कुछ बोली भी नहीं। केवल आशंका से मंच की ओर देखती रही।

सुरक्षा प्रधान के मंच पर पहुँचते ही तूर्य निनाद बन्द हो गया और जनसमुदाय उसे देख पूर्व से भी अधिक वेग के साथ करतल ध्वनि कर उठा।

करतल ध्वनि का यह गतिक्रम जब पर्याप्त समय तक चलता रहा तो अंततः वयोवृद्ध गणसंवाहक सामन्त भंजदेव ने सुरक्षा प्रधान की ओर देखा। फिर उसी की ओर देखते हुए वह कुछ मुस्कराए भी। इस पर सुरक्षा प्रधान ने नत मस्तक हो, मौन भाव से उनका अभिवादन किया और फिर जन समुदाय के सम्मुख दृष्टि कर अपनी दोनों बाहुओं को ऊपर उठाया; और उसी के साथ करतल ध्वनि का क्रम सहसा बन्द हो गया।

जन सागर के शान्त होते ही सुरक्षा प्रधान की उठी बाहुएँ भी नीचे गिर गईं। फिर दूर दिगंत को प्रध्वनित करता मंगल सूचक शंख बज उठा, और उसी के साथ-साथ घड़ियालों की झंकारपूर्ण ध्वनि से वह सारा प्रांगण अनुप्राणित हो गया।

जब यह सब कुछ भी समाप्त हो गया तो इस बार वयोवृद्ध गणसंवाहक ने जन समुदाय की ओर अपनी दृष्टि केन्द्रित कर, ऊर्ध्व बाहु हो, अपने स्वाभाविक गंभीर उच्च स्वर में कहा—"वैशाली के भद्र जनो! आयुष्मानो! आयुष्मतियो! सभी को

विदित है कि गण महानगरी की अपनी कुछ पुनीत परम्पराएँ हैं, और अनुशासन का पालन प्रत्येक नागरिक का मुख्य दायित्व है। अतएव आयुष्मानो एवं आयुष्मतियो, मैं आपके सन्मुख नत मस्तक हो, एक साधारण नागरिक के रूप में ही कुछ निवेदन करना चाहता हूँ। सुरक्षा पद पर मैंने आयुष्मान की नियुक्ति का किन्ही विशिष्ट कारणों से विरोध किया है। तथापि उस पद के प्रति सर्वथा सम्मान भाव दिखाते हुए, तथा वह इस पद पर आरूढ हैं इस तथ्य को केवल तथ्य मात्र मानते हुए, और सभी विरोधों को वर्तमान मे स्थगित करते हुए, उन्हें आज के इस आयोजन का अधिष्ठाता स्वीकार कर, द्वंद्व-नृत्य के लिए अपने घनिष्ठतम मित्र महाश्रेष्ठी मणिरत्न की प्रपौत्री, आयुष्मान सुव्रत की पुत्री, आयुष्मती रत्न कमल को उनके समक्ष प्रस्तुत करता हूँ।"

गणसवाहक की इस घोषणा को सुन प्रांगण में उपस्थित समूचे जन समुदाय में हर्ष की लहर दौड़ गई। उत्साह आवेग मे भारी करतल ध्वनि करता जन समुदाय यदि कभी गणसवाहक का नाम ले उनका जय-जयकार कर उठता तो कभी सुरक्षा प्रधान का; और फिर जब कुमारी रत्न कमल का उसने जयजयकार करना प्रारम्भ किया तो वह पर्याप्त समय तक अबाध गति से चलता रहा।

किन्तु इस सारी अवधि ही मंजरिका भय से काँपती रही। उसे हुआ, वृद्ध सामन्त की यह विनम्रता अथवा सहज स्वीकृति नहीं है वरन् किसी भीषण प्रहार की भूमिका मात्र है। मन ही मन वह यक्षेश मणिभद्र के सम्मुख कर-बद्ध हो बोली—"हे महाप्रभु! तूने आज तक न जाने कितनो की रक्षा की है। आचार्य शिष्य को भी तूने ही यहाँ सकुशल पहुँचाया है। तो क्या फिर वह आज तेरे चैत्य के सन्मुख ही... ..।" उसका कण्ठ भर आया। किन्तु वह फिर भी आगे बोलती रही—"हे महाप्रभो! यदि आज मेरे ये आचार्य शिष्य सर्वथा सुरक्षित प्रासाद लौट जाएँ तो मैं तुझे अपने गुप्त संचित कोष से पूरे दस सहस्त्र स्वर्ण कार्षापण अर्पित करूंगी।"

उधर करतल ध्वनि का क्रम अवरुद्ध होते ही गणसवाहक ने पुनः ऊर्ध्वबाहु हो कुछ कहना प्रारम्भ किया। वह बोले—"सुरक्षा प्रधान आचार्य शिष्य, आयुष्मती रत्नकमल का अभिभावक मैं हूँ। अभिभावक रूप में मैं उसे आपके सम्मुख प्रस्तुत कर रहा हूँ। अतः अब से उसकी रक्षा का भार मुझ पर नहीं वरन् आप पर होगा। आयुष्मान को यह स्वीकार है?"

आचार्य शिष्य ने नत मस्तक हो कहा—"आर्य की आज्ञा शिरोधार्य है।"

इस पर वह विस्तृत प्रांगण पुनः भारी करतल ध्वनि से अनुप्राणित हो उठा। जब यह गति प्रवाह शान्त हुआ तो गण संवाहक पुनः ऊर्ध्वबाहु हो, उच्च स्वर में बोले—"आयुष्मान्, आज का यह द्वद्व-नृत्य कितने महत्त्व का है, यह किसी से छिपा नहीं। सभी वाद-प्रतिवादों को ध्यान में रख मैं यह नितान्त आवश्यक समझता हूँ कि आज की इस अभूतपूर्व नृत्य प्रतियोगिता का निर्णायक कोई निष्पक्ष कला विशारद हो। अतः इस सम्माननीय पद के लिए मैं कार्य निवृत्त विनिश्चय अमात्य पूज्यपाद आचार्य श्री धर्मरक्षित शर्मा का नाम प्रस्तावित करता हूँ।"

आचार्य शिष्य ने करतल ध्वनि के मध्य पुनः नत मस्तक हो कहा—'आर्य का यह प्रस्ताव मुझे प्रीतिकर है।'

"केवल प्रीतिकर ही नहीं, बल्कि उनका निर्णय भी मान्य होगा, यह कहो आयुष्मान् ।" गणसंवाहक ने तनिक दृढ़ स्वर में कहा ।

गणसंवाहक का यह आदेशात्मक कथन आचार्य शिष्य को अरुचिकर प्रतीत हुआ। तो भी प्रकट में आवेश का कोई भाव न दिखा, वह पूर्ववत नम्र भाव से वृद्ध सामन्त की ओर देखते हुए बोला—"श्रद्धास्पद ! इस विनीत सेवक को पूज्यपाद आचार्यश्री बहुलाश्व का एक तुच्छ शिष्य होने का परम सौभाग्य प्राप्त हुआ है। अतएव नियम क्या है, और नियम के सन्मुख व्यक्ति का क्या स्वरूप है वह इसे भलि भाँति जानता है। फिर, वैशाली में तो नियम का ही शासन है । आर्य, इस आयोजन के अधिष्ठाता को आप क्या आदेश नहीं कर रहे हैं ?"

वयोवृद्ध गणसंवाहक को यह आचार्य शिष्य की धृष्टता प्रतीत हुई । परन्तु साथ ही उसके साहस को देख वह चकित भी हो उठे। उसकी आपत्ति को सर्वथा उचित समझ, बोले—"आयुष्मान क्षमा करें। वास्तव में यह वृद्ध सामन्त इस कला मंडप को भी गण संस्थागार समझने की भूल कर बैठा था।"

इसी मध्य जन समुदाय के दक्षिण छोर पर हुए एक कोलाहल ने सभी का ध्यान अपनी ओर आकृष्ट किया। महाश्रेष्ठी-प्रपौत्री रत्न कमल की शिविका की ओर जाते हुए सुरक्षा प्रधान आचार्य शिष्य ने भी जब उस ओर देखा तो उसके मुख पर एक सहज मुस्कान फैल गई । देवी शिष्या का वाहन आया देख गण पुरुष भी तूर्य निनाद कर उठा । उस निनाद को सुन कोलाहल शान्त नहीं हुआ वरन वह पुनः उच्च जय घोषों के भारी कोलाहल में परिणत हो गया।

जय घोषों के मध्य देवी शिष्या अन्ततः वाहन से नीचे उतरी । उसे देख लहराता जनसागर यथा स्थान खड़ा न रह सका ; उत्साह के आवेग में उत्सुक दृष्टि से उसी ओर भाग लिया। उधर आचार्य शिष्य ने कुमारी रत्नकमल की शिविका के अत्यन्त समीप पहुँच उस पर पड़े कौषेय वस्त्र को ऊपर उठाया और फिर नतमस्तक हो बोला—"आयुष्मती, कला का ज्ञान दुर्लभ है। अतः कलाकार होना सचमुच परम सौभाग्य की बात है; और जो अपने इस सौभाग्य पर संकोच का अनुभव करे, भला उससे बड़ा महाभाग कौन है।" कहते हुए उसने शिविका की ओर अपना हाथ बढ़ाया। फिर बोला—"सुभगे, इस आयोजन के अधिष्ठाता रूप में मैं आपका स्वागत करता हूँ। नृत्य देवी, आप मंच पर पधारें, यह जनसमुदाय न जाने कब से आपकी प्रतीक्षा में आतुर है।"

इस पर महाश्रेष्ठी प्रपौत्री ने नेत्रकारों से आचार्य शिष्य की ओर देखते हुए उसके हाथ का अवलम्ब ले लिया। फिर संकोच से दबे स्वर में बोली—"आर्य की आज्ञा शिरोधार्य है। आर्य आज कुछ समय के लिए मेरे भी अभिभावक बने हैं, इसे मैं अपना परम सौभाग्य मानती हूँ।"

वह शिविका से उतर आचार्य शिष्य के हाथ का अवलम्ब लिए-लिए ही संकोच-बोझिल धीमी गति से मंच की ओर बढ़ ली। इसी मध्य देवी शिष्या भी वहाँ पहुँच चुकी थी। दोनों की उपस्थिति से न केवल नृत्य मंच, वरन् सारा प्रांगण अनुप्राणित हो उत्साह से उच्छाँगे ले उठा।

वे दोनों ही देवी आम्रपाली की प्रमुख शिष्या थीं, अतएव दोनों में उस क्षण

प्रतिस्पर्धा का उत्साह होते हुए भी उनके हृदय में एक दूसरे के प्रति स्नेह एवं समादर का भाव विद्यमान था। मौन रहे-रहे ही उन्होंने नेत्रकारों से एक दूमरे की ओर देखा और इंगित ही इंगित मे अभिवादन का आदान-प्रदान भी किया। सन्मुख लहराते जन समूह को देख दोनों ही के अन्तर में उत्साह का संचार हो उठा और प्रस्तुत द्वंद्व का स्मरण कर उनके मुख कमल पर जो आत्म विश्वास का भाव परिलक्षित हुआ, उसे देख अभी से यह कहना असम्भव था कि आज की विजयश्री का श्रेय उनमें से किसको मिल सकेगा।

सहसा, वाद्य वृन्द झंकृत हो उठा। सुरक्षा प्रधान के अनुरोध पर आचार्यश्री धर्म रक्षित शर्मा भी इस समय तक निर्णायक का आसन ग्रहण कर चुके थे। दोनों ने करबद्ध हो, मस्तक नत कर पहले तो उनका अभिवादन किया और फिर प्राँगण में लह-राते जन समुदाय को।

और, जन समुदाय दोनों ही के प्रति स्वागत भाव दिखा, उनका समान रूप से जय-जयकार कर उठा।

वीणा के तार झंकार उठे। उसकी झकारों को सुन बेला का भी कोमल करुण स्वर फूट निकला। बांसुरी भी किसी के अधर के स्पर्श से रोमांचित हो गूंज उठी। फिर उन सभी का स्वर एक दूसरे के सहयोग में झंकारता, स्वर संचारता, सर्वत्र गूंजता अग्रसर हो लिया, अग्रसर होता रहा कि मृदंग पर सहसा पडी एक थाप से थिरक, मंच पर लगी एक ठेक से ठिठक वह यथास्थान खड़ा हो गया। और जब पदाघात से ध्वनित किकण भी शान्त हो गए तो देवी शिष्या ने अपनी दाईं ओर खड़ी कुमारी रत्न कमल की ओर नेत्रकोर से देख, जैसे कोई प्रस्ताव किया। रत्न कमल ने भी उसी प्रकार अपने नेत्र कोर से उसके प्रस्ताव का मानो अनुमोदन कर दिया; और फिर आचार्य शिष्य की ओर दृष्टिपात किया। आचार्य शिष्य भी उसके इंगित का माशय समझ उसके समीप आ खड़ा हुआ। देवी शिष्या ने अपनी दृष्टि शून्य में ही स्थिर रख कुछ कहा और फिर आचार्य शिष्य ऊर्ध्व बाहु हो, बोल उठा—"भद्र जनो ! देवी-शिष्याएँ कहती है, हम एक ही पीठिका की सहपाठिनी है ; और हम दोनों को एक ही अधि-ष्ठात्री की शिष्याएँ होने का समान सौभाग्य प्राप्त हुआ है। अतः इस प्रकार सार्वजनिक रूप से हम एक दूमरे के विरुद्ध प्रतिद्वन्द्वी रूप में प्रस्तुत हों, यह कला पीठिका की प्रतिष्ठा के सर्वथा प्रतिकूल है।"

यह सुन गणसवाहक स्तब्ध रह गए। आवेशपूर्ण दृष्टि से उन्होने समीप बैठे महाश्रेष्ठी की ओर देखा।

जन समुदाय भी निराशा की खिन्नता से मंच की ओर देख उठा।

आचार्य शिष्य केवल तटस्थ भाव से इस सारे दृश्य को देखता रहा। वह अभी भी यथापूर्व ऊर्ध्वबाहु रह खड़ा हुआ था। किंचित मौन के पश्चात वह पुनः बोला—"सौम्य जनो ! तो भी···।"

सभी अपनी साँस रोक उत्सुकता से उसकी ओर देखने लगे। गणसंवाहक की ओर तनिक देख वह आगे बोला—"देवी शिष्याएँ इस प्रसंग में कुछ कहा चाहती हैं। वे कहती हैं कि एक दिन कला पीठिका में बड़ी ही विचित्र बात हुई। सभी देवी

शिष्याओं ने मिल बैठ अकस्मात् एक निश्चय किया। उन्होंने निश्चय किया कि आज संध्या ही देवी अधिष्ठात्री की उपासना की जाए। यह अपराह्न की बात है; और पतझर की ऋतु तो थी ही। वाटिका मे प्रातः जो थोड़े बहुत पुष्प खिले थे, उन्हें शिष्याओं ने शृंगार की उमंग में पहले ही तोड अपने-अपने जूडो में गूंथ लिया था। अतः, उपासना के लिए वाटिका में अब एक भी पुष्प नहीं रह गया था। लो फिर बिना पुष्प देवी अधिष्ठात्री की उपासना किस प्रकार हो ? तो सौम्यजनो, इस प्रकार सभी देवी शिष्याओं का उमगता उत्साह समस्या की गहनता मे उलझ गया।

"तब, दो देवी शिष्याओं ने सहसा एक प्रस्ताव किया। वे बोलीं—चलो, हम उपासना की वेला तक कहीं से पुष्प ले आती हैं, और फिर वे दृढ निश्चय कर वहाँ से प्रस्थान कर उठीं। यह उनका अनुपम पुष्प अभियान था। किन्तु, खेद है कि उनमें से केवल एक ही सपुष्प लौट पाई। तो सौम्य जनो, अब वे देवी शिष्याएं आपके सन्मुख अपना वही पुष्प अभियान नृत्य प्रस्तुत करती हैं।"

यह सुन गणसंवाहक का मुख खिल गया; और जन समुदाय उत्साह से हर्ष ध्वनि कर उठा। वाद्य वृन्द भी झंकारता हुआ प्रारम्भ हो गया।

दोनो देवी शिष्याएँ अब अपनी सजीव भाव-भंगिमाओ द्वारा शेष सभी शिष्याओ से कह रही हैं—"अरी ओ सुभगाओ, आज तो हमने देवी अधिष्ठात्री की उपासना का निश्चय किया था और तुमने पहले ही से सभी पुष्प चन कर अपने इन जूड़ों में गूथ लिए। वाटिका में एक भी पुष्प नही छोडा। अब बताओ, भला उपासना के समय देवी अधिष्ठात्री के कोमल चरणों पर क्या अर्पित करोगी।" यह सुन सभी शिष्याएँ जैसे चिंतित हो उठती हैं। मंच पर केवल दो ही शिष्याएँ हैं, परन्तु दर्शकजनों को प्रतीत हुआ, वहाँ अनेक शिष्याएं हैं और उन्हें सभी के चिंतित मुख दीख रहे हैं। तब वे दोनो शिष्याएँ कहती हैं—"चलो कोई बात नही, हम कही जा, पुष्प ले आती हैं।" इस पर शेष सभी शिष्याओ के मुख कमल की भाँति खिल उठते हैं ; और वे मगल-कामना प्रकट करती हुई अपनी दोनो सखियों को विदा करती हैं।

पुष्प अभियान के लिए चली इन देवी शिष्याओं को दर्शकजन भी जय-जय कार करता हुआ उनको प्रोत्साहित कर उठा। किन्तु वे अभी चली ही थी कि उनके पाँव मार्ग पर पडे काँटो से विद्ध गए। जन समुदाय भी पीड़ा से सी कर उठा। किन्तु वे दोनो मौन रहे ही अपनी मुख मुद्राओ के इंगित से परस्पर सम्भाषण करती हैं। एक कहती है—"प्रिय सखी, अभियान में यदि ये बाधाएँ न आईं तो फिर उसका उच्छ्वास ही क्या हुआ। बिना बाधाओं के वह तो नीरस है।" दूसरी उत्तर देती है—"हाँ सखी, तुम ठीक कहती हो।" वे फिर चल पड़ती हैं। लो, अब एक नदी ही आ गई और ऋतुराज की उपत्यका न जाने अभी और कितनी दूर है। फिर परस्पर ही कह उठती हैं—"चलो, कितनी भी दूर हो, अब वापस तो लौटा नही जा सकता।" और यह कहते हुए जब वे अपने अधोवस्त्र को संभालती, संभल-संभल पग रखती, नदी के जल की थाह लेतीं आगे बढ़ीं तो उस समय सभी के सम्मुख एक पर्वतीय नद का वास्तविक दृश्य उपस्थित हो गया। जन-समुदाय चित्रलिखा-सा मंच की ओर देखता रहा; और दोनों देवी शिष्याएँ नदी को पार कर आगे बढ़ निकलीं। अंत में

ऋतुराज की उपत्यका आती है। सर्वत्र हरी-भरी और उसकी दूर दिगंत तक फैली हरीतिमा पर पुष्प खिले हैं। इन पुष्पों को देख कुमारी रत्न कमल उतावली में उन्हें तोड़ने को उद्यत हो उठती है। परन्तु देवी शिष्या उसे टोक कहती हैं—"प्रिय सखी, ये तो चोरी के पुष्प हुए। भला देवी अधिष्ठात्री के चरणों पर चुराए पुष्प चढ़ाएँगीं !" "हाँ, ठीक कहती हो"—कहते हुए रत्नकमल ने अपना बढा हाथ वापस समेट लिया। "परन्तु अब क्या करोगी ?" कुमारी रत्नकमल ने फिर उत्सुकता से प्रश्न किया ? देवी शिष्या ने कहा—"चलो, स्वयं ऋतुराज के पास चलनी हैं।" फिर वे उसे खोजती-खोजती-सी चल पड़ती हैं। "पर यह क्या ! ऋतुराज तो समाधि लगाए बैठे हैं, अब क्या होगा ?" महाश्रेष्ठी-प्रपौत्री ने प्रश्न किया। देवी शिष्या ने नेत्र इंगित से बताया—"प्रिय सखी, अब तो केवल नृत्य ही उपाय है।" किन्तु रत्नकमल प्रश्न करती है—"समाधि भंग होने पर ऋतुराज कहीं कुपित न हो जाएँ ?" "नहीं प्रिय सखी, ऋतुराज और वह नृत्य से कुपित हो जाएं !"

इसी मध्य मृदंग पर सहसा एकाकी थाप पड़ी। दोनों अब मुख्य नृत्य के लिए प्रस्तुत हुईं। वाद्यवृन्द किंचित विश्राम के पश्चात पुनः प्रारंभ हो उठा। नृत्य-कुमारियों के पैरों के किंकरण भी बज उठे। वाद्यवृन्द नृत्य के साथ और नृत्य वाद्यवृन्द के साथ गति लेता चला। सभी मंत्र मुग्ध हो उनकी गति को निहार उठे, मन ही मन कहते रहे—"क्या ही अबाध गति है।" अंततः गति का प्रवाह इतना वेगवान् हो उठा कि दर्शकों की दृष्टि में गति अदृष्ट हो उठी और केवल अनुभूति शेष रह गई। परन्तु नृत्य का प्रवाह अभी भी गतिमान था. जैसे तीव्र-गति से निर्णायक क्षण की ओर अग्रसर हो उठा हो। सहसा देवी शिष्या को हुआ, कहीं से कुछ व्याघात उपस्थित हुआ है। वाद्य वृन्द के स्वर-ताल ठीक थे। फिर उसने कुमारी रत्न कमल के थिरकते पैरों की ओर देखा, और फिर देखा नेत्रकोरों से उसके मुख की ओर। इंगित ही इंगित में उसको प्रोत्साहित किया। वह भूल गई कि उसके साथ नृत्य करती दूसरी उसकी कोई प्रतिद्वंद्वी है।

वयोवृद्ध निर्णायक अपनी दत्तचित दृष्टि से यह सब कुछ देखते रहे और वह और सावधान हो उठे।

कुमारी रत्नकमल की पग गति को देवी शिष्या के इंगित से कुछ बल मिला; और वह पूर्व से भी अधिक उत्साह से नृत्य व्यस्त हो उठी। देवी शिष्या का साथ देती रही। परन्तु कब तक देती रहती। देवी शिष्या ने पुनः उसकी ओर देखा। साथ छूटते देख कुछ खीझी भी। पर, उसकी खीझ में तिक्तता नहीं वरन् वह स्नेह भाव था, जो प्रोत्साहित कर उठता है। निर्णायक ने यह देखा तो मन ही मन प्रसन्न हो रहे। किन्तु दूसरे ही क्षण अपने सम्मुख के दृश्य को देख वह भयभीत हो उठे। कुमारी रत्नकमल अचेत अवस्था में मंच पर पड़ी थी। गणसंवाहक की मुख आभा निस्तेज हो उठी; और महाश्रेष्ठी व्याकुल हो उठे। किन्तु देवी शिष्या सखी का साथ छूट जाने पर भी नृत्य व्यस्त थी। वह नृत्य करती रही। सहसा मृदंग पर पड़ी एक थाप के साथ गति अवरुद्ध हो गई। जन समुदाय 'साधु-साधु' का उच्चारण करता जय घोष कर उठा। फिर करतल ध्वनि का जो क्रम प्रारभ हुआ तो वह अबाध गति से चलता

रहा। जन समुदाय में उपस्थित कुमारियों और नववधुओं ने अपने जूड़ों में गुंथे पुष्प निकाल उसकी ओर फेंक दिए, और फिर इन पुष्पों को देख पुरुषों ने भी अपने-अपने शरीर से आभूषणों को उतार मंच पर फेंक दिया।

और, इस सारी अवधि देवी शिष्या सभी के सम्मुख अपना आंचल पसारे खड़ी रही। अंततः अपने आंचल में इन सभी अर्जित, अर्पित पुष्पों एवं आभूषणों को समेट जन समुदाय की ओर से मुख फेर चैत्य के सम्मुख उपस्थित हो गई। नृत्य चलता रहा।

इसी मध्य वयोवृद्ध निर्णायक आचार्यश्री धर्मरक्षित शर्मा उठ खड़े हुए और ऊर्ध्व बाहु हो, उन्होंने घोषणा की—"भद्रजनो! आयुष्मानो! परिणाम स्पष्ट है।"

बारह

अभिजात समाज अपनी इस पराजय पर अत्यंत खिन्न हो; अन्ततः खीझ उठा।

गणसंवाहक क्या, स्वयं महाश्रेष्ठी का यह दृढ़ विश्वास था कि कुमारी रत्न कमल जब नृत्य मंच पर उपस्थित होगी तो उसे देख देवी शिष्या निश्चित ही हतोत्साहित हो उठेगी; और फिर दर्शक जन ही भला एक अभिजात कन्या के सामने किसी दासी पुत्री में क्यों अभिरुचि दिखाने लगे। किन्तु कुमारी रत्नकमल ने मध्य नृत्य में अचेत हो उन सब की आशाओं पर ही तुषारपात कर दिया। इस पराजय पर महाश्रेष्ठी ने जैसे भारी आत्म ग्लानि का अनुभव किया। लज्जा से उनका सिर ही नहीं उठ पा रहा था; वह कुछ बोल भी नही पा रहे थे। गणसंवाहक की मनःस्थिति भी अत्यन्त दुविधापूर्ण हो उठी। नेतृत्व के दायित्वभार के कारण जैसे कोई समस्या अब विकराल रूप ग्रहण कर उनके सम्मुख आ उपस्थित हुई। वह उसे देख विचलित तो नहीं हुए, परन्तु एक रिक्तता विशेष का अनुभव अवश्य कर उठे। उत्साह की गति सहसा मन्द पड़, अवरुद्ध हो गई; और श्रेष्ठी भित्तविदक को तो ऐसा लगा जैसे निराशा का कोई भारी पहाड़ सहसा उन पर आ पड़ा हो। किन्तु सामन्त कार्तिकेय स्पष्ट ही उत्तेजित दीख रहे थे। सबके मलिन मुखों को देख वह और उत्तेजित हो उठे। बोले—"आर्यवर! अब इन सभी बातों का मोह छोड़ना ही हमारे लिए हितकर है, अन्यथा आत्मसमर्पण अथवा विनाश निश्चित है।"

इस पर सामन्त वीरभद्र बोल उठे—"बन्धुवर! आपके मुख से आत्मसमर्पण की यह बात सुनकर मुझे तो अत्यन्त आश्चर्य हुआ है। अभी से आत्मसमर्पण की बात कहना क्या पराजय को स्वीकार करना नहीं हुआ? परन्तु हम परास्त हुए ही कहाँ हैं? संघर्ष की दिशा में यह पहला ही तो पग है, उसके आधार पर कोई दूसरा मार्ग अपनाने की बात कहो तो उचित भी है।"

सामन्त कार्तिकेय ने पूछा—"और भला वह दूसरा मार्ग कौन सा है बधुवर?"

दोनों ही सामन्तों के मध्य का यह वाद-विवाद किस दिशा विशेष में बढ़ने वाला है, श्रेष्ठी भित्तविदक उसे समझने में असमर्थ नहीं रहे। वह सावेश अपनी पीठिका से उठ, गणसंवाहक की ओर देखते हुए बोले—"क्यों आर्यवर, क्या आप इस ज्वलंत प्रश्न को गण संथागार के सम्मुख प्रस्तुत नहीं कर सकते?"

सामन्त भजदेव श्रेष्ठी भित्तविदक के इस प्रश्न का उत्तर देने को उद्यत ही हुए थे कि इसी मध्य कार्तिकेय जैसे फूत्कार उठे। बोले—"आर्यवर! यह कायरों का प्रस्ताव है; हमारा नहीं। सभी उपस्थित जन कान खोलकर सुन लें, इस महत्त्वपूर्ण

प्रश्न का निपटारा गण संथागार में नहीं वरन् वैशाली के राज पथों एवं वीथियों में होगा, उसका निपटारा तर्क वितर्क अथवा वाद-विवाद नहीं, वरन् खड्ग करेगा। यदि गण महानगरी की वीथियाँ रक्त रंजित भी हो उठे, तो, हमें इसमें किंचित दुःख न होगा। क्यों बंधुवर वीरभद्र ! मैंने कुछ अनुचित तो नहीं कहा ?"

यह कह सामन्त कार्तिकेय ने सभी उपस्थित सामन्तों एवं श्रेष्ठीजनों पर दृष्टि-पात किया। श्रेष्ठी भित्तविदक बोल उठे—"जानते हो मित्र सामन्त, आपने अभी यह जो कुछ कहा है उसका क्या अर्थ हुआ ? उसका स्पष्ट ही अर्थ हुआ वज्जिसंघ की सत्तासम्पन्न बृहत् सभा के प्रति अविश्वास और उसके अधिकार को चुनौती। वैशालिक यदि उसके अधिकार को चुनौती दे, तो वह निश्चित ही विद्रोह हुआ; साधारण विद्रोह नहीं वरन् गणद्रोह।"

यह सुन सामन्त कार्तिकेय पहले से भी अधिक उत्तेजित हो, बोल उठे—"श्रेष्ठिन्, जो तुम कह रहे हो, वह निश्चित ही कायरों की भाषा है, गण द्रोह की बात कह, क्या तुम हमें भी हतोत्साहित कर, भीरु बनाना चाहते हो ? परन्तु विश्वास रखो, हम भीरु बनने वाले नहीं हैं, गण सथागार में तुम इस प्रश्न को प्रस्तुत कर संघर्ष से पीठ फेरना ही तो चाहते हो; और अन्ततः चाहते हो समस्या को स्थगित करवाना, जब कि उसका तत्काल निपटारा होना चाहिए; आज ही, और अभी-अभी विशेषकर जब कि विपक्ष अपनी इस विजय पर हर्ष मना रहा हो। उसकी यह विजय और यह हर्ष भी यदि हमारे लिए चुनौती न बन सकी तो फिर ऐसा कौन-सा अवसर आएगा, जब हम अपने खड्ग उठा, उन्हें द्वन्द्व के लिए ललकार सकेंगे।"

सामन्त वीरभद्र जैसे कार्तिकेय के एक-एक शब्द से सहमत थे। वह अपनी पीठिका से उठ, गणसंवाहक की ओर दृष्टि केन्द्रित कर नतमस्तक हो, बोले— 'आर्य-वर, सामन्त कार्तिकेय जो कुछ भी कह रहे हैं उसे आप उनका केवल आवेश न समझें; वह एक निश्चित प्रस्ताव है, जो विचारणीय है; विचारणीय ही नहीं, वरन् उसके पक्ष में अभी निर्णय कर हमें कृत सकल्प भी होना होगा "

महाश्रेष्ठी इस वाद-विवाद को सुन अब तक जैसे सचेष्ट हो चुके थे, तो भी उन्होंने अभी मौन रखना ही उचित समझा। मौन रहे-रहे ही उन्होने श्रेष्ठी भित्तविदक की ओर देखा। श्रेष्ठी भित्तविदक गणसंवाहक की ओर दृष्टि फेर बोले—"आर्यवर, तो फिर मेरा भी दृढ मत है कि इस प्रश्न को संथागार में प्रस्तुत किया जाए। क्यों ? क्योंकि हमारा वह मुख्य दायित्व है। वैशाली की एक परम्परा की रक्षा के लिए उसकी ही एक दूसरी परम्परा की, जो उससे भी कहीं अधिक महत्त्वपूर्ण है, इस प्रकार उपेक्षा करना न तो हमें शोभा देता है, और न ही वह समूचे वज्जि सघ के हित में है। आर्यवर, सामन्त कार्तिकेय इस समय आवेश में हैं, इसी से ऐसा प्रस्ताव कर रहे हैं और उसके विनाशकारी परिणामों पर नहीं सोच रहे। क्या मैं बंधुवर सामन्त से पूछ सकता हूँ कि विदेह की जनता ने अपने राजा के विरुद्ध विद्रोह कर, अपने यहाँ एकतन्त्र प्रणाली को समाप्त कर अन्ततः वज्जियों के इस संघ में सम्मिलित होना क्यों स्वीकार किया ? केवल इसीलिए तो, कि वहाँ के सभी प्रजा जन इस संथागार से आकृष्ट हुए थे, और यदि हम आज स्वयं ही उसकी इस प्रकार उपेक्षा करें तो भला वे क्या सोचेंगे ? और

साथ ही मगध, काशी, वत्स आदि के ये रजुल्ले क्या कहेंगे ? वे सभी यही तो कहेंगे कि देख लिया, देख लिया क्या व्रात्यों के इस जाज्वल्यमान आदर्श के प्रतीक को, जो एक साधारण सी समस्या को भी सुलझाने में असमर्थ रहा। और इस प्रकार हमारी सभी आस्थाओं का केन्द्र बिन्दु सर्वत्र उपहास का विषय बनकर रह जाएगा। आर्यवर, यह कदापि नहीं हो सकता।"

महाश्रेष्ठी मणिरत्न श्रेष्ठी भित्तविदक के इस तर्क पर मन ही मन प्रसन्न हो उठे, किन्तु सामन्त वीरभद्र उससे सहमत होकर भी उसे स्वीकार न कर सके। बोले—"श्रेष्ठिन्, दास-दासी पुत्र अथवा पुत्रियाँ आर्य सम्पत्ति के उत्तराधिकार के अधिकारी हैं अथवा नहीं, यह सर्वथा वैशाली का एक निजी प्रश्न है, मागधों अथवा वत्सों का उससे क्या सम्बन्ध; हम इस प्रश्न को जैसे चाहें निपटाएँ। इसमें भला वे क्यों हस्तक्षेप करें ? श्रेष्ठिन् यदि आप अपने मन मे से भय को निकाल दे और साथ ही उस लोभ को भी, जो आपको भयभीत बनाए हुए है, तो आप भी निश्चित ही इसी निष्कर्ष पर पहुँचेंगे कि विना शस्त्र उठाए इस समस्या का समाधान असम्भव है। विपक्ष जब कृत संकल्प हो तो फिर हमारे लिए और विकल्प रह ही क्या गया है ? जानते हो श्रेष्ठिन्, आज जब यह समाचार दास कम्मकरों की बस्ती में पहुँचा होगा तो वे किस प्रकार उल्लसित हो उठे होंगे ? क्या वे कल उद्दंड हो हमारा सामना नहीं करेंगे ? हमें ललकार भी उठें तो इसमें किंचित भी आश्चर्य न होगा। अतः हमारे लिए अब बस यही श्रेयस्कर है कि हम शस्त्र उठाएं; जो इस पक्ष मे नहीं, वे भले ही हमसे पृथक हो जाएँ।'

यह कह सामन्त कार्तिकेय अपनी पीठिका पर बैठ गए और उसी के साथ सामन्त वीर भद्र उठ, खड़े हो गए। वह कुछ कहने ही लगे थे कि इस बार गणसंवाहक बोल उठे। उन्हें कदाचित यह वाद-विवाद अरुचिकर लगा। तभी उनका कण्ठस्वर बोझिल हो उठा। कहने लगे—"आयुष्मानो, ऐसा प्रतीत होता है कि आज की इस पराजय से आप सभी अत्यत निराश हो उठे हैं। किन्तु क्या हमें इस प्रकार निराश होना शोभा देता है। निराशा से खिन्न हो अथवा खीझ कर यदि हम एक दूसरे पर इस प्रकार आक्षेप करेंगे अथवा केवल अपने ही मत को सर्वोपरि मान उस पर दृढ़ हो रहेंगे, फिर तो गतिरोध का होना अनिवार्य ही है। और जब एक बार गतिरोध आ गया तो फिर सपराजय इस संघर्ष को समाप्त हुआ समझो। किन्तु तनिक यह भी तो सोचो कि हम यहाँ किस उद्देश्य के लिए एकत्रित हुए हैं। आयुष्मानो, उद्देश्य महत्त्वपूर्ण हैं, उद्देश्य ही के लिए संघर्ष है, संघर्ष के लिए उद्देश्य नहीं। और संघर्ष में कभी विजय है तो कभी पराजय भी, किन्तु यदि हम उद्देश्य के प्रति आस्थावान् हैं और हमारा विश्वास दृढ़ है तो विश्वास रखो एक दिन हमारी विजय निश्चित है; और जब विजय निश्चित है तो फिर अधीर होने की क्या आवश्यकता है ? आयुष्मानो, इस प्रश्न को गण संथागार में प्रस्तुत किया जाए, मैं इस पक्ष में नहीं। वह किसी प्रकार भी बुद्धिमतापूर्ण नहीं···।"

गणसंवाहक की बात मध्य ही में रुक रही। कारण, बाहर से आती किसी की पग आहट उनके कानों से आ टकराई थी।

सहसा एक मूक दासी ने कक्ष में प्रवेश किया। उसने क्षणेक तो नेत्र कोरों से कुछ खोजा और फिर वह महाश्रेष्ठी के सम्मुख एक पत्र रख, तत्परता से बाहर

निकल गई। इस प्रकार एक पत्र आया देख सभी चकित हो उठे। सहसा कक्ष का वातावरण अत्यंत गंभीर हो उठा!

महाश्रेष्ठी पत्र को पढ़ते-पढ़ते ही अपने आसन से उठ खड़े हो गए और उनका मुख रुआँसा हो गया।

उनकी यह परिवर्तित मनोदशा देख, गणसंवाहक भी उठ उनकी ओर बढ़ लिए। उनके मुख पर भी व्यग्रता का भाव झलक आया। महाश्रेष्ठी के कंधे पर हाथ रख पूछने लगे—"क्यों मित्रवर, सब सकुशल तो है न?"

इस पर महाश्रेष्ठी का कण्ठ स्वर और बोझिल हो उठा। बोले—"मित्र भंजदेव! आयुष्मती की दशा चिन्ताजनक हो गई है। अचेतावस्था में अब उसने न जाने क्या कुछ कहना प्रारंभ कर दिया है। यह पत्र देखो न।"

गणसंवाहक ने पत्र पढ़ा तो वह स्तब्ध रह गए। किन्तु केवल एक क्षण के अंतर से ही उनके मुख पर आवेश का भाव छा गया। बोले—"क्यों बंधुवर यह पत्र तो उसी आचार्य शिष्य ने भेजा है न?"

यह सुन, सभी सावेग अपनी-अपनी पीठिका से उठ खड़े हुए और प्रायः सभी एक स्वर में ही सविस्मय पूछ उठे—"आचार्य शिष्य ने? और वह भी महाश्रेष्ठी के प्रासाद से? आर्यवर, यह क्या?"

फिर सामन्त कार्तिकेय का अकेला स्वर उस कक्ष में गूंज उठा। कहने लगे—"आर्यवर, और वह दासी कन्या भी यदि इस समय वहीं उपस्थित हो तो कोई आश्चर्य नहीं।"

सामन्त वीरभद्र बोल उठे—"यह तो सचमुच आश्चर्य की बात हुई। उससे भी अधिक आश्चर्य तो यह है आर्यवर, कि आचार्य शिष्य को वहाँ आने का साहस कैसे हुआ; या फिर उसके प्रवेश पर वहाँ कोई प्रतिबंध नहीं है।"

गणसंवाहक को लगा, यह तो बनते भवन की आधार शिला ही खिसक उठी। तो भी उन्होंने प्रकट में निराशा का कोई भाव नहीं दिखाया। सामन्त वीर भद्र पर दृष्टि केन्द्रित कर वह बोले—"आयुष्मान्, महाश्रेष्ठी पर असावधानी का यह आक्षेप निराधार है। वह तो नृत्य समाप्ति के समय से ही हमारे साथ यहाँ मंत्रणा व्यस्त हैं। यह तो निश्चित ही उसी आचार्य शिष्य का दुस्साहस प्रतीत होता है, जिसने महाश्रेष्ठी की अनुपस्थिति का लाभ उठाने की धृष्टता की है।"

इस पर सामन्त कार्तिकेय बोल उठे—"तो फिर आर्यवर, क्या हम उसके इस वार को भी निरुत्तर जाने देंगे? हम सभी को इसी क्षण महाश्रेष्ठी के प्रासाद की ओर प्रस्थान कर उस मातंग पुत्र से पूछना होगा, उससे कहना होगा,—"क्यों रे तेरा यह दुस्साहस! क्या तेरे आचार्य बहुलाश्व ने तुझे यही शिक्षा दी है कि जब विपक्षी अनुपस्थित हो, तो पीछे से उसके आवास पर ही धावा बोल दो। आर्यवर, यह तो सचमुच दुस्साहस और निर्लज्जता की पराकाष्ठा है।"

उत्तर में गणसंवाहक बोल उठे—"निस्संदेह आयुष्मान्, किन्तु उसके इस आचरण का एक पक्ष और भी तो है।"

"वह क्या आर्यवर?" सामन्त कार्तिकेय प्रगाढ़ उत्सुकता का भाव दिखाते हुए

पूछ उठे।

इसी मध्य महाश्रेष्ठी अत्यधिक व्यग्रता से बोल उठे—'बंधुवर, जो भी निश्चय आप करें, मुझे मान्य होगा, पर मेरे लिए अब यहाँ और खड़े रहना असंभव है, आयुष्मती को यदि कुछ हो गया तो...?"

महाश्रेष्ठी का कण्ठ अवरुद्ध हो उठा; और वह पूरी बात कहे बिना ही मावेग कक्ष से बाहर निकल गए। उनके मानस पटल पर जैसे एक साथ ही अनेक ढंग की बातें उभर आई। उनके अंतराल को न जाने कितनी शंका-कुशंकाओं ने घेर लिया; और प्रत्येक डग के साथ ही उनका विचार प्रवाह नया मोड लेता चला। उन्हें लगा, जैसे कोई उनके अन्दर विद्रोह कर उठा है, और यह विद्रोह पवन के प्रत्येक झोंके का स्पर्श पा उग्रतर होता जा रहा है। किन्तु उनके अंतर में बैठा पितामह उन सभी बातों से निरपेक्ष रह केवल एक ही समस्या पर सोचने में व्यस्त था। वह अपने से कहने लगे--'मणिरत्न, आयुष्मती को यदि कहीं कुछ हो गया तो तू किसी प्रकार भी आयुष्मान सुव्रत को मुँह दिखाने के योग्य न रहेगा। देश-देशान्तरों में वाणिज-अभियान कर जब वह सोत्साह लौटेगा, और उसे यह दुःखद समाचार मिलेगा तो वह निश्चित ही शोकातिरेक से विक्षिप्त हो उठेगा। कहेगा, पितृवर, क्या आप मेरी एकमात्र पुत्री का संरक्षण भी करने में असमर्थ रहे। यह तो किसी प्रकार भी शोभास्पद नहीं कि जब पिता विदेश में हो, उसकी पुत्री को बलात् एक सार्वजनिक नृत्य के लिए प्रस्तुत कर दिया जाए; क्या वैशाली के समूचे अभिजात समाज में वही अकेली ऐसी रह गई थी, जिसे नृत्य के लिए प्रस्तुत किया जाता? उसके अतिरिक्त अन्य अनेक सामन्त पुत्रियाँ भी तो थीं, जब थीं तो उनमें से ही किसी को क्यों प्रस्तुत नहीं किया गया?"

महाश्रेष्ठी को लगा, जैसे सुव्रत उन्हीं के सम्मुख खड़ा है, और वह उसके अनर्गल प्रलाप को सुन निरुत्तर हो उठे हैं। किन्तु दूसरे ही क्षण वह जैसे कोई दृढ़ निश्चय कर उठे। अपने से बोले—'आयुष्मती को यदि सचमुच कुछ हो गया तो यह भी निश्चित समझो कि यह वृद्ध भी सुव्रत को मुंह दिखाने के लिए शेष न रहेगा।' पर इसी के साथ जैसे वह कुछ सोच पूर्व से भी अधिक व्यग्र हो उठे। कहने लगे—'तो फिर, क्या आयुष्मान को एक नहीं दो-दो चिन्ताओं का एक साथ ही भार वहन करना होगा। नहीं, मणिरत्न ऐसा कदापि नहीं हो सकता, यदि आयुष्मती को कुछ हो भी गया तो मैं उसके आने तक अवश्य रहूँगा, कम से कम उसे सांत्वना तो दे सकूँगा, और उससे क्षमा की याचना कर सकूँगा उस जघन्य अपराध के लिए, जो मुझ से अनायास ही हो गया। मेरा सुव्रत ऐसा नहीं, जो मुझे क्षमा न करे, वह अवश्य ही क्षमा कर देगा और कहेगा—पितृवर, इतनी सी बात और उसके लिए इतना शोक, आपने तो अभिजात समाज की मान-मर्यादा के लिए वह महान त्याग किया है जो और किसी के लिए असम्भव था; और फिर उसका सिर गर्व का अनुभव कर उन्नत हो रहेगा।

महाश्रेष्ठी के चले जाने के पश्चात् पर्याप्त समय तक कक्ष में मौन छाया रहा। अंततः गणसंवाहक बोले—'आयुष्मान वीरभद्र, तुम्हारा यह आवेश स्वाभाविक था, फिर भी वह उचित नहीं रहा। महाश्रेष्ठी ने अपनी प्रपौत्री को द्वंद्व-नृत्य के लिए प्रस्तुत कर न केवल उदारता का परिचय दिया है, वरन् हम सभी को उपकार के भारी

[ब]ोझ से भी लाद दिया है। फिर वह वयस में भी तो तुम से काफी बड़े हैं। अब तक [न] जाने कितने अनुभवों का संचय किया होगा; यहाँ तक कि मेरे अनुभव भी उनके सामने [न]गण्य हैं, अतः वह समवयस्क होकर भी मेरी दृष्टि में श्रद्धास्पद हैं। फिर वैशाली में [त]ो अपने सभी वृद्धों का सम्मान करना एक नियम है।"

सामन्त वीर भद्र वयोवृद्ध सामन्त की इन सभी बातों को केवल मौन रह, सुनते [र]हे। अन्त में नतमस्तक हो बोले—"आर्यवर, निश्चय ही आवेशवश मुझ से यह [ध]ृष्टता हुई, और उस पर मैं स्वयं लज्जित हूँ। महाश्रेष्ठी से मैं उसके लिए अवश्य ही [क्ष]मा याचना करूँगा; आशा है वह भी इस अभागे......"

इस पर गणसंवाहक जैसे गर्व का अनुभव कर उठे। बोले—"आयुष्मान्, [त]ुम्हारा यह शील निश्चित ही उच्च कुलोचित है। हमें यही शोभा देता है।"

और फिर एक-एक कर सभी वयोवृद्ध सामन्त को अभिवादन कर कक्ष से बाहर [न]िकल लिए। बाहर आ सामन्त कार्तिकेय शेष सभी से बोले—"बन्धुओ, हम सभी इस [स]मय यदि महाश्रेष्ठी के प्रासाद की ओर चले तो कैसा है? बन्धुवर सुव्रत की अनु[प]स्थिति में महाश्रेष्ठी का इतना चिंतित हो उठना स्वाभाविक ही है।"

इस पर श्रेष्ठी भित्तविदक ने कहा—"और यदि वह आचार्य शिष्य वहीं उप[स्]थित हुआ तो?"

श्रेष्ठी भित्तविदक ने यह कह, जैसे सभी के सम्मुख एक दुविधा उपस्थित कर [द]ी; फिर भी वे सभी इस समय कुछ और बात न सोच, उधर ही की ओर प्रस्थान [क]र उठे।

तेरह

आचार्य शिष्य जब अपने आवास में लौटा तो उस समय तक रात्रि के पूरे दो प्रहर बीत चुके थे। किन्तु इतनी रात्रि गए भी जब उसने अपने कक्ष में मंजरिका को उपस्थित पाया तो उसे आश्चर्य हुए बिना न रहा। वास्तव में उसे आश्चर्य से भी अधिक कुछ और अनुभव हुआ; वह क्या था, उसे वह स्वयं समझने में असमर्थ रहा। उसे लगा, मंजरिका ने इस समय उपस्थित हो उसे इस प्रकार अत्यधिक अनुग्रह भार से लादने का प्रयास किया है। उसे उसका यह प्रयास किंचित् भी रुचिकर न लगा और इस अनुग्रह विशेष के विरुद्ध जैसे उसका हृदय विद्रोह कर उठा। उसके मन में आया, वह इसी क्षण कक्ष से बाहर निकल कही भाग खड़ा हो। साथ ही वह रात्रि के इस सिमटते स्वरूप में किसी आगत यौवना को इस प्रकार अपने अति निकट देख, संकोच का अनुभव भी कर उठा। 'किन्तु', वह सोचने लगा—'यह आगत यौवना कोई अपरिचिता भी तो नहीं। पूर्व के न जाने किन अज्ञात संस्कारो वश परस्पर केवल साक्षात्कार होकर भी नहीं रह गया है। वैशाली में आने के समय से ही वह मेरी सेवा में व्यस्त रही है; सो भी कुछ ऐसे मनोयोग से जैसे वह अपनी सारी शक्ति लगा किसी पूर्व जन्म के ऋण से मुक्त हुआ चाहती हो।' यह सोचते हुए आचार्य शिष्य मन ही मन अपने पर हँसे बिना नही रहा। किन्तु अगले क्षण ही, उसका सारा अंतराल पीडा से कराह उठा। वह अपने से ही बोला—'ध्वजधर, तूने इस जीवन में न जाने कितनों को विनय की साकार मूर्ति बन, नतमस्तक हो अपने को सगर्व अकिंचन कहते हुए सुना होगा। यह उनका अभिनय ही तो है, और कदाचित् सभ्य समाज का सुस्थापित शील भी। पर, मेरे जीवन में तो यह केवल वास्तविकता ही बन कर रह गई है, ऐसी वास्तविकता कि जिसने···।' आचार्य शिष्य जैसे आगे कुछ भी सोचने में असमर्थ रहा। हाँ, अन्तर का व्यथा भाव अवश्य प्रगाढ़ हो उठा, जो सहज ही मे उसकी दृष्टि में भी उभर आया। उसकी व्यथा-बोझिल दृष्टि बलात् ऊपर उठ, सन्मुख खडी मंजरिका पर जा टिकी और मन जीवन के न जाने किस अस्पष्ट पन्ने को निस्संकोच भाव से उसे सुनाने को आतुर हो उठा; भारी निःश्वास उसके मुख से निकल कक्ष में फैल गया। और फिर वह किसी विवशता का अनुभव कर जैसे कुंठित-सा हो उठा।

किन्तु मजरिका को ऐसा लगा, जैसे उसे जीवन में जो अब तक नहीं मिल सका था, वह आज केवल कुछ क्षणों में ही अनायास प्राप्त हो गया। आचार्य शिष्य की व्यथित दृष्टि का स्पर्श कर उसका अंतराल एक स्पंदन अनुभव कर उठा, और अनुभव कर उठा एक ऐसे अभूत भाव को, जो यौवन भार से दबी, संकोच से सिमटी और न

जाने किन ज्ञात एवं अज्ञात अभिशापों वश अपने को जन्मजात दुर्बल समझने वाली नारी को उदात्तता का सहज आभास करा जाता है। मजरिका ने आज अपने में सर्व-प्रथम एक ऐसे ममत्व का अभ्युदय होते देखा था, जो कोमलतम होकर भी सबल होता है। उसे हुआ, वह साधिकार अपने इन कोमल प्रतीत होते हाथों से भी व्यथित-हृदय आचार्य शिष्य को—जैसे वह एक अबोध बालक हो—बलात् अपने अंक में खींच, फिर जी भर उसे समेटते हुए सांत्वना प्रदान करने की क्षमता रखती है; वह गर्व का अनु-भव कर उठी। किन्तु फिर भी न जाने क्यो वह इस समय अपने इस गर्व वश अर्जित अधिकार का उपयोग न कर सकी। आचार्य शिष्य के हाथ से उत्तरीय को ले, बस उसे सम्हालती रह गई। तो भी वह इतने भर में ही न जाने क्या कुछ अनुभव कर उठी। इस समय उसका समूचा अंतराल ही मुखरित था। किन्तु प्रकट में सर्वथा गंभीर रह, वह सहज ढंग में बोली—"आचार्य शिष्य, वैशालिकों को अपनी एक बात का बड़ा गर्व था, पर अब देखती हूँ उनका वह गर्व केवल निरर्थक ही था।"

आचार्य शिष्य समूचे दिन और रात्रि के बीते इन दोनों प्रहरों में भी निरन्तर व्यस्त रहा था, अतः अब अंग प्रत्यंग में भारी क्लांति अनुभव कर रहा था। वास्तव में अंग प्रत्यंग से भी अधिक उसे अपना मस्तिष्क थका प्रतीत हुआ, अतः केवल मौन रह शय्यारूढ़ हुआ चाहता था। फिर भी उत्सुकता वश उसके मुख मे जैसे बलात्, स्वाभा-विक, पर उन्मन भाव से निकल गया—"क्यों देवी, ऐसी वह कौन-सी बात थी?"

मंजरिका पूर्व के ही सहज ढग में बोली—"आचार्य शिष्य, वैशालिको का अनु-मान था कि उनकी गण महानगरी वैशाली के राज पथ तो क्या वीथियाँ भी अत्यन्त सीधी और सरल हैं, पर देखती हूँ जैसे आप तो उनमें भी भटक सकते हैं।"

यह कह मजरिका के मुख पर एक गाढ़ी मुस्कान फैल गई; कर्णपटी अरुणिम हो उठी और दृष्टि? उसमें जैसे कोई स्वप्न उभर आया। और उसने जो कुछ कहा था उस पर आचार्य शिष्य को जैसे हँसी आया चाहती थी। किन्तु उसे न जाने किस बात का सहसा स्मरण हो उठा। और फिर जैसे उसी के साथ किसी गुह्य प्रान्त में भटकता कोई तिक्त भाव भी ऊपर उभर उसके क्लांत, निर्लेप दीखते मुख पर छा गया। पर वह जैसे कण्ठ स्वर को किसी प्रकार संयत करने में सफल रहा। सप्रयास, सहज ढंग में बोला—"श्रेष्ठी-पुत्री कुछ भी हो, हूँ तो मैं अभी तक एक वैदेशिक ही।"

यह कह, उसके मुख का अवशिष्ट तिक्त भाव एक मुस्कान में बिखर गया। वास्तव में वह कुछ और कहने को भी उद्यत हो उठा। वह कहना चाहता था—'वैशाली में इस समय केवल दो ही तो वैदेशिक हैं—एक तो स्वयं मैं और दूसरी देवी शिष्या; देखा, देवी शिष्या का नृत्य आज कितना महत्त्वपूर्ण था, फिर भी वहां न तो गणाध्यक्ष राजा चेटक आए और न बधुवर सिंह सेनापति ही; और न ही महापौर श्रेणिय रत्न! क्यों?' परन्तु वह अपनी इस बात में न जाने क्या अनुचित समझ, केवल इतना ही कह कर रह गया।

और आचार्य शिष्य ने जितना कुछ कहा, उतने मात्र से ही मंजरिका को लगा, जैसे उस पर कोई बज्रप्रहार हुआ है। पर यह क्या, वह कशाघात का अनुभव करके भी उसे सहर्ष सहन कर गई; कर ही नहीं गई, बरन् जैसे यह सब कुछ बिना

किसी प्रयास के ही केवल स्वाभाविक गति से होकर रह गया। और इसमें उसे कुछ-कुछ गर्व का भी अनुभव हुए बिना न रहा। सोत्साह बोली—"आचार्य शिष्य, भटकने की बात तो मेरे मुख से यूं ही निकल गई। वस्तुतः मैं तो यह सोच रही थी कि क्या इस वैशाली में आपके लिए कोई और पद नहीं रह गया था, जो इतनी रात्रि गए तक भी विश्राम नहीं मिल पाता। और फिर, गण महानगरी की अब जैसी स्थिति बन गई है, उसे देख तो मेरे मन में न जाने कब से केवल एक ही प्रश्न टकरा रहा है। मैं सोच रही हूँ आचार्य शिष्य, कि भला अब क्या होगा?"

यह कहते हुए मंजरिका की मुख मुद्रा गभीर हो उठी और साथ ही उस पर प्रगाढ़ चिन्ता की गहनता छा गई।

किन्तु आचार्य शिष्य मंजरिका द्वारा व्यक्त इस प्रगाढ चिन्ता को सकारण एवं उचित समझ कर भी इस समय न जाने क्यो ठहाका दे हँस पडा। यह देख मंजरिका कुछ लज्जित हो रही; हतोत्साहित भी हो गई। पर आचार्य शिष्य अगले क्षण ही अपनी हँसी को रोक सहसा गंभीर हो उठा। बोला—"श्रेष्ठी-पुत्री, भविष्य के प्रति चिन्ता का हो जाना स्वाभाविक है, पर साथ ही निरर्थक भी। क्यों? क्योंकि वह अदृष्ट है। उस पर यदि गर्व करो तो वह शोभास्पद नही और यदि उसके प्रति निराश हों तो वह आत्मघात के समान है।"

मजरिका को लगा, जैसा उसे कोई अवलम्ब मिल गया। उत्साह का अनुभव कर तत्परता से बोल उठी—"किन्तु आचार्य शिष्य आने वाले कल की ओर से असावधान रहना भी तो कोई दूरदर्शिता नहीं।"

आचार्य शिष्य शय्या पर बैठ, बोला—"श्रेष्ठी-पुत्री, आप सत्य कहती हैं।" पर शुभे, सत्य भला कभी तटस्थ रहा है? रहस्यपूर्ण दीखता उसका स्वरूप सदा ही तो परिवर्तन शील रहा है; अपने को विकासोन्मुख कह, सत्य ने कब किसको नहीं भटकाया है। आज ही की बात को ले लो न! यदि देवी शिष्या के स्थान पर महाश्रेष्ठी प्रपौत्री विजयी घोषित कर दी जाती तो एक सत्य अशेष बन रह जाता और दूसरा सत्य मुखरित हो, विजयश्री का किरीट धारण कर, गर्व से अपना शीर्ष ऊपर उठा कहता—"सुनो भद्रजनो! सत्य मैं हूँ। श्रेष्ठी-पुत्री, उचित अनुचित की बात मैं नहीं करता, परन्तु वह तथ्य तो बनकर रह ही जाता। उसे न मैं अस्वीकार कर सकता था और न कोई अन्य ही।"

यह कह कर भी आचार्य शिष्य न जाने क्या कुछ सोचता-सा रह गया। उसकी उठी दृष्टि सम्मुख की एक दीप शिखा पर जा केन्द्रित हुई।

मंजरिका किंचित सोच, बोल उठी—"और आचार्य शिष्य, जब सत्य ही तटस्थ नहीं, तो फिर जो सुन्दर है वह ही स्थायी कहाँ हुआ?"

यह सुन आचार्य शिष्य मौन ही रहा। मंजरिका भी उत्तर की प्रतीक्षा में मौन रह आचार्य शिष्य की ओर देखती रही; देखती रही कि उसकी दृष्टि में ऐसा क्या स्थिर हो उठा है। किन्तु उसके ज्योतित नेत्रों को देख वह केवल अनुमान ही लगा सकी। किंचित मुस्कान के साथ बोली—"आचार्य शिष्य क्या देख रहे हो?"

आचार्य शिष्य ने दीपशिखा पर पूर्ववत् दृष्टि रख कहा—"देवी, जो देख रहा

हूँ, वह अदृष्ट है, अतः रहस्यपूर्ण है।"

मंजरिका किंचित मुस्कान के साथ बोली—"आचार्य शिष्य हृदय से उदार हैं, कदाचित् इसी से उनकी दृष्टि में सब कुछ रहस्यपूर्ण है।"

आचार्य शिष्य मंजरिका की यह बात सुन हतप्रभ हुए बिना न रह सका। दीपशिखा से दृष्टि हटा उसने मंजरिका की ओर फेरी। और फिर विस्मय का सा भाव प्रकट करते हुए कुछ कहने को उद्यत हो उठा। किन्तु इसी मध्य मंजरिका हंस पड़ी। उसकी हँसी रिक्त नहीं थी, उसे स्पष्ट ही उसका बोध हुआ। वह और भी अधिक विस्मय से उसकी ओर देख उठा, देखता रहा। अंत में शय्या से उठ, उसकी ओर बढ़, बोला—"श्रेष्ठी-पुत्री ठीक ही कहती हैं कि जो सुन्दर है, फिर वही स्थायी कहाँ हुआ। किन्तु देवी, उसका रहस्योद्घाटन कौतूहल है और कौतूहल आकर्षण।"

यह कह उसकी दृष्टि मंजरिका के मुख पर केन्द्रित हो गई। मंजरिका ने कुछ कहने की दिशा में अपने पलक ऊपर उठाए तो वे बस उठे ही रह गए। आचार्य शिष्य चाहकर भी अपनी दृष्टि नत न कर सका। सहसा पूछ बैठा—"तो शुभे, क्या उदारता सचमुच कोई दोष है?"

मंजरिका ने अपनी दृष्टि नत कर गम्भीर हो कहा—"आचार्य शिष्य, मन की स्थिरता जीवन का अनुशासन है और समाज की एक व्यवस्था भी।"

"तो फिर लोभ का संवरण क्या आत्मा का हनन नहीं हुआ, शुभे?" आचार्य शिष्य ने उलट कर, जैसे आकुलता से प्रश्न किया। मंजरिका भी उतनी ही तत्परता से उत्तर में बोल उठी—"है, आचार्य शिष्य, अवश्य है; किन्तु उसकी भी अपनी मर्यादाएं हैं।"

आचार्य शिष्य ने जैसे इस बार आत्म विश्वास की दृढ़ता से कहा—"देवी, मुझे जितना स्मरण है. मैंने कम से कम मर्यादा का उल्लंघन नहीं किया। क्या मैं देवी से उपकृत नहीं हुआ हूँ। मैंने निश्चित ही उपकार का उल्लंघन नहीं किया है, देवी उसके साथ विश्वासघात तो एक दूर की बात है।"

आवेश से आचार्य शिष्य का कण्ठ स्वर कुछ दृढ़ हो गया और क्लांत मुख पर उत्तेजना की लालिमा उभर आई। मंजरिका ने सहसा उसका हाथ पकड़, फिर उस पर अपना करतल रख, कहा—"आचार्य शिष्य, कदाचित आवेशित हो उठे हैं। मर्यादा की बात मैंने स्वाधिकार के भ्रम वश कह दी थी, किन्तु आचार्य शिष्य आपके मुख से 'उपकृत हुआ' सुन तो मैंने अपने को निश्चित ही लांछित हुआ अनुभव किया है। मेरे आराध्य, मैं इतनी हतभाग तो नहीं हूँ।"

मंजरिका जो कुछ कह रही थी, आचार्य शिष्य उसे अत्यन्त ध्यान से सुन रहा था। किन्तु अन्तिम वाक्य को सुन कर तो वह जैसे स्तब्ध रह गया। उत्तर में क्या कहे, क्या न कहे, वह यह सोच ही रहा था कि मंजरिका तुरन्त उठ खड़ी हुई, और सावेग कक्ष से बाहर निकल गई।

आचार्य शिष्य उसके पश्चात् कुछ भी सोचने में असमर्थ रहा; किसी निष्कर्ष पर पहुँचना तो जैसे उसके लिए सामर्थ्य से बाहर की ही बात बन गई।

और, नित्य की भाँति अगली प्रातः बेला में भी जब मंजरिका कक्ष में आई तो

आचार्य शिष्य को अपने नेत्रों पर विश्वास नहीं हुआ। उसने समझा था कि श्रेष्ठी-पुत्री अब कभी भी यहाँ नहीं आएगी। अतः, उसने सोचा था—'प्रातः होते ही मैं स्वयं उसके कक्ष में जाऊँगा, और उसके सम्मुख अपना निश्चय प्रकट करूँगा, उसने निश्चय किया था—'मैं श्रेष्ठी-पुत्री से जाकर कहूँगा, सौम्यमुखी, इस सारी अवधि मैंने तुम्हें कष्ट ही कष्ट दिया है, भला कब तक ऐसा करता रहूँगा, क्या मैं यहाँ से कहीं अन्यत्र नहीं जा सकता।' उसे विश्वास था कि श्रेष्ठी-पुत्री अवश्य ही कहेगी—'आचार्य शिष्य, भला मैं तुम्हें रोक भी किस प्रकार सकती हूँ।' पर साथ ही वह सोच उठा, क्या वह बस इतना ही कहकर रह जाएगी। वह निश्चित ही कहेगी—'आचार्य शिष्य, मैं क्या, यह तो कोई भी कह सकता है कि देवी शिष्या की अट्टालिका जैसी सुविधा भला यहाँ कहाँ है। 'और यदि उसने वास्तव में ऐसा ही कहा', वह सोचता रहा, 'तो मैं उससे स्पष्ट ही कहूँगा—देवी, तुम्हें केवल भ्रम हुआ है; और यदि ऐसी ही बात है तो फिर यह भी निश्चित समझो कि यह ध्वजधर वैशाली में भी नहीं रहेगा, जैसे एक दिन वह यहाँ आया था वैसे ही चला भी जाएगा, उसने निश्चय किया कि यदि प्रातः होते ही मंजरिका न भी मिली तो मैं फिर स्वयं माता वसुधरा से कह आऊँगा, या फिर कह दूंगा बंधुवर श्रेणियरत्न से। यह सुन वह अवश्य ही आश्चर्यचकित हो उठेंगे, कदाचित कारण भी पूछेंगे, पूछेंगे तो क्या हुआ? मैं उनसे नतमस्तक हो, सविनय कहूँगा—'क्यों बन्धुवर, अकारण ही आपको जो इतना कष्ट दे बैठा, क्या वह पर्याप्त नहीं? फिर बन्धुवर बिना कारण भी तो इस संसार में बहुत कुछ होता रहता है।' परन्तु, इसी के साथ, वह अपने निश्चय पर जैसे पुनर्विचार के लिए बाध्य हो रहा। अपने ही से बोला—'अपने इस निश्चय को मैं माता वसुंधरा अथवा बन्धुवर श्रेणियरत्न के सम्मुख प्रकट करूँ, यह कुछ आवश्यक तो नहीं। वैशाली से जाने लगा तो क्या यह मैं बन्धुवर सिंह या देवी रोहणी से कहने बैठूंगा, और यह बात देवी शिष्या से कहने की भी क्या आवश्यता पड़ी है। किन्तु देवी शिष्या का ध्यान आते ही वह सोचने लगा—'वैशाली से जाने की बात किसी से कहूँ या न कहूँ, देवी शिष्या से तो कहनी ही होगी।' क्यों कहनी होगी? वह इसका अपने से स्पष्ट उत्तर चाहता था, केवल चाह कर ही नहीं रह गया, वरन् आतुर हो उठा। उसे लगा, देवी शिष्या जैसे स्वयं ही उसके सम्मुख आकर खड़ी हो गई हो और उसकी इस दुविधा पर मुस्करा, कह रही हो—'क्यों आचार्य शिष्य, प्रश्न जहाँ समाप्त होता है, क्या वहीं से उत्तर स्वतः प्रारम्भ नहीं हो जाता? विवेक के इस आडम्बर ने तो उसके मध्य यूं ही व्यर्थ की ओट खड़ी कर दी है। आचार्य शिष्य देवी शिष्या के मुख से यह सुन शय्या पर लेटे-लेटे ही जैसे नतमस्तक हो रहा; उल्लसित भी हो उठा और जो कुछ उसने उसी के माध्यम से सहज रूप में कहलवा दिया था, उस पर मनन करता रहा। मनन करते-करते ही उसे एक हल्की-सी झपकी आ गई थी कि मंजरिका की पग आहट से वह भी भंग हो रही।

मंजरिका को सम्मुख देख कर भी आचार्य शिष्य को अपने नेत्रों पर विश्वास भले ही न हुआ हो, परन्तु आश्चर्य अवश्य हो रहा। उसे इस बात का आश्चर्य हुआ कि इतनी रात्रि गए सोकर भी वह नित्य की भांति नियमित समय पर कैसे उठ बैठी। केवल उठ बैठी ही नहीं, वरन् यहाँ भी आ पहुँची, जैसे कल कुछ भी तो नहीं हुआ।

किन्तु जब उसकी नेत्र दृष्टि स्वतः ही उसके मुख पर जा टिकी तो वह केवल स्तब्ध रह गया। शय्या पर लेटा भी नहीं रह सका। उसके निद्रा बोझिल नेत्रों को देख विस्मय से बोला—"देवी, क्यों क्या आज सारी रात्रि ही नहीं सोई ?"

मंजरिका आचार्य शिष्य के इस प्रश्न का जैसे तत्काल कोई उत्तर देने में असमर्थ रही। हाँ, अन्तर की विवशता और खिन्नता सिमट कर एक फीकी मुस्कान के साथ मुख पर अवश्य फैल गई। और फिर मन में सहसा उठी किसी हिलोर के साथ नेत्र सजल हो उठे। वह कक्ष से पुनः भाग निकली।

आचार्य शिष्य क्षणेक तो किंकर्तव्यविमूढ़ रह उसी दिशा में देखता रहा, और फिर वह भी जैसे हठात् उसी दिशा में भाग खडा हुआ। तत्परता से बढ़ मंजरिका की बाहुओं को पकड़, वह उसका मार्ग रोकता हुआ खड़ा हो गया। उसका कण्ठ स्वर आर्द्र हो उठा। बोला—"देवी, क्या तुम मुझे क्षमा नहीं कर सकती ; देवी विश्वास करोगी ? मैं इस समय अत्यन्त दुखी हूँ।"

मंजरिका जैसे इस बार भी उत्तर देने में असमर्थ रही। उसका विद्रोह करता मन विह्वल हो उठा। तो भी उसने कुछ कहने का प्रयास किया। किन्तु शब्द केवल कण्ठ तक ही आकर रह गए, अवरोध को पार नहीं कर सके। तो भी वह कुछ सोचती रही ; सोचती रही कि कह दूं—'मेरे आराध्य, यह तो आप मुझे कोई कठोर दण्ड दे रहे हैं।' परन्तु वह बस सोचकर ही रह गई।

इसी मध्य आचार्य शिष्य उसकी बाहुओं को झिंझोड़ते हुए पूछ उठा—"क्यों, देवी, क्या तुम मुझे सचमुच क्षमा नहीं करोगी ?"

मंजरिका को हुआ, वह पाश छुड़ा कर भाग जाए ; पर भागने की सामर्थ्य हो तभी तो ! न वह भाग ही सकी और न प्रश्न का उत्तर ही दे पाई। आचार्य शिष्य और व्यग्र हो उठा। इस बार बाहुपाश को छोड उसने मजरिका के चिबुक का स्पर्श कर, बलात् उसे ऊपर उठाया और फिर बोझिल कण्ठ स्वर में बोला—"शुभे, इस जीवन में न जाने कब से उपकारों से ही लदता चला आ रहा हूँ, इतने उपकारों से कि अब उनका और अधिक भार वहन करना मेरे वश की बात नहीं रही; फिर भी आज, देवी, एक और उपकार पाने की इच्छा बलवती हो उठी है। देवी, कह दो, कह दो कि आचार्य शिष्य तुझे क्षमा नहीं किया जा सकता।"

मंजरिका ने इस बार जैसे अंतः प्रेरित हो अपनी दृष्टि तनिक ऊपर उठाई और आचार्य शिष्य की ओर देखा। क्या कहे और क्या न कहे, यह सोचने का जैसे उसे समय ही नहीं मिला। उसके मुख से मानों हठात् निकल गया—"आचार्य शिष्य, जीवन में मैं कभी उद्दंड बनूं, यह मेरी अभिलाषा कदापि नहीं रही, और न ही यह अभिलाषा है कि अनुभूति के विपरीत आचरण करूँ और वह भी किसी ऐसे से......।" सहसा उसका कण्ठ स्वर अवरुद्ध हो गया। आचार्य शिष्य उत्सुकता से उसकी ओर देखता रहा। क्षणेक रुकने के पश्चात् मंजरिका ने मानों अपने अन्तर की सारी शक्ति एकत्र कर पुनः कहा—"जो मैं कहूँगी, आचार्य शिष्य क्या उस पर विश्वास करेंगे ?"

आचार्य शिष्य तत्परता से बोल उठा—"देवी, विश्वास करो, अविश्वास का यह जघन्य अपराध भी करूं, ऐसा साहस मैं कदापि नहीं कर सकता।"

मंजरिका तनिक पीछे हट, बोली—"आचार्य शिष्य, तो फिर सुनो, आपने मुझ से उपकृत हुआ कह मेरे सौभाग्य पर ही तो लांछन लगाया है। क्या किसी का गर्व तिरस्कृत होकर भी मौन रह सकता है? आचार्य शिष्य, मैं आपको सचमुच क्षमा नहीं कर सकती।"

आचार्य शिष्य को लगा, जैसे उसे सचमुच उसका अभीष्ट मिल गया हो। हर्षातिरेक में वह मानों चिल्ला उठा—"देवी, आज तो मैं सचमुच धन्य हो गया हूँ। सचमुच धन्य हुआ हूँ, देवी।" यह कहते हुए कब उसके हाथ दूर खड़ी मंजरिका तक पहुँच गए और कब बढ़े हाथों ने उसे खींच पाशबद्ध कर वक्ष से सिमटा लिया, इसका न उसे स्वयं पता चल सका और न मंजरिका को ही।

चौदह

गण संवाहक सामन्त भंजदेव मध्याह्न का भोजन कर, अभी-अभी शय्या पर लेटे थे कि संदेशवाहक कपिल कक्ष में आ पहुँचा। नत मस्तक हो, वह सविनय बोला--"आर्य, आस्थानागार में कोई वैदेशिक चित्रकार आया हुआ है।"

एक वैदेशिक चित्रकार के आने की बात सुन गणसंवाहक को कुछ आश्चर्य हुआ। उनके मुख पर कौतूहल का भाव भी फैल रहा। तो भी वह कुछ सोच बोले—"आयुष्मान्, तुम तो देख रहे हो, आज प्रातः ही से मैं कितना व्यस्त हूँ, क्या वह तीसरे प्रहर तक प्रतीक्षा नहीं कर सकता?"

इस पर संदेशवाहक पूर्व से भी अधिक विनीत कण्ठ स्वर में बोला—"आर्यवर, वह अनुरोध मैं उससे पहले ही कर चुका हूँ, पर उसने तत्काल दर्शन का विशेष आग्रह किया है।"

यह सुन गणसंवाहक को और भी अधिक आश्चर्य हुआ। कौतूहल का भाव भी प्रगाढ़ हो गया। फिर भी प्रकट में कुछ उपेक्षा का सा भाव दिखा, वह मानों भारी मन से बोले--"अच्छा आयुष्मान्, तो फिर अभी लिवा लाओ।"

तत्पश्चात् वह जैसे अपने ही को कुछ सुनाते हुए से बडबड़ा उठे। संदेशवाहक कपिल ने कक्ष से बाहर निकलते हुए वह सब कुछ सुना, किन्तु सुनकर भी प्रत्यक्षतः कुछ समझने में असमर्थ रहा। बस, अनुमान लगाता रह गया। वास्तव में, आज अति प्रातः ही से प्रासाद में फिर जैसे किसी गंभीर मंत्रणा का क्रम गतिमान था और कम्मकरों की बस्ती से आए एक संवाद विशेष को सुन अभिजात समाज में भारी ज्वार आया हुआ था। फिर संदेशवाहक को उस बात का भी स्मरण हो आया, जो दासी कन्या छाया ने उसे बताई थी। वह उस समय सचमुच कितनी घबराई हुई थी, इस बात का ध्यान आते ही उसके मन में उसके प्रति इस समय भी कारुण्य का संचार हो उठा। संदेशवाहक फिर अपने ही से बोला—'दासी कन्या का घबरा उठना स्वाभाविक ही तो था। अभिजात समाज के उस निर्णय को सुन भला कौन आतंकित न हो उठेगा।'

किन्तु गणसंवाहक के मन में इस समय कोई दूसरी ही दुविधा थी। वह सोच रहे थे कि यदि विपक्ष ने कम्मकरों को भी कहीं शस्त्र-सज्जित कर दिया तो फिर कोई भी ऐसी शक्ति नहीं, जो वैशाली में गृह युद्ध की विभीषिका को रोक सके। 'और भंजदेव,' वह अपने ही से कह उठे, 'यदि तू ने उसे रोकने का प्रयास किया भी, तो ये उग्र सामन्त पुत्र तुझे भी अपने में से निकाल बाहर करेंगे। और, कौन जाने, मुझे

प्रपने मार्ग की बाधा समझ मेरा ही·········।"

गणसंवाहक जैसे अपने ही विचार प्रवाह से भयभीत हो उठे। वह अपने नेत्रों पर हाथ रख तनिक विश्राम की साँस लिया ही चाहते थे कि संदेशवाहक कपिल आगंतुक चित्रकार को साथ ले कक्ष की ओर आता प्रतीत हुआ। गणसंवाहक सचेष्ट हो उठे। उन्हें अत्यत निकट आया समझ शय्या पर उठ भी बैठे। और जब वे कक्ष में प्रविष्ट हुए तो वह शय्या से उठ, अपने दोनों हाथो को पसार, उल्लसित कण्ठ से बोले—"आओ, आर्य आओ।"

और इतनी-सी देर में ही गणसंवाहक आगतुक को एक छिद्रान्वेषक की सी दृष्टि से आपादशीर्ष देख गए। आगंतुक इस बात को समझ गया, तो भी उसने प्रकट में इस स्वागत पर भारी हर्ष ही प्रकट किया; यात्रा थकिन उसका मुख खिल उठा। गणसंवाहक का अभिवादन कर वह सविनय बोला—"आर्य ने मेरे विशेष आग्रह को स्वीकार कर मुझ पर निश्चित ही अति उपकार किया है। और, आर्य के इस विश्राम में मैं धृष्टतावश जो विघ्न डालने का अपराध कर बैठा हूँ, आशा है आर्य इस अकिंचन को अवश्य ही क्षमा कर देंगे।"

आगंतुक के मुख से यह सुन गणसंवाहक के मुख पर सहज संकोच का भाव उभर आया। वह बोले—"आर्य, भला इसमें अपराध की क्या बात हुई।" फिर सन्मुख पड़ी स्वर्ण पीठिका की ओर हाथ से सकेत कर कहने लगे—"आर्य उस पर विराजमान हो।" और यह कह वह स्वयं भी शय्या पर बैठ गए।

आगंतुक ने जैसे अपने को उपकृत हुआ अनुभव किया। पीठिका पर बैठते हुए बोला—"आर्य का यह स्वागत भाव निस्सदेह उच्च कुल गौरव के अनुरूप ही है। फिर आर्य का कला प्रेम भी तो सर्व विदित है, तभी तो यह सेवक इतना साहस कर सका।"

"नहीं आर्य, यहाँ आ आपने यह तो मुझ पर अनुकम्पा की है; किसी कलाकार का मैं स्वागत कर सकूँ, यह तो मेरा परम सौभाग्य है।" यह कह गण संवाहक ने अपनी दृष्टि ऊपर उठाई, क्षणेक चित्रकार की ओर देखा, और फिर उसे सदेशवाहक कपिल की ओर फेरते हुए उसे जैसे वहाँ से जाने का सकेत किया।

आगंतुक चित्रकार इस मध्य उत्सुक दृष्टि से वयोवृद्ध सामन्त की ओर देखता रहा। गणसंवाहक भी उसकी ओर नेत्रकारों से देखते रह विश्राम की इच्छा से शय्या पर लेट गए। और तत्पश्चात् उनकी दृष्टि जैसे स्वतः कक्ष की छत पर केन्द्रित हो रही। एक निश्वास भी उनके मुख से निकल कक्ष के मौन वातारण पर छा गया। कक्ष में तत्पश्चात् जैसे गतिरोध का सा वातावरण बन गया।

अंत में इस गतिरोध को भंग किया स्वयं गणसंवाहक ने। पूछने लगे—"आर्य, वैशाली में कब आना हुआ? मगध में सब कोई कुशल से तो हैं न?"

उनके मुख से यह सुन आगंतुक चित्रकार चकित हुए विना न रहा। परन्तु प्रकट में सर्वथा अविचलित रह, विनय का भाव दिखाता, नत मस्तक हो बोला—"आर्य की कृपा चाहिए।"

तत्पश्चात्, सामन्त भंजदेव उसी प्रकार अपनी दृष्टि छत की ओर केन्द्रित रख,

बोले—"आर्य का कण्ठ स्वर पर्याप्त परिचित प्रतीत हो रहा है, परन्तु आयु की ओर से मन में तनिक भ्रम है। फिर आर्य, मेरी यह वृद्धावस्था ठहरी। स्मरण शक्ति का क्षीण हो जाना स्वाभाविक ही है। अतएव पूरी शक्ति लगा कर भी यह स्मरण नहीं कर पा रहा हूँ कि आर्य के कब और कहाँ दर्शन हुए थे?"

सामन्त भंजदेव के इस कथन से आगंतुक मागध का रहा-सहा भ्रम भी दूर हो गया। तथापि वह सर्वथा संयत रहा। उत्तर में कुछ भी न कह उसने चित्रकार की भावुकता से उनकी ओर एक चित्रफलक बढ़ाते हुए कहा—"आर्य के निश्चित ही कहीं दर्शन किए हैं, तभी तो यह चित्रांकन सभव हो सका है।"

सामन्त भजदेव ने लेटे-लेटे ही उस चित्रफलक को अपने हाथ में ले लिया। और फिर जैसे अध्ययन की सी व्यस्तता से उसे देखते रहे। अंततः एक निःश्वास के साथ बोले—"आर्य, चित्र तो निस्संदेह सुन्दर और वास्तविक बन पड़ा है, तो भी मुझे एक आपत्ति है।"

"वह क्या है, आर्य।" आगंतुक चित्रकार ने जिज्ञासा का भाव दिखा तत्परता से प्रश्न किया। उत्तर से पूर्व सामन्त भंजदेव शय्या पर उठ कर बैठ गए। फिर चित्रकार की ओर तनिक मुस्कान के साथ देख बोले—"मागध चित्रकार ने जैसे रौद्र भाव मे अपनी प्रगाढ़ आस्था दिखा अपने चित्र में मेरी आवेशपूर्ण मुखमुद्रा को ही प्रधानता प्रदान की है।"

गणसंवाहक की इस आपत्ति पर मागध चित्रकार कुछ ठिठका। पर साथ ही सर्वथा सहज ढंग में बोला—"आर्य की आपत्ति सर्वथा उचित ही है। तो भी आर्य आप यह जानकर अवश्य प्रसन्न होंगे कि यह चित्र केवल दो दिन में ही बनकर तैयार हुआ है, अतएव सामयिक है और विशेष महत्त्वपूर्ण भी।"

यह सुन गणसंवाहक के मुख पर किंचित उत्तेजना का भाव उभर आया। वह शय्या से उठ, खड़े हो गए। फिर, कक्ष में चारिका व्यस्त हो, जैसे किसी गहन समस्या पर विचारने लगे। सहसा दृढ़ कण्ठ स्वर में बोले—"परन्तु यह एक वैदेशिक कलाकार—विशेषकर मागध का अधिकार कदापि नहीं हो सकता, आर्य।"

आगंतुक कलाकार भी पीठिका से उठ खड़ा हुआ। गणसवाहक के सम्मुख नत मस्तक हो वह बोला—"आर्य, कलाकार सीमाओं की बाधा को स्वीकार नहीं करते।"

यह सुन सामन्त भंजदेव बोले—"आर्य, कलाकारों के इस विशेषाधिकार को मैं भी स्वीकार करता हूँ। परन्तु प्रस्तुत चित्र में तो अभिप्राय स्पष्ट झलक रहा है, अतएव वह हस्तक्षेप है।" यह कह, वह तनिक रुके। फिर कुछ सोचते हुए से, कण्ठ स्वर को संयत करने का सा प्रयास करते हुए बोले—"आर्य, वैशाली में कलाकारों को निस्संदेह पूर्ण स्वतन्त्रता का अधिकार प्राप्त है, किन्तु उनका यह विशेषाधिकार तभी तक सुरक्षित है जब तक कि वे वज्जिसंघ की आंतरिक समस्याओं को अपनी तूलिका का विषय नहीं बनाते और इस प्रकार उसमें हस्तक्षेप नहीं करते। किसी वैशालिक चित्रकार को वह अधिकार भी प्राप्त है, किन्तु यदि कोई वैदेशिक चित्रकार यह चेष्टा करे तो जानते हो अभ्यागत, उसका क्या परिणाम है?"

आगंतुक चित्रकार ने पुनः नत मस्तक हो सविनय कहा—"जानता हूँ आर्य, उसके लिए वैशाली में प्राण दंड की व्यवस्था है, परन्तु यह विनीत सेवक तो इस समय दूत रूप में प्रस्तुत हुआ है।"

"परन्तु किसी भी दूत के लिए क्या यह छद्म वेश किसी प्रकार शोभा देता है, मागध अमात्य वर्षकार ! फिर, वैदेशिक दूत का स्वागत करने का अधिकार अथवा दायित्व भी तो मेरा नहीं है। इसके लिए तो यदि आप गणाध्यक्ष राजा चेटक के पास गए होते तो वह न केवल शोभास्पद, वरन् उचित भी होता। आपने इस प्रकार यहाँ आ वैशाली में मेरी स्थिति और दुविधा पूर्ण बना दी है।"

मागध अमात्य उत्तर में बोला—"यह मैं जानता हूँ, आर्य। किन्तु मैं आर्य की सेवा में एक विशेष प्रयोजन से उपस्थित हुआ हूँ। साथ ही मुझे एक बात और निवेदन करनी है।" यह कह उसने गणसंवाहक की ओर देखा। गणसंवाहक ने उसकी दृष्टि में छिपे आशय को भली भाँति समझ कहा—"आर्य आश्वस्त रहें।"

इस आश्वासन के पश्चात् भी मागध अमात्य ने मृग की सी सशंक दृष्टि से चारों ओर देखा। पूर्णतः सावधान हो बोला—"आर्य, मगध साम्राज्य के राजप्रासाद में राज्य-श्री की महत्त्वाकांक्षा को लेकर राजपुत्रों के मध्य परस्पर संघर्ष अनिवार्य है और इस संघर्ष में वैदेही पुत्र कुमार कोणिक की विजय भी निश्चित है। इस कार्य में यद्यपि उन्हें सभी पुरोहित कुलों की सहायता प्राप्त है, तो भी उन्होंने आस्था रूप में गुप्त रूप से निगंठ महाश्रमण वर्द्धमान महावीर का उपासक होना स्वीकार किया है, और तथागत के भिक्षु संघ को नष्ट-भ्रष्ट करने के लिए उन्होंने इस समय उनके एक प्रधान शिष्य देवदत्त के साथ गुप्त संधि भी की हुई है। राज्यश्री पर पूर्णाधिकार प्राप्त करने की दिशा में उनकी प्रायः सभी योजनाओं की सफलता निश्चित है, परन्तु उनको कार्य रूप देने से पूर्व वह आर्य की सहायता भी अनिवार्य समझते हैं। और वर्द्धमान महावीर के समान रूप से उपासक होने के नाते उन्होंने आप से इस सहायता की सहज अपेक्षा की है। अतएव, आर्य जो भी उचित समझें, सद्परामर्श प्रदान कर इस सेवक को अनुगृहीत करें।"

मगध आमात्य की बात को वह धैर्य से सुनते रहे। जो कुछ सुना उससे उनके गम्भीर मुख पर एक मुस्कान फैल गई। हर्ष का सा भाव प्रकट करते हुए बोले—"आर्य, कुमार कोणिक ने अपने सहज स्वभाव वश मुझे जो अनायास ही इतना महत्त्व दे डाला है, उसके लिए मैं उनका हृदय से आभारी हूँ। परन्तु आर्य एक बात विचारणीय है। मगध की राज्य श्री के प्रश्न को लेकर यदि राजगृह के राजपुत्रों में परस्पर कोई संघर्ष छिड़ता है तो भला कोई भी वैशालिक उसमें क्या योगदान कर सकता है ! यह तो सर्वथा मागध प्रजा की आंतरिक समस्या है जिसमें किसी भी वैशालिक का हस्तक्षेप करना उचित नहीं। फिर आर्य, वज्जिसंघ ने किसी भी भिन्न राष्ट्र के आंतरिक संघर्ष अथवा शांतिपूर्ण जीवन में हस्तक्षेप न करने की नीति अपनाई है, जिसका पालन करना प्रत्येक वैशालिक का पुनीत कर्तव्य है।"

गणसंवाहक की यह बात सुन मागध अमात्य को कुछ हतोत्साह हुआ। परन्तु प्रकट में सर्वथा धैर्य भाव से बोला—"आर्य, यह तथ्य मुझ से छिपा नहीं है, और न ही

किसी अन्य से । प्रत्येक वैशालिक गण संस्थागार के निर्णयों के प्रति कितना निष्ठावान है, यह सर्व विदित है । किन्तु कुमार कोणिक ने यह सहायता वज्जिसंघ से नहीं वरन् स्वयं आर्य से माँगी है । वैशाली में दास वर्ग को मुक्त कर, उसे प्रतिष्ठापित करने का जो प्रयत्न किया जा रहा है और उसका आर्य ने जो डटकर प्रतिरोध किया है, उसका कुमार कोणिक ने न केवल समर्थन किया है वरन् भूरि-भूरि प्रशंसा भी की है । कुमार कोणिक इस प्रसंग में आर्य को पूरी सहायता देने को उद्यत हैं । और आर्य, आप यह तो जानते ही हैं कि मगध साम्राज्य में अंग को मिलाने के बाद से सेना पर कुमार कोणिक का कितना प्रभाव हो गया है ।"

मागध अमात्य का जिस ओर संकेत था, गणसंवाहक उसे भली भांति समझ, तनिक सम्हल कर खड़े हो गए । फिर सहज ढंग में बोले—"आर्य, सामन्त भंजदेव ने अपने जीवन के पूरे छ: दशक एक सैनिक के रूप में बिताए हैं; अत: वह बेचारा राजनीति की जटिल भाषा को क्या समझे । अतएव कुमार कोणिक का जो भी प्रस्ताव है, आर्य उसे निस्संकोच भाव से स्पष्ट रूप में कहने की कृपा करें ।"

उत्तर में अमात्य वर्षकार ने पहले जैसे अपना कण्ठ साफ किया, फिर बोला—"किन्तु आर्य उससे पहले दूत को स्पष्टोक्ति का अधिकार मिलना चाहिए ।" यह कह, उसने गणसंवाहक की ओर अर्थपूर्ण दृष्टि से देखा । उनकी मुखमुद्रा पूर्ववत् गम्भीर थी, किन्तु नेत्रों से उत्सुकता का स्पष्ट आभास मिल रहा था । बोले—"आर्य आश्वस्त रहें ।"

तब मागध अमात्य ने उनके अत्यंत समीप जा गुप्त मंत्रणा के से धीमे स्वर में कहा—"आर्य, कुमार कोणिक ने कहा है कि यदि गणसवाहक सामन्त भंजदेव···।"

गणसंवाहक उत्सुकता दिखाते हुए बोले—"आर्य, जो कुछ भी कहना चाहें निस्संकोच हो कहें ।"

मागध दूत ने जैसे पुन: कहने का प्रयास किया । बोला—"आर्य, कुमार कोणिक ने यही कहा है कि यदि गणसंवाहक सामन्त भंजदेव गणाध्यक्ष राजा चेटक के दौहित्रों—हल–विहल्ल—की सहायता न कर मुझे सहयोग प्रदान करें तो उनका वज्जिसंघ के एक छत्राधिकार सम्पन्न राजा के रूप में अभिषेक किया जा सकता है; और स्वयं मगध सम्राट् कोणिक अपने हाथों से उनका राज्याभिषेक करेंगे ।"

गणसंवाहक ने जिस प्रकार के प्रस्ताव का अनुमान किया था, ठीक वही उनके सन्मुख प्रस्तुत था । फिर भी उसे सुन वह मन ही मन चकित हो रहे । परन्तु प्रकट मे ऐसा कोई भाव न दिखा अंतर में पर्याप्त समय से रुकी श्वास को भारी हुँकार के साथ बाहर छोड़ते हुए बोले—"आर्य, कुमार कोणिक का प्रस्ताव निस्संदेह महत्त्वपूर्ण है; और विचारणीय भी । परन्तु, फिर भी एक बात मैं आर्य के सम्मुख स्पष्ट निवेदन कर देना चाहता हूँ और वह यह है कि वैशालिक अपनी शासन पद्धति के प्रति अत्यंत भावुक हैं, अत: इस दृष्टि से कुमार कोणिक ने मेरी शक्ति का मूल्यांकन करने में अवश्य ही भारी भूल की है । वास्तव में मैं स्वयं यह समझने में असमर्थ रहा हूँ कि इस प्रसंग में भला मैं किस प्रकार उनकी सहायता कर सकता हूँ ।"

मागध दूत ने तत्परता से कहा—"कुमार कोणिक ने वह भी उपाय बताया

है, आर्यवर।"

"वह क्या है, आर्य ?" प्रश्न के उत्तर की अभिलाषा से गणसंवाहक ने उत्सुक दृष्टि से मागध अमात्य की ओर देखा। मागध दूत ने भी उनकी ओर देखा। फिर अपने मुख को गणसंवाहक के कानों के अत्यंत समीप ले जाते हुए वर्षकार ने कहा—"आर्य वैशाली की वर्तमान ज्वलंत समस्या गृह युद्ध के लिए पर्याप्त है। कुमार कोणिक का अनुरोध है कि आर्य इस अवसर का अवश्य लाभ उठाएं।"

यह कह मागध दूत कुछ पीछे हटा। तनिक रुक पुनः बोला—"आर्यवर, कुमार कोणिक ने कहा है कि गणसंवाहक आश्वस्त रहें, शेष स्थिति को मैं स्वयं सम्भाल लूंगा।"

दूत वर्षकार के मुख से कुमार कोणिक के इस प्रस्ताव को सुन गणसंवाहक पाषाण मूर्ति की भाँति निश्चल खड़े हो गए। ध्यानस्थ हो मानों प्रस्ताव पर गम्भीरता से विचार कर रहे हों। और उनकी उस तात्कालिक मुद्रा विशेष को देख मागध दूत के लिए किसी भी निष्कर्ष पर पहुँचना कठिन प्रतीत हुआ। फिर भी उसने अनुमान लगाया कि गणसंवाहक इस समय अवश्य ही कोई निर्णय करने की स्थिति में पहुँच चुके हैं। अतएव अनुकूल अवसर समझ उसने प्रस्ताव को और आगे बढ़ाते हुए कहा—"आर्य, भावुकता राजनीति की सबसे बड़ी दुर्बलता है और संकोच प्रगति में बाधक है। समय की गति के प्रवाह को रोकना सबसे बड़ा अविवेक है। आर्य, समूचा आर्यवर्त इस समय एकसत्तात्मक शासन पद्धति की ओर अग्रसर है। केवल अग्रसर ही नहीं, वरन् वह पवन के प्रबल झोंके के समान आगे बढ़ रहा है और उसकी गति को रोकना अब असम्भव है। और यदि किसी ने उसे रोकने का प्रयास किया भी तो, आर्य आप भी जानते हैं समय की गति बड़ी बलवान है, जिसके सम्मुख सभी को अंततः नत मस्तक होना पड़ता है। आर्य, इस आर्यवर्त में अब केवल वज्जिसंघ और मल्लदेश ही तो ऐसे रह गये हैं जो अभी भी अपनी पुरानी घिसी-पिटी परम्परा से जूझ रहे हैं और इस प्रकार आर्यावर्त की अखण्डता के प्रति बाधा स्वरूप बने हुए हैं। आर्य विश्वास रखें, एक सत्तात्मक प्रणाली ही ऐसी है, जिससे इस समूचे जम्बू महाद्वीप का कल्याण एव सुख समृद्धि सम्भव है; अतएव, आर्य यदि कुमार कोणिक के प्रस्ताव पर गम्भीरता से मनन करें तो अवश्य ही इस निष्कर्ष पर पहुँचेगे कि उसमें न केवल आपका अपना वरन् वज्जिसघ का भी, केवल वज्जिसंघ का ही नहीं वरन् समूचे जम्बू द्वीप का कल्याण है। पश्चिमोत्तर की ओर से होने वाले विधर्मियों के आक्रमणों को देखते हुए भी यह सब कुछ नितान्त आवश्यक है। आर्य यह देश भक्ति की एक प्रबलतम मांग है, और वह हमें अंततः स्वीकार करनी ही होगी।" यह कहते हुए वह तनिक रुका। फिर मानों कुछ सोचता-सा बोला—"आर्य विश्वास रखें, वज्जिसंघ आप ही के पास रहेगा और उसके राज्य सिंहासन पर भी आप ही सुशोभित होंगे। आपके पश्चात् आयुष्मान् अखण्डदेव उसका उपभोग करेंगे। ओह आर्य, आयुष्मान् का भी क्या ही सुन्दर नाम है, मानो समय की पुकार ने स्वयं उनका नामकरण किया हो।"

गणसंवाहक इस पर तनिक निराशा का भाव प्रकट करते हुए बोले—"परन्तु आर्य को कदाचित् यह विदित नहीं कि मैं आयुष्मान् अखण्डदेव की ओर से कितना

उदासीन हूँ।" तनिक रुक, एक निश्वास के पश्चात् फिर बोले--"आर्य, वास्तव में उसका कोई भी तो ऐसा आचरण नहीं जो वैशालिक का कहा जा सके, अतएव उसकी ओर से निरंतर चिन्ता बनी रहती है।" यह कहते हुए वह कुछ शिथिल मन से शय्या पर बैठ गए।

मागध दूत बोला—"आर्य तो आयुष्मान् की ओर से व्यर्थ ही उदासीन हैं। आयुष्मान केवल महत्त्वाकांक्षी ही नहीं, दूरदर्शी भी हैं। अतएव गणशासन पद्धति के प्रति वैशालिकों की भावुकता को वह केवल मूर्खता समझते हैं। यदि उनका वश चले तो वह एक क्षण में ही उसका आमूल उन्मूलन कर, उसके स्थान पर समय के जाज्वल्यमान प्रतीक—एकसत्तात्मक शासन को प्रतिष्ठापित कर दें। वह इस दिशा में प्रयत्नशील भी हैं; आर्य से कदाचित् यह छिपा नही है। वह केवल उचित अवसर ही की तो प्रतीक्षा में हैं। आर्य चाहें तो उन्हें सहयोग प्रदान कर उनके भविष्य को उज्ज-वल बना सकते हैं। और आर्य, उनका यह स्वप्न उनके उच्च कुल गौरव के अनुरूप ही तो है। उनकी धमनियों में क्षत्रियों का ही तो रक्त प्रवाहित है। यदि राज्य लक्ष्मी का उपभोग क्षत्रिय नहीं करेंगे तो भला क्या हम ब्राह्मण करेंगे?"

यह सुन गणसंवाहक की रक्त धमनियों में भी एक बारगी उत्साह का संचार हो उठा। परन्तु किस दिशा में, यह अनुमान लगाना असम्भव था। उनके प्रदीप्त मुख एवं ज्योतित नेत्रों को देख मागध दूत ने समझा, चलो अपना कार्य समाप्त हुआ। फिर भी वह कुछ समय तक मौन रह गणसंवाहक के मुख की ओर देखते हुए तथा साथ ही उनके मुख से परिलक्षित होते दृष्ट-अदृष्ट मनोभावों का अध्ययन करते हुए किसी निष्कर्ष विशेष पर पहुँचने का प्रयास करता रहा। अन्त में पीठिका से उठ, बोला—"आर्य, अब इस सेवक को जाने का आदेश करें, पर्याप्त विलम्ब हो गया प्रतीत होता है।"

गणसंवाहक की मानों विचार तंद्रा भंग हुई। विहँसते हुए बोले—"आर्य को भला मैं किस अधिकार से आदेश करूँ, मेरा अधिकार तो केवल अभ्यागत की सेवा करना है।"

मागध दूत ने नतमस्तक हो कहा—"आर्य, के स्वागत भाव को देख मैं निश्चित ही गद्गद् हुआ हूँ। अतएव उसके लिए हृदय से आभारी हूँ।"

गणसंवाहक ने पूर्व की ही भाँति विहँसते हुए कहा—"यह मेरा सौभाग्य है आर्य।"

मागध दूत ने चलते-चलते कहा—"आर्य के इस सहज शील स्वभाव को देख भला कौन हर्षित न होगा। मैं आर्य का अभिवादन करता हूँ।"

गणसंवाहक वहीं खड़े रह, जाते हुए मागध दूत की ओर देखते रहे। उनके अंतर से बलात् एक श्वास बाहर फूट निकली, जो पर्याप्त समय तक कक्ष में मानों मंडराती रही। एक बार तो वह जैसे निज के ही विचारों से भयभीत हो उठे। फिर अपने को ही सुनाते हुए बोले—"भंजदेव, मागध दूत ठीक ही कहता है; समय सचमुच बड़ा बलवान है।"

पन्द्रह

अन्य दिनों की अपेक्षा आज आचार्य शिष्य, मध्याह्नोपरांत, समय से कुछ पूर्व ही, अपने आवास की ओर लौट लिया। उसका सुपरिचित अश्व—काम्बोज—नगर के मुख्य राजपथ पर सरपट दौड़ता चला जा रहा था। यूं, उसके इस अश्व की गति जो अन्य दिनों भी प्रायः ऐसी ही होती थी, परन्तु आज वह निश्चित रूप में असाधारण प्रतीत हुई। अतः राजपथ पर आते-जाते नागरिक उसकी ओर केवल विस्मय से देखते रह गए।

ऊपर छज्जे पर बैठी मंजरिका ने भी अश्व की पद चापों को दूर ही से पहचान लिया। गति का अनुमान लगा वह कुछ चकित हो उठी। कभी-कभी उल्लसित भी हो उठती। वास्तव में अश्व की पड़ती हुई प्रत्येक पद चाप के साथ उसकी मनोदशा परिवर्तित हो रहती। अंत में, वह न जाने क्या कुछ सोच तत्परता से द्वार की ओर बढ़ ली।

आचार्य शिष्य आज निस्संदेह उत्साह के आवेग में था। द्वार मडप के सम्मुख पहुँच उसने अपने अश्व को वल्गा खींचते हुए रोका, और उसके रुकते ही वह सावेग नीचे कूद पड़ा। वल्गा को भी अश्व की ही पीठ पर फेंक दिया; फिर सस्नेह उसकी पीठ को कुछ थपथपाया भी। तत्पश्चात् उसी उत्साह आवेग में वह आगे आवास की ओर बढ़ लिया।

मंजरिका को सम्मुख देख वह उल्लसित कण्ठ स्वर में बोला—"शुभे ! सुना तूने, देवी शिष्या की अट्टालिका के प्रांगण में अब नित्य ही संध्या समाज लगा करेगा।"

यह कह वह एक बाल सुलभ हर्षोल्लास की सी उमंग में 'अजी लगा करेगा, लगा करेगा' की रट लगाता, ताल ठोकता, ताली पीटता हुआ नृत्य करने को उद्यत हो उठा; किन्तु ऐसा कर नहीं सका। उल्लास के आवेग में बस मंजरिका की भुजाओं को दबोच उठा। फिर उसे आपादशीर्ष झकझोरते हुए पूर्व से भी अधिक उमगते कण्ठ स्वर में बोला—"देवी, देवी शिष्या का नृत्य सचमुच अनुपम है। सभी ने तो उसे मुक्त कण्ठ से सराहा है। उसकी आज सर्वत्र चर्चा है; और मंजरिके, यह हमारी महान् विजय है।"

"और आप तो केवल सराह ही नहीं रहे, वरन बौरा से भी गए हैं।" मंजरिका के मन में आया, साहस कर यह कह दे; किन्तु इस समय केवल उसके नेत्र मुस्करा कर रह गए। शेष मुख पर खिन्नता का भाव उभर आया। तो भी आचार्य

शिष्य जैसे पूर्व से भी अधिक उत्साह का अनुभव कर उसे झकझोर उठा। झकझोरते हुए पूछने लगा—"क्यों शुभे, आज तो तुम भी चलोगी न ?"

मंजरिका का क्षुब्ध मन स्पष्ट रूप में दृढ़ता से कह उठा—"नहीं"—पर उसके मुख से जैसे बलात् निकल गया—"अवश्य चलूंगी, आचार्य शिष्य, अवश्य चलूंगी, आपकी देवी शिष्या का नृत्य और मैं न देखूं, भला यह कैसे संभव है !"

मंजरिका के मुख से यह सुन आचार्य शिष्य का हृदय गुदगुदा, पूर्णावेग में हिलोर उठा; उस हिलोर में वह झूम-सा गया। और, भावातिरेक में उसने मंजरिका को दृढ आलिंगन पाश में समेट लिया। उसे अपने सिर से भी ऊपर उठा, उछालता-सा बोला—"शुभे, तुम सचमुच बड़ी अच्छी हो।"

और फिर उसी आवेग के साथ वह मंजरिका को अपने पाश से मुक्त कर, सोल्लास कक्ष की ओर दौड लिया।

कुछ समय पश्चात् जब आचार्य शिष्य स्नानागार से लौटा तो मंजरिका कक्ष में ही थी। आज उसने न केवल अपनी देह पर सुरुचिपूर्ण वस्त्र धारण किए थे, वरन् आचार्य शिष्य के लिए भी अपनी ही रुचि के वस्त्र निकाले थे। उन्हें व्यवस्थित करते हुए उसने तनिक आचार्य शिष्य की ओर देखा; फिर कहने लगी—"महाप्रभो, आपको कितनी बार कहा है कि, न तो यह तक्षशिला है और न आचार्य बहुलाश्व की विद्यापीठ ही; वैशाली है—वैशाली।"

वह अभी कुछ और कहा चाहती थी कि आचार्य शिष्य बीच ही में तत्परता से बोल उठा—"क्यो शुभे, भला यह कैसा गणित है ? पहली बार ही तो कहा है, और कह रही हो कि कितनी ही बार कहा है।"

मंजरिका ने किंचित मुस्करा कर कहा—"यह गणित की भूल नही आचार्य शिष्य; वरन् आपने सुना नहीं होगा। हर समय कहीं ध्यान जो भटका रहता है।"

"भला कहा ?" आचार्य शिष्य ने नतनयना मंजरिका के मुख पर दृष्टि गड़ाते हुए मृदुल कण्ठ स्वर में तत्परता के साथ पूछा। फिर तनिक रुक वह पुनः बोला—"शुभे, तुमने कहा हो और मैने न सुना हो, भला यह सम्भव है ?" फिर, उसके ओष्ठों के पास अपना मुख ले जा, अत्यन्त धीमे से कहा—"अब समझा प्रिये, तुमने अवश्य कहा होगा पर मन ही मन कहा था ना ?"

आचार्य शिष्य के मुख से निकले सहज हलके निश्वासों का स्पर्श पा मंजरिका के यौवनोष्म कपोलों का अरुणिम रग, लालिमा में परिणत हो उठा, गात गुदगुदा-सा गया; और समूचा अतराल एक उच्छ्वास विशेष का अनुभव कर स्फुरित हो उठा। परन्तु, साथ ही नेत्र जैसे लज्जा के भारी बोझ से नत हो रहे; कपोलों का प्रगाढ़ रंग आकर्ण फैल कुछ मुस्करा सा गया। उत्तर में उसने कुछ भी न कह, केवल हलके से सिर हिला दिया; उसकी उन्मुक्त केश राशि मुख की ओर ढुलक सी गई। यह देख आचार्य शिष्य जैसे हतप्रभ हो उठा; उसकी दृष्टि एक बार जो मंजरिका के मुख पर जाकर रुकी तो वह बस दत्तचित्त होकर ही रह गई। कल्पना भी रुक जैसे आत्मसात करने के लिए मचल सी गई। मंजरिका की गौर मुख आभा पर पड़ी श्यामल केशों की छाया, उसे सौन्दर्य के इस गतिशील जगत में एक अभूत संधि प्रतीत हुई; ऐसी अभूत कि

जिसमें अनुभूति भारी हलचल का अनुभव करके भी बस ठगी-सी रह जाती है। एक साथ ही वह न जाने क्या कुछ कहने को अभिभूत हो उठा, परन्तु कहीं उसके पश्चात् भी कहने से कुछ शेष न रह जाए, इस भय से वह उसे भी, जो मन में आया था, प्रकट न कर सका। अतः वह मौन रहा, मौन रहे ही सौन्दर्य की प्रस्फुटित होती किरणों को, मानों अन्तर में उतारता रहा।

अन्ततः, वह उठ खड़ा हुआ। उसकी अंगुलियाँ अनायास ही मंजरिका के मुख पर पडी केश-रेखाओ मे उलझ, उसे हटाने में व्यस्त हो उठीं। मंजरिका के बोझिल पलक भी उठ रहे; केशों की झीनी श्यामल ओट में से उसके नेत्र जैसे सप्रयास निस्संकोच भाव से झांक उठे। उसकी पूरित-स्थिर दृष्टि के सन्मुख आचार्य शिष्य का जैसे सभी कुछ परास्त होकर रह गया। परास्त कण्ठ स्वर मे वह धीमे से पूछने लगा—"प्रिय, सच बताना, मन ही मन भला कितनी बार कहा था; कभी मुझसे स्पष्ट क्यो नही कहा ?"

मजरिका अब आल्हाद का अनुभव करके भी, संकोच से सिमटी खड़ी थी। किन्तु इस बार आचार्य शिष्य के मुख से जिज्ञासा परिलक्षित करते प्रश्न को सुन उसके मुख पर किंचित् चपलता का सा भाव खेल उठा। फुसफुसाते से कंठ स्वर में वह बोली—"एक बार भी तो नहीं कहा, वह तो यूँ ही मुख से निकल गया था।"

आचार्य शिष्य को जैसे इस पर विश्वास नही हुआ। परन्तु यह ऐसा अविश्वास था, जिस पर उसे सहज ही में विश्वास नही हो सका; उल्टे मन पर छाया कोई भाव-विशेष और प्रगाढ़ हो, सशक्त हो उठा। आचार्य शिष्य की मुख आभा मलिन नहीं, वरन् प्रदीप्त हो उठी। उल्लसित कण्ठ स्वर मे वह कह उठा—"झूठ, देवी एक दम ही तो झूठ कहती हो।"

मंजरिका के मन में आया कि वह जोर से खिलखिला, हंस पड़े और हँसती रहे, पर वह हँसी नहीं। अपनी मुख मुद्रा को गम्भीर बना, जैसे साभिनय; सहज भाव से बोली—"आचार्य शिष्य विश्वास करो, मैं झूठ नहीं बोल रही।"

आचार्य शिष्य उसके नेत्रों में झाँक उठा। बोला—"देवी, यदि इस बार वाली बात सत्य है, तो फिर पहली वाली निश्चय ही झूठ हुई। यह असंभव है कि दोनों सत्य अथवा झूठ हों।"

मंजरिका के मुख की चपलता और प्रगाढ़ हो गई और वह चलने को उद्यत हो उठी। किन्तु आचार्य शिष्य ने उसका हाथ पकड़ उसे बरबस रोक लिया। तनिक विहँस वह बोला—"अच्छा देवी, तूने जो कहा मैंने वही मान लिया है।"

मंजरिका भी आगे न बढ़ बस वहीं खड़ी हो गई।

सहसा आचार्य शिष्य को ध्यान आया कि उसे तो तुरन्त ही देवी शिष्या की अट्टालिका की ओर लौटना था। अतः कुछ व्यग्र हो उठा। बोला—"अरे यह तो बिलम्ब हो गया, देवी ! देखो तो भला, देवी शिष्या क्या कहती होगी !"

यह सुन मंजरिका जैसे किसी बाधा का अनुभव कर उठी। उसके अंतर का सारा उत्साह-प्रवाह खिन्न हो उठा। अंग-प्रत्यंग शिथिल हो गए तथा मुख आभा निस्तेज हो गई। विक्षुब्ध हृदय से उसने बहुत कुछ कहना चाहा, किन्तु स्पष्ट भाषा

के अभाव में बस मौन ही रह सकी। पर वह मौन भी अधिक देर न टिक सका। बोली —"आचार्य शिष्य, अभी तो मुझे कुछ समय और लगेगा, अतः तब तक आप प्रस्थान करें।"

यह सुन आचार्य शिष्य भी कुछ खिन्न हो उठा। बोला—"मुझे विलम्ब अवश्य हो रहा है देवी, परन्तु इतना नहीं। तुम्हें आज मेरे साथ चलना ही होगा। या फिर यदि कोई अन्य संकोच हो तो वह दूसरी बात है।"

मंजरिका उत्तर में कहना चाहती थी—'आचार्य शिष्य, भला और संकोच क्या होता, और जो संकोच है वह मैं कह भी तो नहीं सकती। इसी मध्य उसके मुख से मानों बलात् निकल गया—"आचार्य शिष्य, मैंने तो केवल विलम्ब के कारण ऐसा कहा, संध्या समाज तो अब प्रति दिन ही लगेगा, अतः मैं किसी और दिन ही चला चलूंगी।"

आचार्य शिष्य उसकी ओर देखते हुए बोला—"और देवी, मेरी मनोकामना है कि आप आज ही चलें; विलम्ब होता हो तो होने दो।"

मंजरिका का मन जैसे खिल उठा।

किंचित् समयोपरात गण ध्वज लहराता युवक सुरक्षा प्रधान का रथ जब श्रेष्ठी-प्रासाद से निकल, बाहर राजपथ पर आया तो उसने अपने को सघन जन-प्रवाह के मध्य पाया।

वैशाली में अब कदाचित् ही कोई ऐसा व्यक्ति रहा होगा, जो आचार्य शिष्य को न पहचानता हो, सभी उसका जय-जयकार कर उठे; और वह खुले रथ में सब का अभिवादन स्वीकार करता खडा हो गया। उसके मुख पर इस समय पदोचित गांभीर्य विद्यमान था, जो नागरिकों के जयघोषो के मध्य जैसे खिल उठा। पास ही बैठी मंजरिका इस दृश्य पर मन ही मन मुग्ध हो, गर्व अनुभव करती रही; पर उसके नेत्र जन-दृष्टि के सन्मुख उठ न सके। कारण, सभी नागरिक उसकी ओर विस्फारित नेत्रों से देख रहे थे; और फिर उसी दृष्टि से आचार्य शिष्य की ओर भी। गण महानगरी के इस नए प्रेमी-युगल को देख सभी के नेत्र नवोल्लास से दीप्त हो उठे; उनके अंतस में कौतूहल जाग उठा।

आचार्य शिष्य भी नागरिकों के इस भाव विशेष को समझने में असमर्थ नहीं रहा। अतः अभिवादन के आदान-प्रदान में पूर्णतः व्यस्त होकर भी उसके नेत्रकोर अवसर पा यदा-कदा मंजरिका की ओर देख लेते। उसके मुख पर इस समय कुछ आल्हाद, कुछ गर्व और कुछ संकोच का अद्भुत मिश्रित भाव व्याप्त था। पर, कभी-कभी आचार्य शिष्य के मन में उठी एक शंका भी उसे सहसा झिझोड़ सी जाती। तब वह सोचने लगता—'पता नहीं, बंधुवर सिंह को यह सब कुछ कैसा रुचे। संभव है वह क्रुद्ध भी हो बैठें और कहने लगें···।'

सेनापति सिंह आचार्य शिष्य के अग्रज गुरु बंधु थे और इस नाते वह उनका अत्यंत आदर करता था। साथ ही उसे उनके सन्मुख अत्यंत सकोच का भी अनुभव होता था। अतः जब भी यह शंका उसके मन में उदित होती वह सिहर-सा उठता। तत्क्षण उसे प्रतीत होता, जैसे बंधुवर सिंह उसके सम्मुख खड़े उसे धिक्कार रहे हों, और कह रहे हों—'क्यों आयुष्मान, यह विश्वासघात नहीं तो और क्या है?' उनकी

यह प्रताड़ना सुन वह कल्पना ही कल्पना में उनके सम्मुख विनीत भाव से नतमस्तक हो उठता, और कहता—'आर्य, क्षमा करें, किन्तु विश्वास रखें, मैंने स्वयं इसमें कुछ नहीं किया; यूं समझो, बस अनायास ही हो गया है।'

यह सब कुछ सोचते विचारते हुए ही वह आगे बढ़ा जा रहा था। उसका रथ जैसे स्वतः मंजरिका को उसके साथ लिए आगे बढा जा रहा था और उसी के वेग में वह एक असहाय की भाति यह सब कुछ सोचता विचारता आगे बढा जा रहा था। किन्तु राजपथ के गतिशील जन प्रवाह ने उसे विचार तन्द्रा में नही डूबने दिया। अन्तर में द्वन्द्व होते हुए भी वह सावधान हो, उनका अभिवादन स्वीकार करता रहा।

वास्तव में, पौरजनो ने फिर से नियमित नृत्य समाज लगने की घोषणा क्या सुनी, जैसे गण महानगरी का कोई खोया वैभव ही लौट आया। राजपथों एव वीथियो मे नव जीवन का सचार हो उठा और मुख्य राजपथ पर ?···उस पर तो जैसे कोई समारोह स्वयं सजधज कर, धूमधाम के साथ हर्षोल्लास और उत्साह के आवेग में बढ़ा चला जा रहा हो। सावेग दौडते रथो की गडगडाहट, सरपट भागते अश्वों की ताल-पूर्ण पदचाप तथा पैदल चलते नागरिको का सोत्साह वार्तालाप, और फिर उस पर छाया हुआ एक नही अनेक प्रेमी युगलो का मदमाता उच्छवास, हास-परिहास और उसमे से यदा कदा गूजते अल्हड हँसी के ठहाके, इस सबको देख आचार्य शिष्य मन ही मन गर्व का अनुभव कर उठा, और हर्षित हो उठा, यह देख कि आज अततः महानगरी के कम्मकर भी साहस कर तटबधो मे कूद इस गतिमान प्रवाह में सहसा उतर आए हैं। स्वेद जल से लथपथ उनके शरीर पर इस समय भी जीर्ण-शीर्ण वस्त्रो को देख तथा यह देख कि उनके मुख पर झिझक का भाव व्याप्त है, उसका हृदय भारी टीस से कराह उठा। और, अन्य पौरजन कम्मकरो के इस प्रवेश पर विस्मित हुए बिना न रहे। किन्तु वे केवल विस्मित होकर ही रह गए, उन्होंने कोई प्रतिरोध नहीं किया। और, कोटारों पर गाटों को ढोते हुए कम्मकरों ने जब इस घोषणा को सुन, एक दूसरे के कान मे कुछ फुसफुसा, उत्साह का सा भाव दिखाया तो श्रेष्ठी भित्तविंदक उन्हें ललकारता हुआ सावधान कर उठा। श्रेष्ठी धनजय की कर्मशाला में भी ठीक वैसी ही स्थिति बन आई। कर्मातों पर कार्य व्यस्त कम्मकरों को यह सूचना कुछ देर से मिली, और तब तक अभिजात समाज के सामन्त जन अपने चर्म प्रतोदो को हाथ में सम्हाल, उन्हे फटकारते, अश्वारूढ हो वहा पहुँच चुके थे। किन्तु कम्मकर आज जैसे कृत सकल्प थे। हवा में सनसनाते प्रतोदो की आतंकित करती कर्कश ध्वनि सुनकर भी उनका उत्साह मद नहीं हो सका, वरन पिछली रात्रि में ही आचार्य शिष्य के द्वारा कही गई कोई बात उनके अंतस्तल में अधिकाधिक वेग के साथ गूंज उठी, और अततः ध्वनित हो उठी वही उनके मुख से भी। उनका मुख आज सर्व प्रथम रूप से अपने-अपने स्वामियो के सम्मुख खुल, साहस कर कह उठा—"स्वामी, यदि व्रात्यों के इस गणराज्य में भी हमारे अन्दर सोया मानव न जाग सका तो फिर भला हमारा और कहाँ उद्धार हो सकेगा ?"

और वीथी-मुख के इस ओर मुख्य राजपथ पर इस समय की चहल पहल का भला क्या कहना। जन प्रवाह वहाँ अवरुद्ध हो सघन हो उठा। और इस सघनता में

यदि यत्र-तत्र छिटके प्रेमी-युगल अपनी विभिन्न भाव भंगिमाओं के कारण आकर्षण के पात्र बने हुए थे तो दूसरी ओर दासी कन्याए, जो पर्याप्त दिनों पश्चात् चेते अपने उद्यम के कारण आशा से उल्लसित हो उठी थीं। यथा सामर्थ्य रंग बिरंगे वस्त्र धारण कर वे यौवनोत्साह से भरे कण्ठ स्वर मे पुकार-पुकार सभी आते जाते नागरिको का ध्यान आकर्षित कर उन्हे अपनी ओर समेटने में व्यस्त थी। यद्यपि एक-एक को कई-कई उच्छ्वसित प्रेमी युगल घेरे खड़े थे, तो भी जैसे उन्हे सतोष नही था।

जूही, बेला, चमेली, हरश्रृंगार आदि-आदि के खिले पुष्पों, एव उनकी भीनी-भीनी सुवास से दासी कन्याओ की प्रतिभा मदमा सी उठी। अपने नेत्र इंगित से वे दूर खड़े दुविधा ग्रस्त युगल को अपनी ओर खीचने का प्रयास करती, मुख से पुष्प-जूड़ों अथवा मालाओं का भाव ताव करती, और यदा-कदा प्रेमी युगल के पुरुष पात्र क किसी परिहास का विहंसती भाव भगिमाओ से उत्तर भी दे उठतीं।

आचार्य शिष्य ने भी नेत्रकोरों से इस सजीव दृश्य को देखा। मन में एक हिलोर सी भी उठी। हिलोर की एक तरग ने जैसे बलात् उसे उस ओर धकेलने का प्रयास किया। वह मंजरिका का हाथ पकड़ रथ से नीचे कूदने को उद्यत हो उठा, परन्तु तभी पदोचित गांभीर्य ने उसे जैसे बरबस रोक लिया। उसने मंजरिका की ओर देखा। उसे लगा, जैसे वह अपना कोई लोभ संवरण नहीं कर पा रही है। अतः भारी मन से वह आगे बढ़ता रहा। अत मे वयस की स्वाभाविक गति ने पदोचित गांभीर्य पर विजय पाई, रथ भी सहसा रुक गया; और वह मंजरिका का हाथ पकड़ नीचे उतर लिया। रथ क्या रुका, भीड़ ने उन दोनों को घेर लिया।

मार्ग अवरुद्ध हो उठा।

आचार्य शिष्य अपने को इस प्रकार विनोदोन्मत्त उत्साही भीड़ से घिरा देख उदात्तता का अनुभव कर उठा; और साथ ही संकोच का भी। किन्तु, उसके मुख पर जैसे बरबस एक मुस्कान फैल गई। जन समुदाय में होते हास-परिहास पर मन ही मन मुस्कराते हुए उसने अपना हाथ मंजरिका के कन्धे पर टिका दिया।

मंजरिका का गात गरिमा-सा गया।

वह एक साथ ही न जाने कितने संकेतों का अनुभव कर उठी और एक रूप-गर्विता की भाँति वह उमगते पैरो से आगे बढ ली। आचार्य शिष्य भी मानों उसी के सहारे एक दासी कन्या की ओर बढ़ता रहा। दासी कन्या एक युगल के साथ इतनी भीड़ को आते देख आश्चर्य-चकित हो उठी। कदाचित् वह इस समय आचार्य शिष्य को पहचानने में असमर्थ रही। कारण, आज उसने मंजरिका के विशेष अनुरोध पर वैशालिको का उष्णीष धारण किया था, और उसमें उसके प्रस्तर केश तो दुबक ही गए थे; मुख भी कुछ-कुछ परिवर्तित हुआ सा दीख रहा था। और मंजरिका तो एक प्रकार से उसके लिए अपरिचिता थी ही। इससे पूर्व यदि वह अपने किसी प्रेमी के साथ आई होती तो पहचान भी लेती। अधिकांश नागरिक भी कदाचित् उसे पहचाने में असमर्थ रहे। किन्तु केवल कुछ दिन पूर्व ही अभिजात समाज द्वारा नगर में प्रचारित एक समाचार विशेष के आधार पर उन्होंने अनुमान लगा लिया, हो न हो, वह महापौर श्रेणिय-रत्न की बहिन मंजरिका ही है। 'कुछ भी हो, पर, यह युगल सुन्दर बन पड़ा है;

नागरिक मन ही मन कह उठे। व केवल अपने से ही यह कह कर सन्तुष्ट नहीं हो गए वरन् संकेतों मे उन्होंने यह एक दूसरे से भी कहा। वैशाली में किसी भी नए प्रेमी युगल को चाव से देखना और उस पर अपना मत अभिव्यक्त करना, जैसे एक परम्परा बन चुकी थी।

और इस समय सभी एक दूसरे को चपल भाव से हाथ की कोहनी मार मानो सावधान करते सम्मुख के एक दृश्य को देखने में व्यस्त थे। आचार्य शिष्य के मुख पर सकोच का भाव प्रगाढ़ हो उठा; आकर्ण सारा भाग अरुण हो गया। फिर भी जैसे वह सप्रयास, नेत्र इंगित का अवलम्ब ले मंजिरिका से कुछ कह रहा था। वह क्या कह रहा था, उसे मंजरिका क्या, सभी समझ रहे थे। यह देख भीड में से कोई, सहसा, सोत्साह कण्ठ स्वर में कह उठी—"क्यों सखी, क्या तुम्हारे इन्होंने आज मौन व्रत धारण किया है, जो बोलते नही।"

यह कह वह अज्ञात यौवना अपने आस पास की भीड को जैसे बलात् धकेल, उसी ओर बढ ली। किन्तु तब तक मजरिका प्रफुल्ल पुष्पों से ग्रथित एक जूड़े पर अपनी अंगुली रख चुकी थी। श्याम वर्णा दासी कन्या ने उसे उठा आचार्य शिष्य की ओर बढा दिया। और, प्रणय नियमों से सर्वथा अभिज्ञ आचार्य शिष्य ने उसे ले ससंकोच मंजरिका की ओर बढा दिया।

सभी उपस्थित जन इस पर खिलखिला उठे। उन्मुक्त हास्य की इस ध्वनि से आचार्य शिष्य भोंचक्का-सा रह गया। मजिरका अवश्य समझ गई, परन्तु समझकर भी जब उसने जूडे को अपने केशपाश पर बाँधने के लिए हाथ उठाया तो पास ही खड़ी उस अज्ञात यौवन ने मुस्करा, बलात् उसे रोक दिया। बोली—"सखी, यह क्या ? अरी, वह सुरक्षा प्रधान हैं तो क्या हुआ ? प्रणय पर भी क्या अब उनका आदेश चलेगा ?"

इस हस्तक्षेप से मंजरिका का हृदय गुदगुदा उठा; आचार्य शिष्य कुछ लजा-सा गया। अज्ञात यौवना ने इस बार आचार्य शिष्य की ही ओर दृष्टि फेर सोल्लास कहा—"सौम्य मुख ! यह आचार्य बहुलाश्व की विद्यापीठ नहीं, वरन् वैशाली है; वह वैशाली, जिसमें प्रणय के अपने नियम हैं। क्यों जी, श्रेष्ठीपुत्री के केश पर जूडा बाँधने में आपको सकोच क्यो हो रहा है ?"

आचार्य शिष्य उत्तर में केवल मुस्करा दिया। और फिर मंजरिका के हाथ से जूडा ले, उसके केशपाश पर बाँध दिया। सभी उपस्थित जन इस लास्यपूर्ण दृश्य पर करतल ध्वनि कर खिलखिला उठे।

इसी मध्य आगत यौवना के साथ आया प्रेमी युवक हँसते हुए बोल उठा—"आचार्य शिष्य, वैशाली में सुरक्षा प्रधान के पद का भार वहन करना अत्यन्त सरल है, परन्तु इनकी यह लीला तो बस अपरम्पार ही समझो।" यह कहते हुए वह उसके समीप ही पहुँच गया। फिर बोला—"बन्धुवर, इसमे अधीर होने की कोई बात नहीं; धैर्य रखो, शनैः-शनैः सब अभ्यस्त हो जाओगे।"

आचार्य शिष्य इस पर तनिक मुस्करा बोला—"प्रिय बन्धु, जब आप जैसा उदार सहायक वैशाली में विद्यमान हो तो भला अधीर होने की क्या आवश्यकता है।

यह कह उसने एक बार नेत्रकोरों से उसके साथ आई आगत यौवन को देखा और फिर मंजरिका की ओर दृष्टि फेर बोला—"देवी, कम से कम तुम्हें इनका धन्यवाद तो करना ही चाहिए। देखो तो, शुभमुखी में सौन्दर्य और चपलता का क्या ही अद्‌भुत मिश्रण है !"

यह सुन, वह आगत यौवना लजा गई। मंजरिका भी ससंकोच मुस्करा उठी। और, दासी कन्या अभी भी हतप्रभ हुई आचार्य शिष्य की ओर देख रही थी। फिर कुछ गर्व का सा अनुभव कर उठी। वास्तव में उनके साथ होते इस हास-परिहास से जैसे उसे यह संकेत मिल चुका था कि यही वह महाभाग आचार्य शिष्य हैं।

अंततः आचार्य शिष्य मंजरिका को साथ ले चल पड़ा। दासी कन्या कुछ सुध-बुध सी खोई उन्हीं की ओर ताकती रही। सहसा उसे ध्यान आया कि सुरक्षा प्रधान ने मूल्य तो चुकाया ही नहीं। जो युवक केवल थोड़ी देर पूर्व ही परिहास कर रहा था, वह उसके इस भाव को भाँप गया। पहले तो उसने अपने साथ आई प्रेयसी को नेत्र इंगित से कुछ बताया और फिर वहीं खड़ा-खडा जोर से चिल्ला उठा; "अरे ओ बन्धु, और आपको यह दासी कन्या तो स्मरण करती ही रह गई है।"

आचार्य शिष्य को युवक का यह परिहास भौंडा-सा लगा, परन्तु जब उसे वास्तविकता का ध्यान आया तो बस हक्का-बक्का रह गया। कारण, वह अपने साथ एक भी कार्षापण नहीं लाया था। व्यग्रता से इधर-उधर देखने लगा. और फिर खिन्न दृष्टि से मजरिका की ओर देखा। मंजरिका उसकी इस व्यग्रता को देख कर भी जैसे तटस्थ बनी रही।

यह नाटकीय दृश्य उपस्थित हुआ देख सभी उत्सुकता से आचार्य शिष्य की ओर देख उठे; देखते रहे कि देखो, अब समस्या का किस प्रकार समाधान होता है। इसी मध्य उस युवक ने इंगित ही इंगित में उस दासी कन्या को भी उकसा दिया और वह तत्परता से आचार्य शिष्य के समीप जा खडी हुई। परन्तु निश्चित ही उसका इस समय अभिप्राय मूल्य लेना नहीं, वरन् आचार्य शिष्य को और दुविधा में डालना था। यह, उसके मुख पर उस समय छाई चपलता पूर्ण मुस्कराहट से स्पष्ट परिलक्षित हो उठा।

और आचार्य शिष्य इस समय लज्जा से भी अधिक अपमान का अनुभव कर रहा था।

अंत मे सभी ओर से निराश हो उसने सहायता की सी कातर दृष्टि से मंजरिका की ओर देखा। और मजरिका ?...वह भी सभी के साथ इस समय आचार्य शिष्य के साथ होते परिहास का मन-ही-मन रस ले रही थी। दासी शिष्या का हाथ अभी भी उसी की ओर बढा हुआ था। मंजरिका ने उसकी ओर देखा तो दासी कन्या ने अपनी चपल दृष्टि के इंगित से मानों कहा—"नहीं, अभी रहने दो।"

आचार्य शिष्य के मुख पर स्वेद कण उभर आए। वह परास्त हुआ सा बोला—"क्यों शुभे, क्या तुम भी अपने साथ कोई कार्षापण नहीं लाई ?"

मजरिका उत्तर में कहा चाहती थी—"हाँ, मैं तो लाई हूँ, पर आप क्यों नहीं लाए ?" परन्तु इससे पूर्व ही उस पूर्व वाली युवती ने उसका हाथ पकड़, कहा—

"देवी, इनसे पहले यह तो पूछो कि फिर कभी तो ऐसी भूल नहीं करोगे ?"

आचार्य शिष्य को इस पर कुछ संकोच का अनुभव हुआ, परन्तु साथ ही समस्या को सुलझा समझ, उसकी दुविधा भी लुप्त हो रही। हँसकर बोला—"देवी, इनके सन्मुख तो नही, परन्तु हाँ आज तुम्हारे सामने अवश्य कान पकड़े लेता हूँ।" फिर, उस युवक की ओर दृष्टि करते हुए बोला—"बन्धुवर, भला इनके साथ तुम्हारा कैसे निर्वाह होता होगा !"

वह युवक हंस उठा। फिर बोला—"निर्वाह हो न हो, परन्तु करना तो होता ही है आचार्य शिष्य।"

इसी मध्य मजरिका ने आंचल से एक स्वर्ण कार्षापण निकाल आचार्य शिष्य की ओर बढा दिया; और आचार्य शिष्य ने जब उसे लेने को अपना हाथ पसारा तो सभी करतल ध्वनि कर उसका परिहास कर उठे। परन्तु इस परिहास से वह तनिक भी चिढ़ा नहीं, न ही क्षुब्ध हुआ, उल्टे उसे एक आनन्दोच्छवास का अनुभव हुआ; और इस आनन्दोच्छ्वास मे उसे लगा, जैसे मंजरिका उसके और निकट आ गई है। वह प्रफुल्ल हो, मन ही मन कह उठा—'ध्वजधर, वैशालिकों का यह हास-परिहास नहीं, स्नेह है, वह स्नेह है जो...।'

और, जब तक उसने कार्षापण ले दासी कन्या की ओर मुख किया तो देखा, वह वहाँ से चली गई है; और अपने स्थान ही से खड़ी-खडी कह रही है—"आर्य मैं ऋण में लिया कार्षापण नहीं लेती, जब कभी अपना बने तो दे जाना।"

किन्तु आचार्य शिष्य नही माना। कार्षापण को उसकी ओर फेंक, तनिक हँस कर बोला—"कोई बात नही शुभे ! कभी-कभी अपने व्रत को तोड़ देने का भी विशेष आनन्द है। आज यही कर देखो।"

यह सुन दासी कन्या का सारा गात गुद-गुदा उठा। हृदय न जाने क्या कुछ अनुभव कर रह गया।

और, आचार्य शिष्य का रथ तत्परता से देवी शिष्या की अट्टालिका की ओर बढ़ लिया।

सोलह

सन्ध्या होते-होते कला-तीर्थ सप्त-खण्डीय अट्टालिका का विस्तृत प्रांगण आगंतुकों की भीड़ से लहलहा उठा। इधर प्रांगण जन-समुदाय से ओत-प्रोत था, और उधर मुख्य द्वार में से उमगते आ रहे नर-नारियों का प्रवाह भी गतिमान था; जैसे कोई महानद अपने तटबन्धो को तोड़ चारों ओर जल प्लावन कर उठा हो।

चारो ओर उत्साह का सागर उमड़ता देख, अट्टालिका का भव्य रूप भी अधिकाधिक मुखर हो उठा। अट्टालिका की परिचारिकाओ का भला आज क्या कहना। उनके लिए मानों भोर की नई स्वर्णिम किरण फूटी हो और फिर उसी के साथ जीवन ने भी एक नई करवट ले ली हो। उत्साह के आवेग में उनके पैर भूमि पर नहीं पड़ पा रहे थे, वरन् तरंगित हो, तैरते से प्रतीत हुए। सभी के मुख कमल की भाँति खिल उठे।

इस समय उनकी गतिविधियों का भी कोई एक निश्चित रूप नहीं था। विभिन्न दलों में विभक्त हो, वे यत्र-तत्र फैल, यत्र गति से सभी आवश्यक कार्यों को निपटाने में व्यस्त हो उठीं। उनका एक शतदल मुख्य द्वार पर खड़ा अपनी लम्बी-लम्बी भुजाएं फैला, आगंतुकों पर सुवासित जल-कण फुहार रहा था; और एक दूसरा दल अपने हाथों पर टिकाए अर्घ्य सामग्रियों युक्त रजत आधारों को ले जन-समुदाय के मध्य धूम रहा था। सभी के ललाट पर चन्दन का आलेप कर वे प्रसन्नता से फूली नहीं समा रही थी।

इसो मध्य परिचारिकाओं का एक अन्य दल सोत्साह मुट्ठियाँ भर-भर, हरा-लाल अबीर फेंकता उधर आ निकला; और सन्ध्या का मुख वर्णिम हो उठा। आनन्दोच्छ्‌वास के इस वातावरण में प्रेमी युगलो के लिए किसी एक स्थान पर बैठे अथवा खड़े रहना जैसे असंभव था। अपने ही मध्य छिड़े किसी प्रसंग के प्रवाह में चारिका करते-करते वे प्रांगण के ओर-छोर का स्पर्श कर कब, कैसे लौट रहते, उन्हें स्वयं इसका पता नही चल पाता। कोई उनकी ओर देख भी रहा है, इसकी भी उन्हें जैसे कोई सुध नही थी। पर, शेष सभी उन्हें देख मन ही मन कह उठते—'अरे यही बेसुधी तो जीवन है!' परन्तु उनका जीवन केवल इसी तक सीमित नहीं था। वहाँ, सामने—लता कुंज के पास एक प्रेमी युवक उत्साह से उछाँग ले, लता मुख पर खिले पुष्प को तोड़ने का प्रयत्न कर रहा था। और फिर पुष्प टूटने पर दोनों ही किस प्रकार खिलखिला उठे। प्रेयसी अपने प्रेमी से अत्यन्त चाव से केश पाश में उसी पुष्प को लगवा, उमग उठी। उनके इस समय के उस आह्लाद एवं गर्व का क्या कहना, और क्या कहना उस

रसिक युवक का जो अब उसके चिबुक को ऊपर उठा, उसके नेत्रों में झाँक, जीवन अथवा किसी रहस्य को या उस बाला के सौन्दर्य-मर्म को विस्फारित नेत्रों से निहार रहा था।

सहसा सिंह द्वार की ओर से तूर्य निनाद हो उठा। जब वहाँ यह विदित हुआ कि स्वयंभू गणाध्यक्ष राजा चेटक पधारे हैं, और साथ ही महाबलाधिकृत सिंह सेनापति, आचार्य-पुत्री रोहिणी, महापौर श्रेणिय रत्न और विनिश्चय अमात्य रिपु दमन भी आए हैं, तो सारे जन समूह में उत्साह की प्रगाढ लहर दौड़ गई। सभी उस ओर भाग से लिए। आचार्य शिष्य भी उमग मजरिका का हाथ पकड़ उस ओर बढने को उद्यत हुआ, किन्तु मंजरिका ने उसे बलात् पीछे की ओर खींच लिया। आचार्य शिष्य कुछ हतोत्साहित हो पूछ उठा—"क्यों क्या बात है, शुभे ?"

मंजरिका की दृष्टि नत हो रही। फिर जैसे साहस कर उसने अपने नयन ऊपर उठाए, उन्हें आचार्य शिष्य के मुख पर स्थिर करने का सा प्रयास करती हुई वह बोली—"बन्धुवर के सम्मुख जाते हुए लज्जा सी आती है; और फिर, देवी रोहिणी के विनोदी स्वभाव से तो आप भी परिचित हैं ही।"

आचार्य शिष्य के मुख पर एक सजीव मुस्कान खेल उठी; बोला—"तो फिर क्या हुआ, शुभे ! एक दिन तो यह रहस्योद्घाटन होना ही है; फिर आज ही क्यों न हो······।"

मजरिका सगर्व, कुछ झुंझला-सी गई; किन्तु मुख दीप्त हो उठा, कर्णपटी लालिमा गई। फिर धीमे से बोली—"जब होगा, स्वय हो जाएगा।"

आचार्य शिष्य इसके पश्चात् भला और क्या कहता। उसके मुख से केवल 'धत्त' निकल गया।

इसी मध्य नृत्य मंच की ओर से वाद्य-वृन्द परस्पर स्वर ताल मिलाता झंकार उठा। उसकी सरसता से मंजरिका अभिभूत हो उठी और संध्या का धूमिल रूप भी प्रखर हो उठा। आनन्दोच्छ्वास से तरंगित होते जन समूह के मध्य मंजरिका ने उमग, कब आचार्य शिष्य के हाथ का अवलम्ब ले लिया, यह उसे स्वयं विदित नहीं हो सका। वह खो सी गई। उधर मच की ओर अग्रसर होते-होते आचार्य शिष्य का हाथ भी जैसे स्वत: मजरिका के कटि प्रदेश पर जा पड़ा। फिर उसे वहीं रख वह उसके सहारे से मजरिका को आगे की ओर ले बढ़ा। मंजरिका इस पर कुछ ठिठकी; परन्तु साथ ही कोई प्रतिरोध भी नहीं कर सकी।

दोनो आगे बढते रहे, और उसी के साथ बढता रहा आचार्य शिष्य के मस्तिष्क में कोई विचार प्रवाह भी। उसी के साथ चारिका की गति भी तेज होती चली, इतनी तेज कि मंजरिका का उसके साथ चलना असंभव हो गया। परन्तु मन की उमग जो ठहरी, वह चलती गई; किन्तु आचार्य शिष्य के अतर में उठे किसी भाव-द्वन्द्व ने एक बारगी उसकी सारी चिंतन चेतना को झिंझोड-सा दिया। वह सोचने लगा—"क्या सोचूं, क्या न सोचूं।" वह न जाने क्यों वह कुछ विचलित-सा हो उठा। भावों के वाचाल रूप को देख उसका विवेक झनझना उठा, और झनझना उठा उसके अंतर में प्रवाहित होता कोई गुप्त भाव; मानों, वह अपने तटबन्ध तोड प्रलय मचा देना चाहता हो। मंजरिका

के कटि प्रदेश पर रखा उसका हाथ कंपकपा उठा; मंजिरिका भी सिहर उठी। कातर स्वर में यह जैसे चीख, कह उठी—"स्वामी!"

आचार्य शिष्य सचेष्ट हो उठा। अपने शिथिल हाथ को दृढ करता हुआ-सा खिन्न कण्ठ स्वर में बोला—"देवी, क्षमा करना; वैसे ही मन कहीं दूर दिगंत में भटक गया था।"

परन्तु जो कुछ उसने कहा उससे वह अपने को तो क्या, मजरिका को भी आश्वस्त नही कर सका। वह खिन्न हो उठी।

इसी मध्य परिचारिकाओ के शत दलो ने इधर-उधर, सर्वत्र जा, दण्डाधारों पर रखे दीपो को प्रदीप्त कर दिया, और वह सारा प्रागण आलोकित हो उठा।

और, दीपशिखाओं के इस ज्योतित प्रकाश में वे दोनों न तो आगे बढ पाए और न पीछे ही हट सके। जहाँ खड़े थे, बस वही बैठ गए।

वाद्य-वृन्द का झंकारता गतिक्रम यथापूर्व चलता रहा; और सन्ध्या शनैः शनैः रात्रि मे परिणत होती चली। किन्तु पर्याप्त अवधि बीत जाने के पश्चात् भी जब देवी शिष्या मच पर उपस्थित न हुई तो नृत्य-प्रेमी जनों के उतावले मन अधीर हो उठे। एकत्र जनसमुदाय के पृष्ठ भाग में कुछ-कुछ कोलाहल-सा सुरसुरा उठा।

वयोवृद्ध गणाध्यक्ष राजा चेटक के दीप्त नेत्र मानो कुछ खोजते हुए से इधर-उधर देखने लगे और अंततः निकट ही मे बैठे महाबलाधिकृत सिंह सेनापति के मुख पर केन्द्रित हो रहे। इस पर सिंह सेनापति सैनिक की सी तत्परता से उठ गणाध्यक्ष के सम्मुख आ खडे हुए। तत्पश्चात् अपना शीर्ष नत कर बोले—"आर्य आज्ञा करें, सेवक प्रस्तुत है!"

गणाध्यक्ष उच्च पदोचित अपने ओजस्वी कण्ठ स्वर में पूछ उठे—"क्यों आयुष्मान् सिंह, क्या आज के इस महोत्सव के अधिष्ठाता आयुष्मान ध्वजधर नहीं हैं?"

महाबलाधिकृत सिंह ने गणाध्यक्ष के इस प्रश्न पर जैसे कुछ लज्जा का सा अनुभव किया। परन्तु प्रकट में सर्वथा संयत रह वह विनीत भाव से बोले—"श्रद्धास्पद! पदेन यह निश्चित ही आयुष्मान का दायित्व है और कर्तव्य के प्रति उसकी इस उदासीनता को देख मैं अवश्य ही लज्जा का अनुभव कर रहा हूँ, आर्यवर।"

इस पर, गणाध्यक्ष आत्मीय भाव से बोले—"आयुष्मान को इसमे लज्जित होने की किंचित् भी आवश्यकता नही। आयुष्मान ध्वज वयस की दृष्टि से अपने दायित्व के प्रति कही अधिक जागरूक है, अतएव यह निस्सदेह गर्व का विषय है। वास्तव में मैं तो उनकी अनुपस्थिति से चिंतित हो उठा हूँ। नगर की स्थिति तो आयुष्मान से भी नही छिपी है।"

निकट मे ही बैठे महापौर श्रेणियरत्न और देवी रोहिणी का भी इस समय ध्यान उधर ही था। दोनों ने जब यह सुना तो उनके मुख भी चिंता से मलिन हो रहे। देवी रोहिणी तो व्याकुल ही हो उठी। श्रेणिय रत्न व्यग्र भाव से बोले—"बन्धुवर सिंह, आर्य की चिंता अकारण कदापि नहीं हो सकती, अतएव इस दिशा मे तत्काल कोई उपाय अनिवार्य है।"

देवी रोहिणी जैसे असहाय दृष्टि से अपने पति सिंह की ओर देख उठी। मन

ही मन सोचती रही—'महाप्रभु करें, कुछ भी अनिष्ट न हो, और यदि कुछ हो गया तो हम किसी प्रकार भी पितृवर को मुंह दिखाने योग्य नही रह सकेंगे। वह हमें निश्चित ही धिक्कारते हुए कहेंगे—क्यों आयुष्मती, क्या इसी आशा से हमने अपना एक प्रिय शिष्य तुम्हारी सेवा मे भेजा था ?'

यूं महाबलाधिकृत सिंह भी कोई कम चिंतित नहीं हुए थे। फिर भी उन्होंने अपना धैर्य नही खोया था। ध्वजवर यहाँ आकर भी मच पर उपस्थित न हो, यह उन्हे सर्वथा असम्भव प्रतीत हुआ। परन्तु हताश व्यक्ति कहाँ क्या कुछ नहीं टटोलता। उनकी दृष्टि हठात् एकत्र जन समुदाय पर स्थिर हो गई। विहगम दृष्टि डालते हुए उन्होंने चारो ओर देखा। फिर उनकी दृष्टि किसी एक स्थान विशेष पर क्षणेक के लिए स्थिर हो रही। उनके मुख पर फैली सहज मुस्कान को देख देवी रोहिणी ने भी उधर ही देखा तो वह चकित हो उठी, साथ ही विमुग्ध भी हो रही। उसके मुख पर एक मुस्कान फैल गई। वह तत्परता से उठ उसी दिशा मे, जैसे दौड-सी ली।

आचार्य शिष्य अभी भी विचारों में खोया सा, मानो सभा ओर से बेसुध हुआ बैठा था। प्राय वैसी ही दशा मजरिका की भी थी परन्तु वह इस समय उदास अधिक थी। देवी रोहिणी ने जब उन्हे, दोनों ही को, इस मनोदशा में देखा तो वह हतप्रभ हो उठी। क्षणेक कुछ सोच, वह मजरिका का स्पर्श कर बोली—"क्यों जी, तुम दोनो यहाँ बैठे हो और वहाँ तुम्हारी खोज हो रही है।"

देवी रोहिणी की शब्द ध्वनि कानों से टकराते ही आचार्य शिष्य चौक-सा गया; और मन ही मन कुछ लज्जित भी हो रहा। पर देवी रोहिणी ने जैसे उस ओर कोई ध्यान ही नही दिया। किंचित् मुस्कान के साथ वह बोली—"क्यो आयुष्मान, आज तो कदाचित् तुम यही भूल गए कि इस महोत्सव का अधिष्ठाता कौन है ?"

देवी रोहिणी ने यह सब कुछ सर्वथा विनोद के ढंग में कहा, और उसकी सरसता ने आचार्य शिष्य के अन्त: छोर का स्पर्श भी किया; फिर भी वह मन ही मन आत्म-ग्लानि का सा अनुभव कर उठा। तो भी, जैसे विवश हो वह मच की ओर दौड लिया। उसके सोपान पर चढते-चढ़ते वाद्य वृन्द सहसा रुक रहा और जब वह मच पर पहुँचा तो समूचा प्राँगण भारी करतल ध्वनि से गूंज उठा।

और, निकट ही ओट में खडी देवी शिष्या के प्रतीक्षा आतुर मुख पर भी तत्क्षण मुस्कान की रेखा खिले बिना न रह सकी। परन्तु उसकी इस मुस्कान को न तो आचार्य शिष्य ने देखा और न मंजरिका ही देख सकी। कदाचित कोई भी उसे न देख सका और जैसे वह केवल स्वयं में ही सिमट कर रह गई।

मजरिका देवी रोहिणी के अनुरोध के पश्चात् भी यथा स्थान ही बैठी रही। उत्सुकता से मच की ओर निहारती रही। उसने देखा, आचार्य शिष्य के ऊपर हाथ उठाते ही जन सागर के मध्य से बहता करतल ध्वनि का प्रवाह सहसा रुक गया है। यह देख वह मन ही मन बोली—"सचमुच, आचार्य शिष्य ने इतनी सी अल्पावधि में गरण-मन पर कितना अधिकार कर लिया है।

वह सब कुछ भूल एक बार फिर गर्व का अनुभव करने को, जैसे बाध्य हो गई।

उधर करतल ध्वनि के शान्त होते ही आचार्य शिष्य ने कर बद्ध हो मस्तक नमाते हुए अत्यन्त विनीत भाव से कहना प्रारम्भ किया—"श्रद्धास्पद गणाध्यक्ष और सौम्य जनो, अब मैं गण महा नगरी वैशाली के सभी नृत्य प्रेमियों की ओर से देवी शिष्या से अनुरोध करता हूँ, कि वह आज की इस सन्ध्या बेला में अपनी कला के अनुपम कौशल से हम सभी को प्रसादित करें।"

उपस्थित नागरिक भारी हर्ष ध्वनि कर, जैमे इम अनुरोध का अनुमोदन कर उठे। वाद्य-वृन्द बज उठा। साथ ही नेपथ्य की ओर से किकण-ध्वनि के मध्य जब देवी शिष्या अपने शुभ्र परिधान में मंथर गति से मच पर अवतरित हुई तो सभी को लगा—'यह तो सचमुच वैशाली के क्षितिज पर कोई नवी कला-किरण मुदित हो, उदित हुई है।'

सत्रह

यह एक प्रातः बेला की बात है।

वृत्ताकार दीखती, हरीतिमा आच्छादित पर्वतमाला की विस्तृत गोद में बसी एक वैभव शालिनी नगरी इस बेला में भी त्रस्त हुई सी दीख रही थी और उसके पूरे ओर-छोर पर श्मशान का सा सन्नाटा व्याप्त था। पवन भी साँय-साँय कर उसके पूरे आकार-प्रकार को बेधता सा प्रतीत हुआ; किन्तु इसी नगरी की उच्च अट्टालिकाओं से कुछ दूर पर्वत वृत्त के मध्य ही खड़े एक शृंखलात शिखर पर एक व्यक्ति मानों ध्यानस्थ हुआ इस सारे त्रस्त वातावरण को, जैसे तटस्थता के शान्त भाव से देख रहा था। उदयाचल से उभर देव आदित्य भी नगरी के इस सूने वातावरण में झाँक उठा; किन्तु उसकी इस प्रदीप्त मुख आभा को भी मगध साम्राज्य का भव्य राजप्रासाद और उच्च अट्टालिकाओं का समूचा विस्तार केवल सशंक दृष्टि से देख सका।

अंततः, शृंखलांत शिखर पर बैठे व्यक्ति ने अपना ध्यान भग किया और वह वहीं विश्राम की गति से चारिका व्यस्त हो गया। उसने एक बार नीचे की ओर भी झाँक कर देखा; किन्तु यह देख कि आज शिखरपाद पर कोई भी व्यक्ति नही आया है, वह अपनी दृष्टि को पुनः अन्तर में ही समेट ध्यानस्थ हुआ सा चारिका व्यस्त हो गया। देव आदित्य की स्वर्णिम रश्मियों का स्पर्श पा उसके मुख की आभा और प्रदीप्त हो उठी। सहसा शिखर के ही एक कोने में बैठा एक विशाल पक्षी जोर से अपने पंखों को फड़फड़ा उठा। उसकी इस फड़फडाहट को सुन नीचे वाली कन्दरा में बैठा एक व्यक्ति न केवल भयभीत हो उठा, वरन् उसमें से बाहर की ओर भाग खड़ा भी हुआ। साथ ही, उसका त्रस्त कण्ठ स्वर सहायता की सी पुकार करता, उच्च ध्वनि में 'तथागत-तथागत' और फिर 'शास्ता-शास्ता' की रट लगा उठा।

'तथागत-शास्ता' की इस सहायता पूर्ण पुकार को सुन शिखर-शीर्ष पर चारिका व्यस्त व्यक्ति हँस उठा। किन्तु उसकी यह हँसी उपहास की नहीं, आश्वासन की सी प्रतीत हुई, जिसे सुन नीचे कन्दरा मुख के सामने खड़े चीवर धारी व्यक्ति के मुख की घबराहट पर लज्जा का सा भाव फैल गया। इसी मध्य शिखर शीर्ष पर से नीचे की ओर झाँकते हुए ऊपर वाला व्यक्ति अपने ओजपूर्ण कण्ठ स्वर में पूछ उठा—"क्यों आयुष्मान मोग्गलायन, क्या हुआ ?"

इस पर मोग्गलायन ने अपना मस्तक नत कर ऊपर वाले व्यक्ति को नमस्कार किया, फिर नत मस्तक रहे ही अपना वाम हाथ फैला उधर की ओर संकेत किया जिधर गृध्र बैठा था। उसके मुख पर पश्चात्ताप की खिन्नता फैल गई। धीमे से बोला—"शास्ता !

समाधि भंग हुई है, अतः अब दुष्कर्म के दोष से पीड़ा का अनुभव हुआ है।"

"क्या पश्चात्ताप का भी, आयुष्मान्।" तथागत ने अपने गुरु-गम्भीर कण्ठ स्वर में पूछा।

मोग्गलायन ने पूर्व से भी अधिक धीमे स्वर में कहा—"हाँ, शास्ता, वह भी हुआ है।"

तथागत ने क्षणेक मौन रख फिर कहा—"यह तो विकार में से विकार उत्पन्न हुआ, आयुष्मान्! विकारों का कोई अन्त नहीं, केवल समाधि की तटस्थता ही निर्विकार है।"

यह कह वह तनिक रुके। फिर पूछने लगे—"आयुष्मान् मोग्गलायन, भय अन्तर में है अथवा बाहर?"

"शास्ता, भय केवल अन्तर में व्याप्त है।"

"और ब्रह्माण्ड, तथा ब्रह्माण्ड में दृष्टिगोचर होने वाला उसका चर-अचर भव्य रूप।"

"वह भी अन्तर में ही व्याप्त है; अन्तर्मुख हो, मैं उसी में ही तो लीन था, शास्ता!"

"तो क्या वह अब नहीं है, आयुष्मान्।"

"शास्ता वह अब भी है; किन्तु अन्तर के भय को देख वह अन्तर्धान हो गया है।"

इस पर, तथागत ने अपने दाएं हाथ को अर्ध-ऊर्ध्व कर पूछा—"आयुष्मान्, यह क्या है?"

मोग्गलायन ने अपनी दृष्टि ऊपर उठाए बिना ही कहा—"शास्ता! यह हाथ है और उसकी अंगुलियाँ, अलग होने के कारण बिखरी इन्द्रियों के समान।"

"और अब क्या है?"

"शास्ता, अंगुलियों के परस्पर निकट आने पर इन्द्रियों ने भी अपने अलग-अलग व्यापार को समेट लिया है।"

"और अब क्या है, आयुष्मान्?"

"मोग्गलायन ने नत मस्तक रहे ही कहा—"शास्ता, कनिष्ठिका समेत दो अंगुलियाँ ऊर्ध्व मुख हो, शून्याभिमुख हैं; और तर्जनी ने अपने प्रताड़ते स्वभाव को त्याग अंगुष्ठ के साथ संधि की है, संधि से चित्त एकाग्र हुआ है और अब ध्यानस्थ हुआ चाहता है।"

"क्यों, आयुष्मान्?"

"क्योंकि, अब उसने आनन्द का आभास पाया है।"

तथागत बोले—"तब आयुष्मान् आनन्द का ही लाभ करो, भय के विकार से उसकी हानि न होने दो। दत्तचित्त अभ्यास के सम्मुख तो मार के तीक्ष्ण बाण भी निरर्थक हो रहते हैं। आयुष्मान् मोग्गलायन, तथागत जब बोधिसत्व थे, तब उसने मार को केवल अभ्यास से ही निरस्त किया था।"

यह सुन मोग्गलायन तथागत के दिव्य रूप को नमस्कार कर पुनः अपनी कन्दरा

मे प्रविष्ट हो रहा और तथागत भी पुनः विश्राम की गति से चारिका व्यस्त हो जैसे अनन्त में लीन हो गए।

किन्तु, साम्राज्य नगरी की उच्च अट्टालिकाएं कदाचित् अपने गर्व के कारण तथागत के इस बताए मर्म को समझने में असमर्थ रहीं। उनकी दृष्टि केवल अपने भौतिक स्वरूप पर ही स्थिर रही। अतः, उनके पूरे आकार-प्रकार पर भी भय का विकार विद्यमान रहा।

सूर्योदय की रश्मियाँ अन्य दिनों की भाँति आज भी उच्च अट्टालिकाओं पर आकर स्थिर थीं, परन्तु उनका उष्ण स्पर्श पाकर भी वे प्रफुल्ल नहीं हो सकीं। प्रभात के इस छटा पूर्ण आलोक में भी जैसे उन्होने अन्तर की निराशा वश अमावस्या की गहन-तिमिर युक्त कालिमा ओढ़ रखी थी। उनके गौरवशाली विशाल स्वर्ण, रजत कलशों पर विषाद की एक गहन रेखा सी खिंची प्रतीत हुई।

और दिनों, इसी राज नगरी के जो विस्तृत राजपथ सूर्योदय पूर्व ही से अभिजात जनो के विशाल वाहनों की गडगडाहट, अश्वों की पद चापों एव पैदल चलते प्रजाजनों की आहट से गुजायमान हो उठते थे, वे इस समय केवल सूने दीख पड़े। और दिनों, प्रभात की इस मनोहारी बेला में जब कोई व्यक्ति इन राजपथों पर से होकर चलता था तो वह सामन्तों एवं श्रेष्ठियों की वैभवशाली अट्टालिकाओं के गवाक्ष छिद्रों में से प्रस्फुटित होती सुमधुर वीणा की झंकारों, मृदग पर पडती हुई तालपूर्ण थापों अथवा किसी कोकिल कण्ठी के मुख से नवोदित देव आदित्य के स्वागत स्वरूप निकले सरस मंगल गान को सुन भाव विभोर ही उठता था। परन्तु आज न इन अट्टालिकाओं अथवा प्रासादों के गवाक्ष छिद्रो से यह सगीत लहरी ही प्रस्फुटित हो रही थी और न राजपथ पर सुनने वाला कोई पथिक ही था। हाँ, यदा कदा ये सूने राजपथ कतिपय अश्वारोहियों के आते-जाते इक्के दुक्के गुल्म से अवश्य सशब्द हो उठते। परन्तु सुगठित अश्वों की पदचापों से राजपथों के अन्तर में से जो प्रति ध्वनि निकलती, उससे जैसे वह स्वयं ही आतंकित हो उठती। गवाक्षो के छिद्रों में से झाँकती युवतियाँ कौतूहल के कारण इस दृश्य को देखे बिना भी नहीं रहतीं, और जब देखतीं तो फिर भय से सिहर अपने विष्टर पर जा लेटतीं। कोई सामन्त अथवा श्रेष्ठी जब इस दृश्य को देखता तो वह सशय से पर्याप्त समय तक उसी ओर देखता रह जाता और उसके मस्तिष्क में एक साथ कई अनुमानों का प्रवाह गतिमान हो उठता। अन्त में वह दुविधा के जचकोलों से युक्त आरोह-अवरोह में कुदुक की भाँति अस्थिर हो उठा। घटना चक्र के इस भयकर प्रवाह में किसी के प्रति भी अपना मन्तव्य प्रगट करना वह अपने लिए केवल किसी संकट की ही भूमिका समझता। उधर, साधारण प्रजाजन राज नगरी के किसी गतिशील घटना चक्र को केवल तटस्थ भाव से देखने में ही निज का कल्याण समझ रहे थे।

वास्तव में सशस्त्र सैनिकों के गतिशील एव उग्र रूप के सम्मुख इस समय समूची राजनगरी विवशता से मौन थी।

इधर, नगर के उत्तर और दक्षिण दोनों ही द्वारों के बाहर दूर-दूर तक फैले सघन आम्रकुज तथा आराम सैनिकों से घिरे थे। दूर दिगत से आए सार्थों पर दृढ़ पहरा

था तथा सभी सार्थवाह चिंतित अथवा व्याकुल दीख रहे थे। दिन भर की विकट यात्रा से थक, विश्राम की इच्छा से जो यात्री नगर-उपांत के जिस किसी भी आस्थानागार में गत रात्रि ठहर गया था, उसने प्रातः होते ही अपने को बंदी प्राय अवस्था में पाया। आस्थानागारों पर भी इस समय सशस्त्र सैनिकों का सुदृढ पहरा था। यूं प्रत्यक्ष में कोई भी बंदी नहीं था, किन्तु फिर भी किसी को इस समय बाहर न निकलने की कठोर आज्ञा थी। वास्तव में मध्य रात्रि को ही जब सार्थवाह अथवा यात्री निद्रा मग्न थे, तभी उन्हें सावधान कर एक राजाज्ञा सुना दी गई थी; और वह राजाज्ञा थी कि जब तक कोई अन्य घोषणा हो, तब तक कोई भी अपने स्थान से न हटे अन्यथा वह मृत्युदंड का भागी होगा। सभी वैदेशिक रात्रि के उस तिमिर में इस आदेश को सुन आशंका से सिहर उठे और उनका अन्तस्थल प्रकम्पित हो उठा।

परन्तु इस आतंकपूर्ण, सशंक एवं दुविधाग्रस्त वातावरण में भी मुख्य राजप्रासाद की अभेद्य प्राचीर पर मगध साम्राज्य की सिंहांकित रक्तिम पताका सदैव की भांति, आज भी, सोत्साह लहरा, जैसे इस बात का बोध करा रही थी कि कुछ भी तो नहीं हुआ। तथापि, राजप्रासाद का मुख्य अंतःपुर पर्याप्त समय तक शोकाकुल रह, अब जैसे थक, मौन हो चुका था। यूं, उसका अंतर अभी भी कभी-कभी चीत्कार कर उठता। परन्तु उसकी ध्वनि केवल अंतर में ही टकरा कर रह जाती, क्योंकि निरन्तर रोदन करते-करते उसका कण्ठ अब तक शुष्क हो चुका था, और फिर इस समय बाहर सिंहपाद सैनिकों का भी दृढ पहरा था। चेटक-पुत्री चेल्लना, देवी वासवी, मद्रराज दुहिता क्षेमा, पद्मावती तथा पट्ट महिषी कोसल देवी यूं ये सभी शोकातिरेक से बेहाल थी, परन्तु जो दशा इस समय कोसलदेवी की थी, उसे देख कर तो कोई पाषाण हृदय भी व्यथित हुए बिना न रह पाता। वह भावातिरेक में विलाप करती हुई दौड़ती-दौड़ती मुख्य द्वार तक जाती, परन्तु सिंहपाद सैनिक बलात् उसे रोक देते। तब अन्य रानियाँ उन्हें कुछ समझाने का प्रयास करतीं, पर उनका यह प्रयास केवल विफल हो रहता। उधर, देवी वासवी का शीर्ष आत्मग्लानि से एक बार जो झुका, तो फिर वह ऊपर उठ ही नहीं सका। उसकी दशा इस समय विक्षिप्त प्राय थी; और निरन्तर विलाप से उसका कण्ठ स्वर भी पूर्णतः क्षत विक्षत हो चुका था। अपना मुख नत किए हुए ही वह अनर्गल रूप में कह रही थी—"कुमार कोणिक, तुझे जन्म देकर मैं आज सचमुच कितनी लज्जित हूँ। अरे देख, ये सभी मुझे किस प्रकार धिक्कार रही हैं।"

परन्तु अंतःपुर के अन्दर होता हुआ यह रोदनपूर्ण प्रलाप केवल उसी की चारदीवारी तक टकरा कर रह जाता। उसका एक भी शब्द बाहर नहीं जा पा रहा था; जैसे बाहर खड़े सिंहपाद सैनिकों की क्रूर मुखाकृति को देख वह भी आतंकित हो लौट रहता। अंतःपुर पर नियुक्त विकराल-मुख सिंह-पाद सैनिकों को उनके स्वामी का दृढ़ आदेश था कि जब तक उन्हें अगला आदेश प्राप्त हो, किसी को भी, यहाँ तक कि पट्टमहिषी कोसलदेवी को भी, मगध राज बिम्बसार से न मिलने दिया जाए।

और, मगध साम्राज्य का यशस्वी संस्थापक श्रेणिय बिम्बसार इस समय राज-

प्रासाद के किसा सज्जित प्रकोष्ठ अथवा कक्ष में नहीं, वरन् मुख्य प्रान्तर से कुछ दूर वाले एक तप्त कारागार की अंधकारपूर्ण कोठरी में बन्द था ; और इस कोठरी पर इस समय कुमार कोणिक के विश्वस्ततम सशस्त्र सैनिकों का दृढ़ पहरा था ।

प्रातः सूर्योदय के साथ ही जब राजा बिम्बसार की मूर्छा भंग हुई तो उन्हें विदित हुआ कि वह इस समय अपने वैभवशाली राज प्रासाद की विलास सामग्रियों युक्त किसी कक्ष में नहीं वरन् तप्त कारागार की एक काल कोठरी में हैं । परन्तु इस वस्तु-स्थिति को समझने के पश्चात् भी वह लेशमात्र को विचलित नहीं हुए । इस वृद्धावस्था में भी उनके स्वस्थ मुख पर ओजपूर्ण, स्वर्णिम कांति व्याप्त थी; नियति के इस क्रूर प्रहार के पश्चात् भी जैसे वह अक्षुण्ण ही बनी रही ।

मूर्छा भंग होने के पश्चात् भी वह कुछ क्षणों तक कोठरी में पड़े एक शिला-खंड पर ही शान्त भाव से बैठे रहे । फिर सहसा जैसे उन्हें कुछ ध्यान हो आया, और वह शिलाखंड से उठ कोठरी के एक मात्र वातायन की ओर बढ़ लिए । उनके शिथिल पैरों में गति का संचार हो उठा । मुख पर मनस्तोष का भाव छा गया ; किन्तु नेत्र जैसे कुछ देखने को लालायित हो उठे । वातायन के निकट पहुँच वह अपने पंजों के बल उचक कर खड़े हो गए। फिर वातायन में से झाँकते हुए, मस्तक नत कर कर-बद्ध हो सोल्लास अपने ही से कह उठे—'बिम्बसार देखा तूने, तथागत गृध्रकूट पर्वत पर आज इस समय भी चारिका-व्यस्त हैं, वह इसलिए चारिका व्यस्त हैं कि उनका एक उपासक कहीं दर्शनों से वंचित न रह जाए । धन्य है, महाप्रभो ।'

उनका कण्ठ गद्-गद् हो गया और अंग-प्रत्यंग में आनंदोच्छवास का भाव त्वरित हो उठा । उनके मुख पर भी प्रफुल्लता का प्रगाढ़ भाव फैल गया। कुछ क्षणों के पश्चात् वह उसी ओर दृष्टि केन्द्रित रख, पुनः बोल उठे—"भगवान् विश्वास रखो, मैं किंचित भी विचलित नही हुआ हूँ । केवल शारीरिक बल पर गर्व करने वाले......"

बन्दी सम्राट् के मुख की कोई बात कोठरी के खुलते द्वार कपाटों की आर्तनाद-पूर्ण ध्वनि को सुन जैसे स्वतः रुक गई । किन्तु सम्राट् ने उस ओर देखे बिना ही क्षणेक रुकने के पश्चात् पुनः कहना प्रारम्भ किया—"भगवान तथागत ! किसी दिन मैंने भी अपने इस शारीरिक बल पर अभिमान किया था ; विजयोन्मत्त वाहिनियों को देख वक्ष फूल उठा था और साम्राज्य विस्तार की महत्त्वाकाँक्षा से..."

बन्दी सम्राट् के मुख से निकलते शब्दों की ध्वनि इस बार जैसे तीव्र पदाघातों की कर्कशपूर्ण थपथपाहट में विलीन हो रही । किन्तु इस पर वह किंचित भी विचलित नहीं हुए; पूर्ववत् ध्यानस्थ रह गृध्रकूट पर्वत शिखर पर चारिका-व्यस्त तथागत की दिव्य देह को निहारते रहे । सूर्य की प्रखरतर होती रश्मियों से जैसे उनकी देह का कुंदन वर्ण और प्रदीप्त हो उठा । उनके मुख सौम्य को देख बन्दी सम्राट् इस बार गद्-गद् कण्ठ से कह उठे—"तथागत ! आपके दर्शन कर मैं सचमुच धन्य हो गया हूँ ।"

आगतुक युवक जैसे इस बार अत्यन्त व्यग्रता के साथ अपने पैरों को थपथपा उठा । उसने घुटनों तक ऊंचे पदस्त्राण पहन रखे थे, और बाम ओर एक लम्बा खड्ग लटक रहा था । उसके मुख पर व्यग्रता तो व्याप्त थी ही, पर साथ ही उसमें से प्रति-शोध का भाव भी अपने उग्रतम रूप में प्रतिबिम्बित हो, उसकी समस्त मुख मुद्रा को

कठोर बनाये हुए था। उसके पैरों की थपथपाहट जब इस बार भी सम्राट् का ध्यान आकृष्ट करने में असफल रही तो उसके कठोर मुख पर सहसा पराभव की खिन्नता-सी फैल गई। उसे आज जैसे अपने जीवन में प्रथम बार यह बोध हुआ कि एक विवश निःशस्त्र बन्दी व्यक्ति भी यदि चाहे तो अपने दृढ निश्चय और उपेक्षा भाव से किसी समर्थ, विजयोन्मत्त व्यक्ति को पराजय का अनुभव करा सकता है। उसे अपने में एक दुर्बलता का अनुभव हो उठा। परन्तु साथ ही अपने अंतर मे बैठी किसी क्रूरात्मा की प्रेरणा से वह तुरन्त सावधान भी हो रहा। फिर भी उसका कण्ठ स्वर कुछ-कुछ भर्राता-सा रहा। बोला—"महाराज, क्यों क्या आप मौन ही रहेंगे ?"

इस बार सम्राट् बिम्बसार ने सिंह-शीर्ष सदृश दीखने वाली मुखाकृति को तनिक घुमाया। फिर सर्वथा अविचलित भाव से आगे बढ आगतुक के सम्मुख आकर खड़े हो गए। आगंतुक उनकी इस अविचलित मुख आभा के सम्मुख अपनी दृष्टि ऊपर उठाने का जैसे साहस भी न कर सका। दृष्टि नत किए ही खडा रहा। उसके राज-कुलोचित तेजस्वी स्वरूप पर विषाद की एक गहरी रेखा उभर आई ; और वह जैसे उसे छिपाने का निष्फल प्रयास करता रह गया। अन्त में सम्राट् ने अपना मौन भंग किया। बोले—"राजपुत्र, दीर्घावधि से इस महाराज सम्बोधन को सुनते-सुनते उसके प्रति अरुचि हो गई थी, और अब उससे ऊबने-सा लगा था। किन्तु देवयोग से आज एक आत्मज की कृपा से यह अवसर प्राप्त हो सका है कि कोई मुझे 'अरे ओ बिम्ब-सार' तो कह पुकार सके। फिर, वत्स ! किसी अपराधी को, वह भी एक ऐसे जघन्य अपराधी को, जिसे तप्त कारागार की काल कोठरी की यातना का भोगी बनना पड़ा हो, महाराज सदृश सुप्रतिष्ठापूर्ण शब्द से सम्बोधित करना उचित भी तो नहीं। यह शब्द तो अब किसी और को ही, किसी और को क्यो, केवल तुम्हें ही शोभा दे सकता है।"

यह कह सम्राट बिम्बसार शिलाखड पर बैठ गए। बोले—"क्षमा करना, वृद्ध हूँ इसलिए आपके सम्मुख बैठने की यह धृष्टता कर बैठा हूँ।"

आगंतुक इतना कुछ सुनकर भी मौन खड़ा रहा। उसे मौन देख सम्राट की दृष्टि उसके मुख पर केन्द्रित हो रही। जब आगंतुक युवक पर्याप्त समय तक भी कुछ न बोल सका तो सम्राट पुनः कुछ आत्मीयता के से कण्ठ स्वर में बोले—"कुमार कोणिक, कदाचित् तुम कुछ कह रहे थे ; यही तो पूछ रहे थे न, कि मैं मौन क्यों हूँ ! किन्तु मैं मौन तो नहीं। अरे हाँ, मैं भूल गया, उस समय में अवश्य ही मौन था। परन्तु पुत्रवर, विश्वास रखो मैं किसी आत्मग्लानि अथवा पश्चाताप अथवा क्षोभ के कारण मौन नहीं था वरन् अपने आराध्य देव तथागत भगवान को करबद्ध हो प्रणाम कर रहा था। अहा, क्या ही भव्य मूर्ति है वह ! वत्स, यदि तुमने कभी भूले भटके भी उस आराध्य के सौम्य स्वरूप का सान्निध्य प्राप्त कर लिया होता तो तुम्हारे सम्मुख अवश्य ही एक महान् रहस्य का उद्घाटन हो जाता। कोणिक, तुम अवश्य ही अनुभव करते कि जिस महत्वाकांक्षा के वशीभूत हो आज तुम उसके पीछे-पीछे भाग रहे हो वह मात्र मृग-तृष्णा है ; और कुछ भी तो नहीं।"

सम्राट् बिम्बसार के मुख से इस बार यह सुन आगंतुक का मौन भी भंग हुआ। किंतु कुछ कहे, उससे पूर्व ही उसके मुख पर भावावेश की सी लालिमा उभर

आई। बोला—"परन्तु महाराज, तथागत का यह मार्ग किसी राजपुत्र के लिए भला किस प्रकार श्रेयस्कर हो सकता है ? वह तो जीवन से पलायन है, कर्तव्य की घोर उपेक्षा है तथा समाज के प्रति दायित्वहीनता का परिचायक है। महाराज तनिक यह भी तो सोचें कि यदि सभी युवराज अपने-अपने राज्य का त्याग कर उस शाक्यपुत्र के संघ में सम्मिलित हो जाएं तो माता वसुधरा के इस प्रसाद—शासन भार—को कौन वहन करेगा ?"

कुमार कोणिक के इस प्रश्न को सुन सम्राट् तत्परता के साथ शिलाखंड से उठ खड़े हुए। फिर, कोठरी की सीमित परिधि में ही चारिका करते हुए वह जैसे अपने विचारों को शृंखला बद्ध करने में व्यस्त हो गए।

इस मध्य उस कोठरी में मौन छाया रहा।

कुछ क्षण पश्चात् उस मौन को सहसा भंग कर सम्राट् एक दीर्घ श्वास बाहर छोड़ते हुए बोले—"कुमार कोणिक, यह प्रश्न उतना जटिल नही जितना तुम समझ बैठे हो। वैशाली गणराज्य ही को क्यों न लो, वहाँ के सभी प्रजाजन समान रूप से ही तो शासन का भार वहन करते हैं। उसकी व्यवस्था मगध से किसी भी प्रकार हीन नही, बल्कि अधिक शक्तिशाली ही है। यही दशा मल्ल गण राज्य की भी है. इन दोनों को छोडो, स्वय तथागत के संघ को ही क्यों नहीं लेते, वहा किसी का भी कोई शासन नही परन्तु सभी अनुशासन बद्ध हैं। क्यों, क्या इस अभिनव प्रयोग को हम अपने निज के जीवन में भी नही उतार सकते ? फिर कोई एकाकी व्यक्ति शासन को चला भी तो नहीं सकता। उसको सभी के सहयोग की आवश्यकता होती है। यहाँ तक कि उन प्रजाजनों के सहयोग की भी, जो राज्य की शक्ति के सम्मुख नितान्त निरीह होते हैं। जो यह समझता है कि उस सारे शासन का भार मैं एकाकी वहन कर रहा हूँ, उसका वह केवल भ्रम है और साथ ही दम्भ भी।"

कुमार कोणिक को सम्राट् का यह तर्क सर्वथा असंगत प्रतीत हुआ। वह तत्परता से बोल उठा—"परन्तु महाराज यह अभिनव प्रयोग समय के प्रवाह के सर्वथा प्रतिकूल होगा। आज इस देश को एक अखण्ड एवं एकच्छत्र राज्य की आवश्यकता है, और उसके लिए कोई चक्रवर्ती सम्राट् चाहिए।"

सम्राट् बिम्बसार भी तत्परता से बोल उठे—"और उसकी आवश्यकता पूरी भी हो गई, क्यों कुमार कोणिक ? यही न ?" यह कह, वह एक ठहाका दे हँस पड़े। फिर सहसा हँसी को रोक गभीर हो बोले—"परन्तु कुमार, यह तुम्हारी नहीं उस ब्राह्मण पुत्र वर्षकार की महत्त्वाकाक्षा है या फिर उस क्षत्रिय पुत्र देवदत्त की, जो तथागत के संघ को नष्ट-भ्रष्ट कर उसकी महंताई के स्वप्न देख रहा है। परन्तु कुमार कोणिक, क्या तुमने कभी यह सोचा है कि इस सारे प्रपच जाल में तुम्हारा निज का क्या अस्तित्व है ? क्या तुम उस ब्राह्मण पुत्र और इस छत्रिय कुमार के हाथों के दास नहीं ? वे तुम्हे एक कठपुतली की भांति जिधर जैसा चाहते हैं, नचा देते हैं और तुम भी सहर्ष, सहर्ष क्यों गर्व के साथ नाच रहे हो। फिर, उस पर तुम्हारा यह दम्भ है कि जैसे तुम्हीं इस सारे प्रपंच में सर्व शक्तिमान हो। कितना थोथा दम्भ है यह !" यह कह, सम्राट् बिम्बसार पुनः एक ठहाका दे हँस पड़े। उनके ठहाके से

बंदी गृह का वह एकान्त-कक्ष गूंज उठा। कुमार कोणिक इस समय अपने को कुछ अपमानित हुआ अनुभव कर रहा था, अतः उसके मुख पर उत्तेजना उभर आई। केवल यही नहीं, सम्राट् बिम्बसार के मुख से निकली एक-एक बात उसके अन्तस्तल को बुरी तरह कचोट उठी। तो भी प्रकट में उसने सर्वथा शांत रहने का प्रयास किया। वास्तव में यहाँ आने से पूर्व वह भावावेश में कई बार उग्र रूप धारण कर चुका था। यह देख, मगध अमात्य वर्षकार ने उसे एक परामर्श दिया था; और वह परामर्श था कि तुम बंदी सम्रा के पासट् अपना अभिप्राय सिद्ध करने जा रहे हो न कि उनकी हत्या के लिए। वह तुम्हें निश्चय ही उत्तेजित करेंगे, परन्तु देखो, किसी भी स्थिति में इस समय उनकी हत्या करना केवल संकट को आमंत्रण देना है। अतएव उसने अमात्य वर्षकार के परामर्श पर मन ही मन मनन कर, इस समय केवल अपना अभिप्राय प्रगट करना ही उचित समझा। अधिकारोचित कण्ठ स्वर में उसने सम्राट् के सम्मुख अपना प्रस्ताव प्रस्तुत करते हुए कहा—"महाराज, मगधराज का ज्येष्ठ पुत्र होने के नाते मैं युवराज पद का अधिकारी हूँ। यदि आप मगध साम्राज्य के सम्राट् पद पर मुझे आसीन करना स्वीकार कर लें तो आपको इस बदीगृह की यातनाओं से मुक्त कर मुझे अतिशय प्रसन्नता होगी।"

"परन्तु मगध के राज सिंहासन पर किसे आसीन करना है, यह निश्चय करना तो मेरा अधिकार नहीं कुमार।" सम्राट ने तत्परता से उत्तर दे, जैसे उसका कोई भ्रम निवारण करने का प्रयत्न किया हो। इस पर कुमार कोणिक भी वैसी ही तत्परता से बोला—"यदि यह अधिकार महाराज का नहीं तो और फिर किसका है ?"

"कुमार, वह निश्चित ही तुम्हारा भ्रम है। यह अधिकार महाराज का नहीं वरन् सभासदों का है। मुझे सभासदों को उनके इस पुनीत अधिकार से वंचित करने का कोई अधिकार नहीं; और यदि मैं ऐसा करता हूँ तो वह अपने गौरवशाली पद का सर्वथा दुरुपयोग ही होगा। यह मगध राज की केवल स्वेच्छाचारिता होगी।" यह कह सम्राट् बिम्बसार तनिक रुके, और फिर एक दीर्घ निश्वास छोड़ बोले—"और कुमार कोणिक, अधिकाश सभासद कुमार सिलव को इस पद पर आसीन करना चाहते हैं।"

सम्राट् के मुख से यह सुन कुमार कोणिक पुनः भारी अपमान का अनुभव कर उठा। किंतु शीघ्र ही वह जैसे गर्व का अनुभव कर, बोला—"परन्तु कुमार सिलव तो अब नही रहे, महाराज।"

कुमार कोणिक के मुख से यह सम्वाद सुन महाराज मानों स्तब्ध रह गये। तथापि प्रकट मे प्रकृतिस्थ रह उन्होंने सरोष दृढ कण्ठ से प्रश्न किया—"क्यों, तो क्या वह भी तुम्हारे इन क्रूर हाथों का आखेट बन चुका है ?"

वृद्ध सम्राट् के मुख पर निराशा एव उत्तेजना का भाव एक साथ फैल उठा। किन्तु कुमार कोणिक के मुख पर छाया हुआ गर्व का भाव और प्रगाढ़ हो उठा; नेत्रो में जैसे विजयोन्माद छलक आया। मानों, साभिनय नत मस्तक हो बोला—'आखेट बन ही रहा था कि इसी मध्य मोग्गलायन ने आकर उसकी रक्षा कर ली, महाराज। और, मोग्गलायन के इस उपकार स्वरूप वह सद्धर्म में दीक्षित भी हो चुका है।"

यह सुन, राजा बिम्बसार कुछ समय तक मौन ही खड़े रहे। कुमार कोणिक भी कुछ समय तक मौन रहने के बाद पुनः बोला—"और महाराज, कुमार हल्ल-विहल्ल सेचनक गजराज को ले वैशाली के लिए भाग खड़े हुए है; और कुमार नंदिसेन तो आपके सम्मुख पहले ही निर्गंथ धर्म के अनुयायी हो चुके थे। और रहा वह गणिका पुत्र अभय, वह भी आम्रपाली समेत भिक्षु संघ को आया हुआ देख, गौतम पुत्र का अनुयायी हो गया है महाराज।"

कुमार कोणिक के मुख से अभय के सम्बन्ध में गणिका पुत्र का सम्बोधन सुन क्रोध से सम्राट् का रक्त खौल उठा तथा भृकुटी तन गई। उस बंदी रूप में होकर भी उनका मुख क्रोधातिरेक से तमतमा उठा। तत्पश्चात् वह दृढ़ कण्ठ स्वर में बोले—"कुमार, मैं इतना जानता था कि तुम क्रूर हो, ढीठ हो यह भी मैंने उस दिन समझ लिया था जिस दिन तुम मध्यान्ह में विश्राम कक्ष मे मेरी हत्या करने के प्रयास से आए थे। तो भी, मैंने तुम्हें अपनी उदारता वश राजगृह को छोड़ समूचे राज्य का स्वामी बना दिया था। फिर भी तुम संतुष्ट नही हुए, और लिप्सा के पीछे-पीछे भागते रहे। तुमने आज उसके उपकार स्वरूप स्वयं मुझे ही इस कारागार में डाल दिया है, और अब मेरे ही सम्मुख तुम एक राजपुत्र की माता को, जो तुम्हारे लिए भी माता तुल्य है, गणिका कह कर पुकार रहे हो। कुमार कोणिक, तुम्हारे इस शील को धिक्कार है।"

यह कहते हुए सम्राट् के नेत्र आग्नेय हो उठे; और ओष्ठ फड़फड़ाते रह गए। परन्तु कुमार कोणिक ने इस धिक्कार पर न तो लज्जा का अनुभव किया और न ही वह उत्तेजित हुआ बल्कि एक उपहास की अथवा विजयोन्माद की हंसी हंस उठा, जिससे एक बारगी वह सारी कोठरी प्रकम्पित हो उठी। सहसा हंसी को रोक वह सावेश बोला—"महाराज, यहाँ मैं प्रताड़ना के लिए नही, बल्कि राज्य सिंहासन के लिए आया हूँ; मुझे राज्य चाहिए।"

राजा बिम्बसार उत्तर में न केवल मौन हो रहे बल्कि अपना शीर्ष भी नत कर लिया। कुमार कोणिक भी बाहर जाने के लिए उद्यत हो उठा। परन्तु जाते-जाते वह क्षणेक रुक फिर बोल उठा—"महाराज अभी भी समय है, आप अपना विचार बदल लें। यह कह उसने लालायित दृष्टि से उनकी ओर देखा। परन्तु महाराज शिला-खंड पर नत दृष्टि किए ही मौन हुए बैठे रहे। उनको इस प्रकार मौन रहे देख जैसे कुमार कोणिक किसी भारी दुविधा में उलझ गया। किन्तु उसके मुख पर यह दुविधा भाव अधिक समय तक न टिक सका। वास्तव में, उसकी मुखाकृति कठोरतम हो उठा।

अठारह

इस समय तक कुछ भी नहीं तो पूर्वाह्न का कोई डेढ़ प्रहर बीत चुका होगा।

परन्तु, राजगृह के उत्तर द्वार के बाम ओर वाले एक विस्तृत सघन आम्र-कुंज में अभी भी अमावस्या की रात्रि का सा गहन तिमिर व्याप्त है। सर्वथा निर्जन प्रतीत होते इस आम्रकुंज में किसी एकाकी व्यक्ति का जाना कोई कम साहस की बात नहीं थी। तो भी इस समय वहाँ विशाल वृक्षों की ओट में पड़े एक शिलाखड पर कोई व्यक्ति विद्यमान है, और वह एकाकी व्यक्ति अत्यन्त व्यग्र भाव से किसी की प्रतीक्षा करता प्रतीत हो रहा है। वयस की दृष्टि से उसकी प्रौढ़ावस्था भी संभवत: अवसान बेला में है। परन्तु जैसे आयु की इस दीर्घावधि ने उसकी सुगठित देह पर कठोर प्रहार करने के पश्चात् भी अपने विशेष चिन्ह नही छोड़े। इसका विस्तृत ललाट सघन कुज के इस अन्धकार में भी देदीप्यमान है तथा उन्नत नासिका एवं ज्योतित नेत्रों युक्त उसकी मुखाकृति पर जो आभा व्याप्त है, उसे देखकर सहज ही में अनुमान लगाया जा सकता है कि वह अवश्य ही कोई राजकुलोत्पन्न है। परन्तु, उसने इस समय भिक्षु के कौषेय चीवर धारण किए हुए थे। उसके हाथ में एक भिक्षा पात्र भी था। परन्तु मुख पर याचना का विनय अथवा कोमल भाव नहीं वरन् प्रतीक्षा की व्यग्रता थी और उस पर यदा कदा अन्तर में से उठा कोई कठोर भाव सहज ही में उस पर छा उठता; और उसी के साथ उसके नेत्रों में एक महत्वाकांक्षी के स्वप्न का सा स्वरूप भी प्रतिबिम्बित हो उठता। कुल मिलाकर उसके मन की गति इस समय अति चंचल थी; और मुख पर दुर्भाव स्पष्ट झलक रहा था।

जब वह प्रतीक्षा करते-करते अत्यन्त अधीर हो उठा तो वह शिलाखंड पर से उठ उसी के पार्श्वक्षेत्र में चारिका में तल्लीन हो गया। परन्तु उसकी दृष्टि अब भी कुज के मार्ग पर स्थिर थी; और जैसे-जैसे समय बीतता जा रहा था, वैसे-वैसे ही उसकी चारिका की गति भी उग्र होती जा रही थी। मानों, इस चारिका में बीतता प्रति क्षण उसे एक प्रहर के समान प्रतीत हो रहा था।

समय की गति के इस माप-दंड के अनुसार जब पर्याप्त समय व्यतीत हो गया तो अन्त में उसके कानों मे उसी ओर दौड़ते आ रहे एक अश्व की पदचाप की ध्वनि आ टकराई। उसे सुन, उसके मुख पर छाया नैराश्य भाव लुप्त हो गया और सहसा प्रफुल्लता से खिल उठा। परन्तु अगले ही क्षण उसके नेत्रों में अन्तर का सन्देह भाव सिमट आया तथा उसी के साथ वह तत्परता से निकट ही खड़े एक विशालकाय वृक्ष की ओट में खड़ा हो गया। फिर अत्यन्त सावधान हो, उसी ओर देखने लगा।

अश्वारोही इस समय तक उसके अत्यन्त समीप आ चुका था। उसे देख, उसके प्रतीक्षा व्यस्त मुख पर किंचित क्रोध का भाव उभर आया परन्तु शीघ्र ही वह स्वागत की मुस्कान में भी परिणत हो उठा।

प्रतीक्षातुर कौषेय चीवर धारी व्यक्ति भिक्षु देवदत्त के अतिरिक्त कोई अन्य नही था तथा आगंतुक अश्वारोही स्वयं कुमार कोणिक ही था। कुमार कोणिक की मुख-मुद्रा इस समय अत्यन्त व्यस्त प्रतीत हुई। उस पर कुछ-कुछ चिन्ता एवं दुविधा का सा मिश्रित भाव भी अवश्य झलक रहा था। उसका यह मुख-भाव देवदत्त की गूढ़ दृष्टि से छिपा नही रह सका। यह देख वह शंकित हो उठा और एक बारगी अन्तस्तल में निराशा भी छा गई। व्यग्र कण्ठस्वर में पूछने लगा—"क्यों कुमार, सब सकुशल तो हैं? सारा कार्य योजनाबद्ध तो चल रहा है न? कहीं कुछ व्याघात तो नही? सम्राट् के बन्दी बना लिए जाने पर तो अब अपना मार्ग प्रशस्त हुआ ही समझो। फिर भला मुख पर यह चिन्ता क्यों?" वह यह सब कुछ एक साँस मे ही कह गया। उसकी सशंक दृष्टि कुमार कोणिक के मुख पर जा टिकी।

इस समय तक कुमार के मुख से चिन्ता का भाव लुप्त हो चुका था। परन्तु, साथ ही मन की किसी भारी दुविधा ने उसका स्थान ले लिया। देवदत्त की दृष्टि से यह भी छिपा नहीं रह सका। परन्तु वह मौन रह, केवल उत्तर की प्रतीक्षा करता रहा।

कुमार कोणिक उत्तर में कुछ कहने के लिए उद्यत हुआ, परन्तु साथ ही मानों किसी के कड़े आदेश ने उसे बलात् रोक दिया। अतएव प्रवाह को बदलते हुए उसने तत्क्षण स्वयं ही देवदत्त से कोई प्रश्न करना उचित समझा। बोला—"आर्य, संघ में देवी आम्रपाली पहले से ही उपस्थित थीं, और अब उसका पुत्र कुमार अभय भी वहाँ पहुँच चुका है। अतएव, यदि उस ओर से किसी भी क्षण कोई संकट उपस्थित हो उठे तो आश्चर्य की बात नही होगी।" यह कहते हुए उसने अपनी दृष्टि तनिक ऊपर उठाई। उसने देखा, देवदत्त के मुख पर हल्की-सी मुस्कान उभर आई है, जिसमें कुटि-लता का कर्कश भाव स्पष्ट दीख रहा था। यह देख उसका हृदय व्यग्र हुए बिना न रहा। मन ही मन बोला—'कोणिक, जिस कार्य को तूने अत्यन्त सरल समझा था वह तो सचमुच उतना ही जटिल निकला।' और उसी के साथ, उसके मन में मगध राज द्वारा कही गई बात प्रतिध्वनित हो उठी। उसे स्पष्ट अनुभव हुआ कि इस समय वह वास्तव में ही अमात्य वर्षकार एवं भिक्षु देवदत्त के हाथो की कठपुतली बना हुआ है। अतएव उसे अपने निज के प्रति आत्म ग्लानि का सा अनुभव हुआ, परन्तु साथ ही उसने देखा कि वह इस समय ऐसी स्थिति में पहुँच चुका है, जिससे पीछे हटना और भी सकटपूर्ण है। परन्तु वर्षकार के आदेश इस समय उसे आगे बढ़ने से भी रोके हुए थे। कदाचित्, इसी कारण उसकी मनःस्थिति अधिकाधिक दुविधापूण होती जा रही थी। अतः अन्तर में प्रवाहित इन द्वन्द्वपूर्ण विचारों के साथ उसके मुख की दुविधा और प्रगाढ़ हो उठी। भिक्षु देवदत्त की गूढ दृष्टि कुमार कोणिक के मन में क्षण-क्षण के अन्तर से उठते हुए प्रत्येक भाव को भली भाँति ताड़ रही थी। अपने मुख के कुटिल भाव को अन्तर में समेट, गम्भीर हो, वह बोला—"आयुष्मान्, संघ की ओर से होने वाले किसी भी

व्याघात के समूल उन्मूलन की ओर से तुम पूर्णतः आश्वस्त रहो। परन्तु वास्तविक बाधा तो स्वयं मन की दुविधा है, अन्यथा सिंहासन आरूढ होने की दिशा में भला इससे श्रेयस्कर प्रशस्त मार्ग तुम्हे अब और क्या मिल सकेगा ? सिंहासन के सभी उत्तराधिकारियों में से एक-एक को चुन तुम मार्ग से हटा चुके हो और उधर मगध राज को भी...।" भिक्षु देवदत्त कुछ आगे कहा ही चाहता था कि इसी मध्य कुमार कोणिक ने मुख पर अंगुली रख, शी···ई···करते हुए उसे रोक दिया और सशंक दृष्टि से इधर-उधर देखते हुए वह बोला—"आर्य यह न भूले कि ये वृक्ष के पत्ते नहीं बल्कि शत्रुओं के कान हैं तथा उनके मध्य से बहता हुआ वायु का हलका-सा झोका भी हमारे मुख से निकला प्रत्येक शब्द कहीं से कहीं पहुँचा सकता है।" तनिक रुक, इस बार नत मस्तक हो वह पुनः बोला—"भन्ते ! अमात्य वर्षकार का कहना है कि अभी इस समाचार को लक्ष्य भेदन तक सर्वथा गोपनीय ही रखना है।"

कुमार कोणिक का कथन अभी समाप्त भी नहीं हुआ था कि इसी मध्य वह सघन कुंज एक निर्द्वन्द्व हँसी के ठहाके से गूंज उठा; उसे सुन वृक्ष पल्लव जैसे काँपते रह गए। यह ठहाका किसी अन्य का नहीं बल्कि स्वयं भिक्षु देवदत्त का ही था, जिससे एक बार को क्रूर स्वभावी कुमार कोणिक का हृदय भी आतंकित हो, सहम कर रह गया। परन्तु अपनी इस दुर्बलता पर उसे स्वयं लज्जा का अनुभव हुआ। हँसते समय भिक्षु देवदत्त की मुखाकृति पर वास्तव में कुछ ऐसी वीभत्सता आ गई थी, जिससे किसी का भी भयभीत हो उठना स्वाभाविक था। सहसा हँसी को रोक देवदत्त ने दृढ़ स्वर में कहा—"आयुष्मान्, तुम इस समय कुमार कोणिक नहीं वरन् मगधपति हो। यह सारा राज्य तुम्हारा है। इस राज्य के सभी प्रजाजन तुम्हारे सेवक हैं और अमात्य वर्षकार भी तुम्हारा केवल एक दास है। क्षत्रिय पुत्र, तुम्हें उसके आदेश पर नहीं चलना बल्कि उसे तुम्हारी आज्ञा का पालन करना है। किन्तु, उसके विपरीत मैं देख क्या रहा हूँ आयुष्मान्, कि तुम इस निर्जन आम्रकुंज के पल्लवों को भी सदिग्ध दृष्टि से देख रहे हो। यहाँ कोई भी तो सुनने वाला नहीं, किन्तु तुम फिर भी भयभीत हो, और अपने मन की दुविधा को भी प्रकट करने में संकोच का अनुभव कर रहे हो। क्यों? क्योंकि मुझ पर विश्वास जो नहीं। क्यों आयुष्मान्, मैंने ठीक कहा न ?" यह कह, वह पुनः एक उच्च ठहाका दे हँस उठा।

देवदत्त ने कुछ भी असत्य नहीं कहा था, तो भी उसके मुख से यह सुन कुमार कोणिक मन ही मन व्याकुल हो उठा। अंतस्तल भय से सिहर गया। नत मस्तक हो बोला—"आर्य, विश्वास रखें ऐसी कोई बात नहीं है। परन्तु राजगृह की इस समय जो स्थिति है, उसमें यह सावधानी अनिवार्य ही है। राजगृह में यूँ इस समय सर्वथा मौन है और सर्वत्र शान्ति है ; परन्तु यह शान्ति किसी भयंकर तूफान की भूमिका भी तो हो सकती है। उसने एक बार करवट बदली नही कि आर्य, फिर निश्चय मानिये, इस भयंकर तूफान के चलने वाले प्रबल झोकों के सामने हम सभी का टिकना असम्भव हो जाएगा। भन्ते, एक-एक कर सभी राजकुमार अवश्य चले गए हैं ; परन्तु किसी को क्या विदित कि वे सभी किसी षड्यंत्र के ताने-बाने में ही व्यस्त हों। हल्ल-विहल्ल का वैशाली की ओर पलायन अवश्य ही किसी न किसी भयंकर संकट का रूप ग्रहण करेगा।

मगधराज के बंदी बना लिए जाने का संकेत यदि हल्ल-विहल्ल को मिल गया, तो फिर, यह समझे रहना कि वैशाली चुप बैठी रहेगी, नितान्त मूर्खता होगी। मगध पर गृद्ध दृष्टि लगाए चंड प्रद्योत ही कैसे इस अवसर को हाथ से जाने देगा और कोशल नरेश भी भला कैसे हाथ पर हाथ रखे बैठा रहेगा। हमें अवश्य ही सब ओर से सावधान रहना होगा, अन्यथा यह प्रमाद होगा; और अपने इस प्रमाद के बदले में हमें न जाने क्या मूल्य चुकाना पड़ जाए। और फिर भन्ते, जीवक कुमार भृत्य भी तो एक राजकुमार ही है! आर्य, आप कदाचित इस तथ्य को भूल रहे हैं। केवल सभासदों में ही नहीं, इतर जनों में भी वह कितना लोक प्रिय है, यह तथ्य भी किसी से छिपा नहीं है। आर्य, सभी राजा उसके चिकित्सा-कौशल से उपकृत हैं। केवल उसके इंगित मात्र पर एक नहीं, अनेक वाहिनियाँ मगध पर अभियान कर हमारी इस सारी योजना को निष्फल कर सकती हैं और हमारे महाबलाधिकृत सुनीधि का भी तो अभी कोई निश्चित मत प्रगट नहीं हो सका है। उसके सभी आश्वासन, कौन जाने, अन्त में केवल प्रपंचमात्र ही सिद्ध हों; जैसे अब वह किसी अवसर की घात में बैठे हों। कौन जाने, वह भी इस समय जीवक कुमारभृत्य के अवन्ति से लौटने की ही प्रतीक्षा में हो।" कहते-कहते वह सहसा रुका और फिर सचेष्ट दृष्टि से उसने चारों ओर देखा। इसी मध्य भिक्षु देवदत्त ने तनिक आश्चर्य का भाव प्रगट करते हुए कहा—"आयुष्मान्, जीवक कुमार भृत्य भी एक राजपुत्र है, यह तथ्य तो सचमुच आज मेरे सम्मुख सर्वथा नया ही है। परन्तु कैसे?"

कुमार कोणिक ने उत्तर में बताया—"आर्य, यह तथ्य मुझे भी अभी-अभी विदित हुआ है। मगध राज के अतिरिक्त केवल दो ही व्यक्ति ऐसे हैं जिन्हें यह तथ्य विदित है। उनमें से एक तो स्वयं अमात्य वर्षकार हैं, तथा दूसरे महाबलाधिकृत सुनीधि। भन्ते! कूड़े के ढेर पर आम्रपाली के पुत्र अभय को जो एक दिन अनायास ही एक नवजात शिशु मिला था वह राजनर्तकी सालवती का पुत्र था। तब उसने अपने कौमार्य को अक्षुण्ण घोषित रखने के लिए ऐसा किया था, परन्तु उसके पश्चात् जब उसके मन में भी महत्त्वाकांक्षा बलवती हुई तो उसने यह तथ्य मगधराज के सम्मुख प्रकट कर दिया, जो मगधराज को भी स्वीकार करना पडा। फिर, जीवक कुमार भृत्य कुमार अभय के प्रति कितना कृतज्ञ है, यह तो सर्व विदित ही है। अतएव जब वह यह सुनेगा कि कुमार अभय कोणिक के भय से संघ में प्रविष्ट हुआ है तो आप समझ सकते हैं कि स्थिति कितनी भयावह बन सकती है। फिर उधर, हल्ल-विहल्ल भी तो अभय का साथ देने के लिए तैयार थे। यह कहते हुए उसने समस्याओं के भार से दबे दबे किंचित निराश दृष्टि से भिक्षु देवदत्त की ओर देखा। भिक्षु देवदत्त की मुखाकृति इस समय अत्यन्त गम्भीर हो उठी तथा नेत्र दृष्टि जैसे समस्या के समाधान के लिए शून्य में कुछ टटोलती हुई सी उसी में दत्तचित हो रही। अन्ततः एक दीर्घ निश्वास के साथ उसके मुख से एक गम्भीर हुँकार फूट निकली। कुछ सोचता हुआ-सा बोला—"क्यों आयुष्मान्, अमात्य वर्षकार को जब यह भेद पहले ही से विदित था तो फिर उन्होंने यह केवल आज ही क्यों प्रगट किया?"

कुमार कोणिक उसके इस प्रश्न का उत्तर देने को उद्यत ही हुआ था कि इसी

मध्य कुंज में कहीं, निकट ही में हुई पत्तों की खड़खड़ाहट से दोनों चौक से उठे। सतर्क दृष्टि से उन्होंने उस ओर देखा तो दोनों ही के विस्मय की सीमा न रही। स्वयं वर्षकार अपने मुख पर कुटिल हास्य लिए इधर आ रहा था। किसी प्रत्यक्ष मार्ग से उसे आया हुआ न देख, उन्हें ऐसा प्रतीत हुआ कि जैसे वह भूगर्भ में से प्रगट हुआ हो। परन्तु गुप्त मार्ग से आ वह कब से उनकी बातें सुन रहा है, इस आशंका से उनके मन अन्दर ही अन्दर प्रकम्पित हो उठे। अमात्य वर्षकार इस मध्य उनके अत्यन्त समीप आ खड़ा हुआ। उसके मुख का कुटिल हास्य भी इस समय तक और प्रगाढ़ हो चुका था। उसने पहले, जैसे साशय दृष्टि से कुमार कोणिक की ओर देखा, तथा फिर अपनी दृष्टि भिक्षु देवदत्त पर केन्द्रित करते हुए कहा—"भन्ते ! राजनीति के दाव-पेंच इतने सहज नहीं कि उन्हें जब चाहो जिसके सम्मुख प्रगट कर दो। रहस्य का दूसरा नाम ही राजनीति है एवं प्रतीक्षा उसका सबसे बड़ा शस्त्र है।" यह कहते हुए उसने अपनी दृष्टि फिर कुमार कोणिक की ओर फेरी तथा क्षणेक मौन के पश्चात् बोला—"कुमार कोणिक, तुम्हे अभी तत्काल वैशाली की ओर प्रस्थान करना होगा।"

अमात्य वर्षकार के मुख से सहसा यह निश्चय सुन कुमार कोणिक को तो आश्चर्य हुआ ही, परन्तु भिक्षु देवदत्त के मुख पर तो भारी निराशा ही छा गई। वास्तव में देवदत्त तो भयभीत हो उठा। उसे लगा कि कुमार कोणिक की अनुपस्थिति में तो वह एकदम असहाय हो जाएगा, अतएव उसने अत्यन्त करुण भाव से कुमार कोणिक की ओर देखा। कुमार कोणिक भला क्या आश्वासन देता, वह स्वयं इस समय दुविधा में पड़ा हुआ था। उसी दुविधा के निराकरण की आशा ने उसने अमात्य की ओर देखा। फिर बोला—"क्या, ऐसे ही एकाकी आर्य।"

अमात्य वर्षकार ने तनिक हँसते हुए उत्तर दिया—"नही कुमार, भला यह कैसे सम्भव है। मगध के भावी सम्राट् के साथ पूरी चार वाहिनियों का सैन्य बल होगा।" यह कह वह तनिक रुका। फिर जैसे कुछ सोच बोला—"तुम्हारे सिंह पाद सैनिकों मे से जिस किसी को जो भी कार्य सौपा गया है वह निर्विघ्न चलता रहेगा। उस ओर से तुम सर्वथा आश्वस्त रहो। हाँ, तुम्हें वैशाली जाकर उस गण प्रधान चेटक से केवल इतना कहना है कि वह सचेनक गजराज समेत आए अपने दौहित्रों—कुमार हल्ल-विहल्ल को वापस लौटा दे अन्यथा फिर युद्ध अनिवार्य है।"

यह सुन वे दोनों ही आतंकित से हो उठे। अमात्य वर्षकार ने जो कुछ कहा था; उसमें उसका दृढ़ निश्चय बोल रहा था तथा कही भी लेश मात्र को शिथिलता नही थी। उसने एक साथ चार-चार वाहिनियों को वैशाली की ओर अभियान करने के लिए तथा अन्ततः उसे युद्ध की चुनौती देने के लिए किस प्रकार तैयार कर लिया, इस प॰ कुमार कोणिक का आश्चर्य चकित हो उठना स्वभाविक ही था। मन ही मन वह अमात्य से एक प्रश्न पूछने के लिए उद्यत हो उठा, परन्तु उससे पूर्व ही अमात्य ने उससे कहा—'केवल ये चार ही नहीं, वरन् अन्य कई बलाधिकृत भी पूर्णतः तुम्हारे साथ हैं। अब हमें महाबलाधिकृत के रुख की कोई चिन्ता नहीं रह गई, कुमार।"

यह सुन कुमार कोणिक का मुख खिल उठा। परन्तु भिक्षु देवदत्त के मुख पर अभी भी निराशा व्याप्त थी। कुमार कोणिक वैशाली की ओर प्रस्थान करे, उससे पूव

वह भी कुछ आश्वस्त हुआ चाहता था। अतएव उसने इसी दृष्टि से उसकी ओर देखा। वह पूछने लगा—"और कुमार कोणिक, मेरी योजनाओं का क्या होगा ?"

कुमार कोणिक ने भिक्षु को उत्तर देने से पूर्व अमात्य की ओर देखा। अमात्य के पास जैसे उसका भी उत्तर तैयार था। बोला—"राजगृह, विशेषकर वर्षकार की योजनाओं में किंचित भी परिवर्तन नहीं हुआ है भन्ते ; वे सर्वथा निश्चित गति से चलती रहेंगी। आर्य का अभिप्राय भिक्षाटन के समय बुद्ध पर आक्रमण करने से ही है न ?'

भिक्षु देवदत्त ने उत्तर मे 'हाँ' स्वरूप अपना सिर हिला दिया। इस पर अमात्य वर्षकार ने कहा—"तो बस भिक्षु संघ के आने की देर है; उन्मत्त गज नीलगिरि उसके आगमन की प्रतीक्षा में आतुर है।"

यह सुन भिक्षु देवदत्त का मुख भी खिल उठा। परन्तु उसका अन्तर अभी भी क्षुब्ध था। कारण, कुमार कोणिक को इस समय वैशाली की ओर भेज अमात्य ने उसकी मुख्य योजना को जैसे विफल करने का प्रयास किया है, उसकी यह दृढ़ धारणा बन गई। अत: उसके मुख पर फिर निराशा का भाव छा उठा।

उन्नीस

प्रातः होने पर जब विहल्ल की निद्रा खुली, तो उसे देख कुछ ऐसा लगा, जैसे वह कोई दुःस्वप्न देखकर उठा हो। वह उस समय अत्यन्त घबराया-सा लगा; और जब उसने सहमी दृष्टि से अपने चारों ओर—दूर तक फैले वन-प्रदेश को देखा तो उसके मुख पर रुआंसा छा गया। हल्ल ने जब अपने अनुज की यह मनोदशा देखी तो उसका हृदय करुण क्रंदन कर उठा, और नेत्र सजल हो उठे। किन्तु उसने तत्परता से अपनी दृष्टि दूसरी ओर फेर चुपके से उत्तरीय के पल्ले से नेत्र पोंछ लिए। बाम हाथ जैसे स्वतः विहल्ल की पीठ पर पहुँच गया। अपने अनुज को इस प्रकार घबराया देख वह उसे कुछ सात्वना दिया चाहता था, पर इस समय वह स्वयं असंयत था। इसी मध्य विहल्ल सहसा साश्चर्य पूछ उठा—"क्यो बन्धुवर, क्या आपने वैशाली का विचार त्याग अब कही और चलने का निश्चय किया है ?"

हल्ल जैसे सप्रयास बोला—"आयुष्मान, ऐसी तो कोई बात नहीं, भला ऐसी स्थिति में हम वैशाली को छोड और कही क्यो जाने लगे ?"

"किन्तु वैशाली का यह मार्ग तो नहीं ?" हल्ल के मुख पर छाया आश्चर्य और प्रगाढ हो उठा।

अपने अनुज के मुख से यह सुन हल्ल उसकी इस अबोधता पर हँस पड़ा किन्तु उसकी वह हँसी स्वाभाविक नहीं, वरन् कुछ ऐसी थी जैसे उसने अपनी ही किसी दुर्बलता को ढांपने का प्रयास किया हो। फिर सप्रयास ही सहज ढंग में बोला—"आयुष्मान् विहल्ल, जानते हो यह कौन-सा मार्ग है ? यह वही मार्ग है, जिससे एक दिन तथागत भगवान अपना सभी कुछ त्याग राजगृह आए थे।"

विहल्ल को अपने अग्रज की यह बात तनिक भी समझ में नही आई। वास्तव मे उसके मस्तिष्क में यह सरल-सी बात ही नही आ पाई थी कि कुमार कोणिक के सिहपाद सैनिकों को जब उनके वैशाली पलायन का समाचार मिलेगा, तो वे उनके पीछे भी भाग सकते है। वह बोला—"तो फिर क्या हम पहले तथागत के जन्म स्थान ही जाएंगे ?"

यह कहते हुए उसके मुख पर कुछ-कुछ उत्सुकता एवं हर्ष का मिश्रित भाव उभर आया। किन्तु हल्ल ने उसे बताया—"नहीं आयुष्मान्, ऐसा तो अभी कोई विचार नहीं। वह फिर कभी देखा जायगा।"

इसके पश्चात्, पर्याप्त समय तक न तो विहल्ल ने ही कुछ पूछा, और हल्ल भी मौन रहा। परन्तु इस मध्य दोनों ही के मस्तिष्क में न जाने कितने प्रश्न उठे, जो

स्वयं ही शान्त भी हो रहे। इस समय गजराज सेचनक कुमारों के अन्तर में उठते भावों तथा विचारों के वेग से भी अधिक तीव्रगति के साथ वन्य प्रदेश के ऊबड़ खाबड़ मार्ग पर दौड़ता चला जा रहा था, और उसी के आगे पीछे राजकुमारों के अश्वारूढ़ विश्वस्त अनुचर भागे चले जा रहे थे। राजगृह से निकले इन सभी को अब तक दो प्रहर से भी अधिक समय बीत चुका होगा। इस सारी अवधि ही तो सेचनक इसी गति के साथ भागता रहा था; तो भी, उसने अब तक लेशमात्र को भी क्लांति का भाव नहीं दिखाया था। उल्टे प्रातः के प्रकाश में मार्ग जब स्पष्ट दीखने लगा, और अग्रगंता अश्वों की गति तीव्र हो उठी तो वह भी उनके पीछे-पीछे और अधिक गतिमान हो उठा। उसे इस प्रकार भागते देख हल्ल को लगा, सेचनक को भी अवश्य ही हमारे पलायन का रहस्य विदित हो गया है, तभी तो वह आज अपनी स्वाभाविक उन्मत्त चाल को छोड, सारी सुध-बुध खो, हत परास्त हुआ सा दौड़ रहा है; वह तो कुछ ऐसे दौड रहा है, जैसे हमने नहीं वरन् स्वय उसने पलायन किया हो। सेचनक के विषय में यह सब कुछ सोचते-विचारते हल्ल का मन कुछ भारी-सा हो उठा, और उसी के साथ उसे ध्यान हो आया कि राजा ने जब एक दिन प्रसन्न हो पुरस्कार स्वरूप उसे यही गजराज दिया था तो तब, कुमार कोणिक कितना क्षुब्ध हो उठा था। उस समय उसके गले में पड़े बहुमूल्य मणि-मुक्ताहार को तो वह निश्चय ही लालायित दृष्टि से देखता रह गया था। मणि मुक्ताहार का ध्यान आते ही वह कुछ हड़बड़ा-सा गया और उसी हड़बड़ाहट में उसने पास के स्थान को कुछ टटोला-सा। मुक्ताहार को अपने ही पास सुरक्षित समझ उसने भारी संतोष की सांस ली। उधर, विहल्ल इस सारी अवधि मौन रह अतर में उठते भावों के प्रवाह के साथ सोचता विचारता न जाने कहाँ दूर दिगत में पहुँच चुका था। परन्तु उसकी दृष्टि प्रकट में आते-जाते ग्रामीणों पर टिकी थी, जो इन सभी की ओर विस्मय की-सी दृष्टि से देख रहे थे; मन ही मन संभवतः कुछ अनुमान भी लगा रहे थे।

क्या अनुमान लगा रहे होंगे, विहल्ल ने इस ओर कोई विशेष ध्यान नहीं दिया। वह तो केवल अपने से कोई अपनी ही बात कहता जा रहा था। वह अपने से कह रहा था—'विहल्ल, हम से तो ये ग्रामीण ही कहीं अच्छे! कम से कम निर्द्वन्द्व तो हैं। इधर हमें देखो, कहने को राजकुमार हैं, किन्तु ऐसे भयभीत हो भाग रहे हैं, जैसे हमने कोई जघन्य अपराध किया हो। और वह अपराध क्या हो सकता है?' सहसा उसके मस्तिष्क में यह प्रश्न उठ खड़ा हुआ। और फिर न जाने कितने समय तक उसका सारा ध्यान केवल इसी एक प्रश्न पर केन्द्रीभूत हो रहा। दत्तचित्त हो वह उत्तर को खोजता रहा, किन्तु तत्काल कोई भी निष्कर्ष निकालने में असमर्थ रहा; और यदि कोई बात आई भी तो केवल यही कि 'हम राजपुत्र हैं।' वह सोचने लगा—'इसके अतिरिक्त और कोई भी तो अपराध हमने नहीं किया, न हमने किया और न ही बन्धुवर नन्दिसेन ने किया था, और बन्धुवर सिलव ने ही भला ऐसा कौन सा अपराध किया था जो कुमार कोणिक को वह तनिक भी तो नही सुहा सका।' परन्तु इस सब कुछ के पीछे क्या कारण अथवा रहस्य था, यह बात वह नहीं सोच सका। वास्तव में वह जैसे इसकी कोई आवश्यकता भी नहीं समझता था।

कारण, यद्यपि वह हल्ल से केवल एक प्रहर ही छोटा था, परन्तु उसे अपने अग्रज हल्ल से निरन्तर जो प्रगाढ़ स्नेह मिलता रहा था, उसने उसे उसके सम्मुख जैसे कई वर्ष छोटा बना दिया था। विहल्ल के मन में हल्ल के प्रति कोई आदर भी कम नहीं था, अतएव जब उसके अन्तर में यह भाव विशेष ओत-प्रोत होता तो वह उसके सम्मुख संकोच का भी अनुभव किए बिना न रहता। यही कारण है कि पर्याप्त समय से अपने मस्तिष्क में उठी एक बात को वह हल्ल के सम्मुख प्रकट नहीं कर सका। अंततः, जैसे उसने अपना सारा वाक्बल लगाया। बोला—"क्यों बन्धुवर, क्या राजपुत्र होना सचमुच अभिशाप नहीं है।"

वास्तव में वह जो बात कहने लगा था, वह इस बार भी रह गई। उसने नेत्रकोरों से अपने अग्रज की ओर देखा; उसे लगा कि वह जैसे उसी की बात पर पूरे मनोयोग से विचार रहे हैं। फिर तो, जैसे वह मन में शेष रही बात भी कहने को प्रोत्साहित हो उठा। बोला—"बन्धुवर, वास्तव में अभिशाप वाली बात तो यूँ ही मुख से निकल गई, जो बात कहने लगा था वह सकोचवश रह गई।"

अपने अनुज के मुख से संकोच की बात सुन, हल्ल के मुख पर स्नेह-सिक्त आत्मीयता का भाव सहज रूप में खेल उठा, और विचारो अथवा दायित्व भार के कारण उसके मुख पर पहले जो एक गाम्भीर्य विशेष छाया हुआ था, वह भी जैसे उसी में विलीन हो गया।

विहल्ल उसकी ओर नेत्रकोरों से देखते हुए आगे बोला—"बंधुवर, भला वह नीतिकार कौन था; जिसने कभी कहा था कि राजपुत्र हिसक भेड़िये के समान होते हैं। क्यों बन्धुवर, क्या उसने उचित नहीं कहा था ?"

घटनापूर्ण प्रस्तुत प्रसंग मे विहल्ल के मुख से निकली उक्त बात को सुन, हल्ल मन ही मन उसे स्वीकार कर उठा। तो भी वह प्रकट में हँस पड़ा। बोला—"आयुष्मान्, वह नीतिकार अवश्य ही कोई ब्राह्मणपुत्र रहा होगा। तभी तो उसने किसी अपवाद मात्र को ही अपनी दृढ़ धारणा बना, उसे अंततः अपने सिद्धान्त के सांचे में ढाल दिया और फिर अत्यन्त आत्मविश्वास से, सगर्व उसकी ऐसी डोंडी पीट दी कि जैसे उसने प्रकृति के किसी बड़े महत्त्वपूर्ण रहस्य को खोज निकाला हो। पर आयुष्मान्, मुझे तो ऐसा लगता है कि उस ब्राह्मण पुत्र ने अवश्य ही कुमार कोणिक को देखा होगा, और बस उसी को देखकर अपनी धारणा घड़ ली होगी। और जब तक उसकी विलक्षण, दूरदर्शी दृष्टि के सम्मुख बन्धुवर सिलव आए होंगे, तो उस समय तक वह अपने किसी आराध्य देव का ध्यान कर अवश्य ही समाधि लगा बैठा होगा।"

इस पर विहल्ल तत्परता से बोल उठा—"श्रद्धास्पद, जब राजपुत्र ही इतने महत्त्वाकांक्षी हो उठें, तो फिर भला उसमें किसी ब्राह्मण पुत्र का क्या दोष हो सकता है! उसने अवश्य ही कुछ ऐसा देखा होगा, तभी तो उसने यह कह दिया। इतने बड़े ज्वलत तथ्य को किसी ब्राह्मण पुत्र ने बिना किसी प्रमाण अथवा आधार के कह दिया होगा, ऐसा कम से मुझे संभव प्रतीत नहीं होता।"

हल्ल तनिक विहँस बोला—"आयुष्मान्, तो फिर मैं कहूँगा कि सभी राजपुत्र

तुम्हारी भांति केवल भोले होते हैं।"

तनिक रुक, हल्ल कुछ सोचता हुआ फ़िर बोल उठा—"मुझे लगता है आयुष्मान्, जैसे एक तथ्य की ओर से तुम अभी तक अंधकार में ही हो।"

"और वह कौन-सा तथ्य है बन्धुवर," विहल्ल ने उत्सुकता से पूछा।

हल्ल को अपने मुख से निकली बात पर जैसे कुछ पश्चाताप का सा अनुभव हुआ। मगध राज्य की ज्वलंत राजनीति के जिस रहस्यपूर्ण विवाद को वह गत कई वर्षों से अपने इस अबोध अनुज से छिपाता आ रहा था, जैसे वह आज बलात् ही उसके मुख से प्रकट होने को उद्यत हो उठा। परन्तु अब उससे और अधिक छिपाना भी उसे उचित न लगा। वह सोचने लगा—'मैंने उसे अब तक अकारण ही इन सभी बातों की ओर से अंधकार में रखा।' फिर भी वह अब भी मन ही मन एक निश्चय कर उठा; और उसका वह निश्चय था—'सम्राट के बन्दी बना लिए जाने की बात मैं उसके सम्मुख बिल्कुल ही तो प्रकट नही करूंगा, उसका सकेत भी नहीं दूँगा; अन्यथा वह अत्यन्त शोकाभिभूत हो उठेगा, या फिर क्रोधावेश में राजगृह की ओर ही लौट लेगा। मुझ पर विश्वासघात का आरोप अलग लगायेगा ?' अतः पुनः प्रसंग के मुख्य प्रवाह की ही ओर बढ वह बोला—"आयुष्मान्, वास्तव में मैं तो अपने ही राजप्रासाद की इस उथल-पुथल के सम्बन्ध मे कुछ पूछ रहा था। पूछ रहा था कि क्या तुम्हारी दृष्टि में यह सारा प्रपंच केवल कुमार कोणिक का ही है ?"

कुमार विहल्ल के अन्तर में बैठी दृढ़ धारणा जैसे स्वत. ध्वनित हो उठी। वह तत्परता से बोला—"सो तो सर्वविदित है, बन्धुवर ! क्या अब इसमें भी कोई विचारने की बात शेष रह गई है ?"

"तो फिर मैं यह कहूँगा आयुष्मान्, तुमने निश्चित ही अपने अन्दर एक बहुत बड़े भ्रम को पाल रखा है।" यह कह हल्ल एक हल्का सा ठहाका दे हँस उठा; किन्तु फिर शीघ्र ही उसकी मुख मुद्रा गंभीर हो उठी। वह बोला—"तो सुनो आयुष्मान्, उत्तराधिकार की दृष्टि से मगध के राज-सिंहासन पर बैठने का केवल कुमार कोणिक को ही अधिकार है। परन्तु हुआ क्या ? सभासद बन्धुवर सिलव को मगध के राज-सिंहासन पर आसीन करने के पक्ष में थे। कारण, उन सभी की दृष्टि में कुमार कोणिक क्रूर है। यद्यपि कुमार कोणिक ने अंग सदृश शक्तिशाली राज्य को परास्त कर अपने उत्तराधिकार की योग्यता का परिचय दे दिया था। किन्तु योग्यता और बात है और स्वभाव दूसरी. अंग विजय पर सभासदों ने निश्चय ही भारी हर्ष प्रकट किया था और कुमार कोणिक की मुक्त कण्ठ से सराहना भी की थी, किन्तु साथ ही वे मन ही मन एक और बात को देख भयभीत भी हो उठे। कदाचित इसी भय के कारण सभासदों ने सम्राट को एक परामर्श दिया, और यह परामर्श था कि कुमार कोणिक को अंग का राज्यपाल बना दिया जाए। जानते हो, सभासदों के इस परामर्श में क्या रहस्य गर्भित था ? वह रहस्य था, कुमार कोणिक को राजगृह के राजनीतिक मंच से हटाना और उस पर बन्धुवर सिलव को लाना। कुमार कोणिक संभवतः प्रारम्भ में इस बात को नहीं समझ सके, तभी तो सहर्ष वहां चले गए।"

विहल्ल इन सभी बातों को बड़े ध्यान से सुन रहा था। अग्रज को मुख्य प्रवाह

से कुछ अलग हटते देख, वह जैसे हस्तक्षेप कर उत्सुकता के साथ पूछ उठा—"बन्धुवर, किन्तु आप यह बताना तो भूल ही गए कि सभासद राजगृह के रंगमंच से कुमार कोणिक को क्यों हटाना चाहते थे और कुमार कोणिक का वह कौन-सा दूसरा स्वरूप था, जो उनकी योग्यता के साथ-साथ प्रकट हो उठा।"

हल्ल जैसे कुछ सोच, बोला—"आयुष्मान्, उस स्वरूप को जानने से पूर्व एक अन्य बात का जान लेना भी आवश्यक है। वास्तव में साम्राज्य विस्तार के प्रति उत्साह प्रजा का नहीं होता, वरन् वह स्वयं राजा की ही महत्त्वाकांक्षा होती है। और उसकी इस महत्त्वाकांक्षा के क्रियान्वय का सबसे अधिक भार, जानते हो, किस पर पड़ता है?"

हल्ल के इस प्रश्न के उत्तर में विहल्ल मौन रह केवल कौतूहल से उनकी ओर देखता रहा। हल्ल ने अपने प्रश्न का आप ही उत्तर दे, उसे बताया—"आयुष्मान्, साम्राज्य विस्तार का सबसे अधिक भार निरीह प्रजा पर पड़ता है और वह करों के भारी बोझ से कराह उठती है।"

"क्यों बन्धुवर ?" विहल्ल के मुख से प्रश्न निकल गया। हल्ल आत्मीयता की सी हँसी हँसते हुए बोला—"किसी राज्य को जीतना कोई सरल बात नहीं आयुष्मान्, उसके लिए अधिकाधिक संख्या में सैनिक रखने होते है, उन्हें वेतन देना होता है, और सच पूछो तो उन्हें जामाताओं की तरह दुलार कर पालना होता है। फिर शस्त्रों पर होने वाला भारी व्यय। किसी भी राज्य को आत्मरक्षा के लिए जितने शस्त्रों की आवश्यकता होती है, आक्रमण के लिए उनकी आवश्यकता कई गुनी बढ़ जाती है। फिर हाथी, अश्व सभी कुछ तो चाहिएँ। अतः प्रजा स्वभावतः साम्राज्य विस्तार की विरोधी होती है और अपनी इसी विरोध पूर्ण भावना के साथ जब वह देखती है कि मानवीय मान्यताओं का भी अतिक्रमण किया जा रहा है तो वह क्षुब्ध हो उठती है। कुमार कोणिक ने अंग के राज प्रासाद में कुछ ऐसा ही किया था; अंगराज विरूधक की नृशंस हत्या तो की ही गई थी, उसकी एकमात्र पुत्री के साथ भी...... ।"

प्रसंगवश आई यह बात हल्ल के कण्ठ तक ही आकर रुक गई। मुख से नहीं निकल सकी। विहल्ल को वह सब कुछ जानने की भी जिज्ञासा हुई, परन्तु जैसे संकेत ही से वह सब कुछ समझ गया। हल्ल फिर बोल उठा—"तो आष्यमान्, कमार कोणिक ने मगध की यद्यपि इतनी सेवा की, फिर भी वह सभासदों को प्रभावित करने में असमर्थ रहा। वास्तव में सभासद उसके प्रति संदिग्ध हो उठे। उनकी धारणा बन गई कि कुमार कोणिक सिंहासन आरूढ़ होते ही स्वेच्छाचारी हो उठेगा। और स्वेच्छाचारी राजा क्या अपनी ही प्रजा पर अनाचार नहीं कर सकता! अतः वे सभी कुमार सिलव को उनके स्थान पर बैठाना चाहते थे।"

यह कह हल्ल जैसे पुनः कुछ सोचने में व्यस्त हो गया। विहल्ल को लगा, अग्रज ने प्रसंग को जैसे मंझधार ही में छोड़ दिया है। उसके मुख पर उत्सुकता का भाव प्रगाढ़ हो उठा। पूछने लगा—"और फिर क्या हुआ, बन्धुवर ?"

हल्ल ने तनिक विहल्ल की ओर देख, कहा—"आयुष्मान्, फिर इस सब के मध्य मगध के राजनीतिक मंच पर एक नए पात्र का आगमन हुआ। जानते हो वह कौन है ?" फिर स्वयं ही उसका उत्तर देते हुए हल्ल बोल उठा—"और आयुष्मान्, वह पात्र

कोई अन्य नहीं वरन् स्वयं आचार्य वर्षकार ही हैं !"

"किन्तु वह तो राज्य की सेवा में न जाने कब से हैं, बन्धुवर ।" विहल्ल ने जिज्ञासा का सा भाव प्रकट करते हुए कहा।

हल्ल किंचित मुस्कान के साथ बोला—"आयुष्मान्, मेरे ऐसा कहने का यह तात्पर्य नहीं कि उससे पूर्व वह था ही नहीं। वह था, परन्तु जिस प्रकार किसी नाटक के पात्रों का महत्त्व केवल तभी प्रकट होता है, जब कि वे मंच पर आते हैं, उसी प्रकार इस प्रस्तुत घटना-प्रवाह में उसका विशेष स्वरूप अभी सम्मुख आ सका है। वस्तुतः यदि इस सब का सूत्रधार उसे ही कहा जाए तो किंचित भी अतिशयोक्ति न होगी। उसने सोचा कि यदि कुमार कोणिक को उत्तराधिकार से वंचित कर कुमार सिलव को उसके स्थान पर बैठाया गया, और वह भी सभासदों के कहने से, तो यह राजतन्त्र की सुस्थापित परम्परा में सर्वथा एक नया मोड़ होगा। वह निश्चित ही वैशाली के गणतन्त्र और राजतन्त्र के मध्य की ही कोई दिशा होती। फिर, उसे एक दूसरा भय और भी तो था; और उसका वह भय यह था कि शासन सत्ता का सारा सूत्र पुरोहित कुलों के हाथ से छिन सभासदों के हाथो में पहुँच जायगा और इस प्रकार पुरोहित कुल प्रभाव हीन हो रहेंगे। अतः वह कुमार कोणिक को सचेष्ट कर उठा और सावधान कर उठा उसे पितृवर की एक नई आस्था की ओर से। आयुष्मान्, जानते हो पितृवर की यह नई आस्था क्या थी ? यह आस्था थी, बौद्ध-संघ की ओर पितृवर का आकृष्ट होना, और फिर अपने राजतन्त्र की ओर से उदासीन हो गणतन्त्र की ओर अग्रसर होना। सभासदों के परामर्श पर सिलव को सिंहासन पर बैठाना निश्चित ही उसी दिशा मे एक पग था। और फिर, इसी मध्य इस घटना प्रवाह में एक अन्य व्यक्ति का उदय हुआ, और वह है महात्मा बुद्ध का एक प्रमुख शिष्य—देवदत्त।"

यह कह हल्ल कुछ रुक गया। विहल्ल चकित हुआ सा उसकी ओर देखता रहा और सोचता रहा कि आखिर इस सारे ज्वलंत विवाद में स्वयं बन्धुवर हल्ल किस पक्ष विशेष के प्रतिपादक हैं। किन्तु इस बार उसके मुख से देवदत्त का नाम सुन उसका कौतूहल और प्रगाढ़ हो उठा। पूछने लगा—"और फिर क्या हुआ, बन्धुवर ?"

इस पर हल्ल बोला—"आयुष्मान् राजनीति में कभी भी स्पष्ट कुछ नहीं होता, उसका तो अनुमानो के बल पर बस विश्लेषण किया जा सकता है; और इस समय मैं वही विश्लेषण कर रहा हूँ। और मैं जो कुछ भी विश्लेषण कर सका हूँ, उसके आधार पर सहज ही में कहा जा सकता है कि वर्षकार और देवदत्त इस सारे प्रपंच में एक दूसरे के पूरक बन उठे तथा उन दोनों के मध्य कुमार कोणिक निमित्त मात्र बन कर रह गए हैं"।

"वह कैसे ?" विहल्ल कौतूहलवश तत्परता से प्रश्न कर उठा। हल्ल कहता चला—"वह इस प्रकार आयुष्मान्, कि जिस कार्य को वर्षकार परिस्थितियों वश नहीं करा पा रहा था, वह देवदत्त ने आ कुमार कोणिक से सहज ही में करा लिया। वर्षकार के लिए अब पितृवर सर्वथा असह्य थे, तो भी वह उन्हें मार्ग से हटाने का कोई उपाय नहीं सोच पा रहा था। उसने कुमार कोणिक को निस्संदेह पूर्णतः अपने विश्वास में ले लिया था, फिर भी एक पुत्र को पिता की हत्या के लिए प्रेरित करना कोई सहज

बात नहीं, अतएव यह बात उसके मन में होने पर भी वह कह नहीं सका। फलस्वरूप उसकी योजना में गतिरोध का सा वातावरण बनता चलता; और इसी गतिरोध को दूर किया देवदत्त ने आकर। उधर, देवदत्त के आते ही वर्षकार प्रकट में कुमार कोणिक से कुछ हट गया और महाराज को देवदत्त की सभी योजनाओं के विरुद्ध सावधान कर उनका विश्वास पात्र बना रहा। आयुष्मान्, स्मरण है तुम्हें वह घटना, जब एक दिन मध्याह्न में कुमार कोणिक को पितृवर की हत्या के प्रयास में पकड़ लिया गया था और फिर साथ ही उन्हें मुक्त करा दिया गया था। यही नहीं, वर्षकार ने महाराज को परामर्श दे राजगृह को छोड़ शेष सभी राज्य कुमार कोणिक को भी दिलवा दिया था।"

विहल्ल को जैसे, इन सभी बातों पर विश्वास नहीं हो पा रहा था। उसे वे केवल कौतूहल पूर्ण ही प्रतीत हुईं। परन्तु चूकि वह सभी कुछ स्वयं अपने अग्रज, और वह भी एक ऐसे अग्रज से, जिसके प्रति उसके मन में प्रगाढ़ आस्था भाव था, सुन रहा था, अतः विश्वास होता चला। तो भी वह उत्सुकतावश पूछ ही उठा—"और यह भी कैसी अद्भुत बात है कि वर्षकार एक ओर तो कुमार कोणिक को उकसा रहा है, और दूसरी ओर जब वह महाराज की हत्या कर उसी के लक्ष्य की सिद्धि का मार्ग प्रशस्त करने के लिए उद्यत हुआ तो उसने यह भेद महाराज पर ही प्रगट कर दिया?"

हल्ल ने इस पर तनिक हँसते हुए कहा—"आयुष्मान्, बस यही तो राजनीति है। वास्तव में अमात्य वर्षकार का लक्ष्य राजसिंहासन पर कुमार कोणिक को प्रतिष्ठापित कर एकच्छत्र राज्य की कल्पना को साकार करना है और उसके लिए यह आवश्यक है कि मगध का राज्य सर्वथा अखण्ड बना रहे। पर यह तभी संभव है जबकि सभासदों एव प्रजाजनों की ओर से प्रत्यक्ष में कोई विरोध न हो, अन्यथा तनिक-सी भूल पर विद्रोह तक भी हो सकता है। उस सभी कुछ से बच निकलने के लिए वर्षकार का यह प्रयास है।"

"परन्तु अब तो विद्रोह की स्थिति स्पष्ट ही सम्मुख है।" विहल्ल ने जैसे तर्क प्रस्तुत किया।

हल्ल ने कहा—"कैसी भी भयंकर स्थिति क्यों न बने, वर्षकार पर प्रत्यक्ष में कोई दोष आना असंभव है। वह सारा दोष देवदत्त के ही तो सिर पर मढ़ देगा; और वह अपने को ही नहीं, वरन् अपने साथ में कुमार कोणिक को भी सुरक्षित रूप मे बचा ले जाएगा। यही कारण है कि वर्षकार देवदत्त का घोर विरोधी होते हुए भी उसके प्रति सहिष्णु है। क्यों? क्योंकि उसकी दृष्टि में वह अनिवार्य है, और वह एक प्रकार से उसी की योजना को आगे बढ़ा रहा है।"

इसी मध्य सहसा मार्ग में आए एक नद ने सेचनक की गति को अवरुद्ध कर दिया। उधर विहल्ल को कुछ क्षुधा पीड़ा भी अनुभव हुई। अतएव उसने हल्ल से कहा—"बंधुवर, अब तो कुछ खाने को मिलना चाहिए; क्षुधा पीड़ा अधिकाधिक असहनीय होती जा रही है।" हल्ल ने समस्या के समाधान स्वरूप इधर-उधर देखा तथा तत्पश्चात् विहल्ल को सांत्वाना देते हुए कहा—"आयुष्मान्, बस तनिक और ठहर जाओ। इस नद को पार करने के पश्चात् कोई चार कोस पर एक और बन आयगा; उसमें प्रविष्ट होते ही एक अश्वारोही को सिंहपाद सैनिकों पर दृष्टि रखने के लिए

छोड़, हम कोई ग्राखेट कर लेंगे।"

क्षुधा पीड़ा से विहल्ल के मुख पर नैराश्य-सा छा गया था, किन्तु हल्ल के ग्राश्वासन से वह पुनः प्रदीप्त हो उठा। ग्रौर साथ ही विद्युत गति से उसके मस्तिष्क में एक प्रश्न ग्रौर ग्राकर टकरा गया। परन्तु वह तत्क्षण उसे पूछ नहीं सका।

सेचनक जब मध्य प्रवाह में पहुँच, सहसा खड़ा हो गया तो हल्ल को लगा, वहाँ जल ग्रधिक गहरा है। यह देख उसकी मुख मुद्रा चिंता ग्रस्त हो उठी। विहल्ल का मुख भी पूर्णतः निस्तेज हो गया ग्रौर साथ में ग्राए ग्रश्वारोही भी निःसहाय से दीखने लगे। इसी मध्य उनके कानों से किसी की ध्वनि ग्रा टकराई, जिसे सुन सभी जैसे सचेष्ट हो उठे। किन्तु सेचनक केवल सचेष्ट होकर ही नही रह गया; वह जल पर तैरता-सा दिखाई दिया। महावत भी तत्परता से ग्रम्बारी पर ग्रा राजकुमारों के ही साथ बैठ गया। उधर, तट पर खड़े ग्रश्वारोही तत्परता से जल प्रवाह में कूद पड़े, ग्रौर फिर न जाने वे सभी किस प्रकार उस प्रवाह मे से निकल, दूसरी ग्रोर जा पहुँचे। वह ध्वनि ग्रौर ग्रधिकाधिक निकट ग्राती प्रतीत हो रही थी, किन्तु ग्रब जैसे उनमें से किसी के लिए भी चिन्ता का कोई कारण शेष नही रह गया था। तो भी, सेचनक ग्रब सीधा मार्ग छोड भिन्न पथ पर सरपट दौड़ लिया।

विहल्ल के मस्तिष्क में जो प्रश्न उठा था, उसे ग्रब वह पूछने का साहस नहीं कर सका। किन्तु हल्ल के मानस पटल पर एक प्रश्न ग्रवश्य उठ खडा हुग्रा। वस्तुतः उसके सम्मुख इस समय राजगृह के स्थान पर वैशाली की ग्रान्तरिक स्थिति ग्रा उपस्थित हुई थी। उस स्थिति पर मनन कर, वह जैसे संदिग्ध हो उठा। उसे लगा, भविष्य निश्चय ही ग्रदृष्ट है, यदि हम वहाँ सकुशल पहुँच भी गए तो उस समय तक स्वयं वैशाली न जाने क्या स्वरूप ग्रहण कर ले। उसका क्षितिज भी तो ग्राज गृह युद्ध के काले मेघों से ग्राच्छन्न है।

ग्रौर, कुमार कोणिक स्वयं ग्रपनी वाहिनियों को ले वैशाली की ग्रोर प्रस्थान भी कर चुका है, इस समय हल्ल इसकी कल्पना तक भी न कर सका।

इधर, उस दिन वैशाली के कला प्रागरा में देवी शिष्या का नृत्य अविराम गति से मध्यरात्रि के पश्चात् भी पूरे एक प्रहर तक चलता रहा था। ज्येष्ठ मास के शुक्ल पक्ष की त्रयोदशी का चन्द्रमा अपना स्वाभाविक निर्मल सुहास्य छिटकाता, थिथराता कब प्राची से पश्चिम दिशा में पहुँच गया, दर्शक समुदाय को इसका भान तक भी नहीं हुआ। रात्रि का यह लगभग ढाई प्रहर मानों एक पल के समान उनके शीर्ष पर से उतर गया, पर जैसे उसके पश्चात् भी वे देवी शिष्या के नृत्य के प्रति लालायित ही बने रहे।

मध्य रात्रि तक तो सौम्य मुखी देवी शिष्या सर्वथा सामान्य गति से नृत्य करती रही, परन्तु उसके पश्चात् उसे किंचित क्लाति का अनुभव होने लगा। अतएव वह जब 'पुनः-पुनः' के अनुरोध पर इस बार फिर मच पर दर्शकजनों के सम्मुख उपस्थित हुई तो उसने मन ही मन यह अनुमान लगाया था कि आज के आयोजन का सम्भवतः यही अन्तिम नृत्य होगा, परन्तु उसके समाप्त होते-होते पहले तो "धन्य-धन्य" के उच्चारण से सारा प्रागरा गूंज उठा, तथा तत्पश्चात् "पुनः-पुनः" का अनरोध साकार रूप में उसके सम्मुख आ उपस्थित हुआ। और, विनयातिरेक से नतमस्तक देवी शिष्या को दर्शकों का यह अनुरोध भी स्वीकार करना पड़ा।

और जब इस बार का नृत्य भी समाप्त हुआ तो दर्शकगण जैसे यही भूल गए कि उन्होंने पहले भी कोई अनुरोध किया था। अतएव फिर वही हुआ। और पुनरावृत्ति का यह क्रम सहज ही में एक प्रहर का समय और खीच ले गया।

अन्त में गणाध्यक्ष के इंगित पर देवी शिष्या के अभिभावक आचार्य शिष्य ने अंतर के विनय भाव से नत मस्तक हो, दर्शक जनों से और अनुरोध न करने की याचना की। दर्शक जनों ने आचार्य शिष्य का अनुरोध तो स्वीकार कर लिया परन्तु उनमें से अधिकांश ने खड़े हो निस्सकोच भाव से प्रस्ताव किया—"आर्य, यदि अब यह आयोजन नित्य सन्ध्या ही हुआ करे तो हम सभी निज का अहोभाग्य समझेंगे।" तत्पश्चात्, प्रायः सभी ने मुक्तकण्ठ से इसका समर्थन कर प्रस्ताव को जो बल प्रदान किया तो आचार्य शिष्या ने समुस्कान नेत्रकोरों से देवी शिष्या की ओर देख उसकी अनुमति चाही, और अनुमति स्वरूप देवी शिष्या के क्लांत-प्रायः मुख पर भी एक मौन मुस्कान व्याप्त हो उठी।

परन्तु देवी शिष्या के नृत्य कौशल के प्रति दर्शक जनों के इस उत्साह को देख गणाध्यक्ष चेटक के हृदय में एक भिन्न भावना ही आकर सिहर गई; और वह

दर्शक जनो के अधिकाधिक उत्साह को देख प्रगाढ़ होती चली । यूँ प्रगट में वे भी अन्य की भांति देवी शिष्या के नृत्य को मन्त्र-मुग्ध हुए देखते रहे, परन्तु उनके अंतर के किसी कोने में बैठा हुआ अन्यमनस्क भाव यदा-कदा अपना शीर्ष उठा उस विशिष्ट आसन की ओर देख लेता, जिस पर कि कभी देवी आम्रपाली के नृत्य समाज में गण-संवाहक सामन्त भजदेव आकर बैठा करते थे। उन्हें गणसवाहक की अनुपस्थिति अत्यन्त खल रही थी, जो कभी-कभी सहज हा में व्यथा में परिणत हो उठती ।

सुरक्षा प्रधान आचार्य शिष्य तो आयोजन की सफलता पर भारी गर्व का ही अनुभव करता रहा । परन्तु इसी मध्य उसकी दृष्टि किसी प्रकार उचट, एक दृश्य विशेष पर जा पड़ी तो वह मन ही मन व्याकुल हुए बिना न रह सका। जहाँ वह बैठा था, वहाँ से केवल कुछ अन्तर पर ही मानों सभी की दृष्टि बचा एक युगल बैठा था, जिसे उसने भली भांति पहचान लिया । उनमें से एक तो स्वयं कुमारी चारुस्मिता ही थी, जिसका मुख सौष्ठव उसे अब भी बरबस अपनी ओर खींच रहा था । परन्तु इसी के साथ जब उसने उसके साथ बैठे युवक को देखा तो उस पर जैसे एक विद्युताघात होकर रह गया । और इस प्रकार आहत हुआ उसका हृदय आर्तनाद कर उठा । वास्तव में कुमारी चारुस्मिता के साथ गणसवाहक सामन्त भंजदेव का पुत्र अखण्डदेव आया था । इससे पूर्व प्रांगण में विचरणशील युगलों को देख उसका हृदय जितना प्रसन्न हुआ था, इस युगल विशेष को देख उसका हृदय उतना ही हाहाकार कर उठा । उसका मन हुआ कि वह किसी प्रकार अवसर निकाल उस सहज हृदया कुमारी चारुस्मिता को सावधान कर आए । परन्तु किस अधिकार से ? तत्काल उसके मस्तिष्क में यह प्रश्न आ टकराया । प्रश्न के उत्तर में वह विवशतावश मौन हो बैठा रहा । परन्तु फिर भी यदा कदा अन्तर के किसी गुह्यप्रांत से उठा एक आशंका भाव स्थूल रूप ग्रहण कर उसके सन्मुख आ उपस्थित होता, जिससे वह बुरी तरह सिहर उठता ।

नृत्य की परिसमाप्ति के पश्चात् जब मजरिका रथारूढ हो आचार्य शिष्य के साथ अपने प्रासाद की ओर प्रस्थित हुई तो उसके मुख पर एक खिन्न भाव था, जिसे आचार्य शिष्य ने तत्क्षण उसका केवल निद्रालस्य समझ, उस पर विशेष ध्यान नहीं दिया । परन्तु वह कब तक उस ओर से उदासीन बना रहता । देवी शिष्या के यहाँ से भारी सख्या में लौटते हुए पौर जनों की भीड़ में से इस समय उनका रथ होकर आ रहा था। भारी भीड़ थी, अतएव मार्ग में पग-पग पर गतिरोध था, जिस कारण उनका वाहन भी केवल मंद गति से, रुक-रुक कर ही चल पा रहा था । परन्तु चलने वालों का इस समय जैसे इस गतिरोध की ओर तनिक भी ध्यान नहीं था और इस समय उस ओर उनका ध्यान आकर्षित करना भी व्यर्थ था । कारण, देवी शिष्या के नृत्य का रसास्वादन कर वे जिस परिणाम मे भाव-विभोर हो उठे थे, उसी के प्रभाव में आकण्ठ डूबे वे वार्ता व्यस्त थे, जिसे आचार्य शिष्य अत्यन्त मनोयोग से सुन रहा था । रथ रुक-रुक कर चल रहा था, अतएव वे जो कुछ भी अपना मंतव्य प्रगट कर रहे थे, उन्हें वह स्पष्ट सुन पा रहा था । परन्तु वैशालिकों ने इस समय पारस्परिक वाद-विवाद की जो सीमा निर्धारण की हुई थी, उस पर उसे मन ही मन आश्चर्य हुए बिना न रहा । वे देवी शिष्या के केवल नृत्य कौशल को ही अपने वाद-विवाद का

विषय बनाए हुए थे। यदि कोई उसकी भाव भंगिमाओं पर अपना मत प्रकट करता तो दूसरा उसके अंग-चालन की गति को अपने मतव्य का मुख्य विषय बनाए हुए था। कोई-कोई उसकी सुगठित स्थूल देह पर ही टीका टिप्पणी कर उठता और फिर उसकी देवी आम्रपाली की कमनीयता से तुलना करता; कोई उसके अत्यधिक संकोच भाव को एक भयकर त्रुटि बताए बिना न रह पाता। परन्तु उसी के प्रत्युत्तर स्वरूप उसके साथ चलता हुआ कोई अन्य व्यक्ति सहसा प्रश्न कर उठता—"और उसके विनय भाव के सम्बन्ध में भला तुम्हारी क्या धारणा है, बन्धुवर ?" तब, इसके उत्तर में जैसे पहले वाले व्यक्ति को विवश हो कहना पड़ता—"बन्धुवर, निस्संदेह प्रशंसनीय है।" और फिर उसके मुख से यह सुन प्रश्नकर्त्ता हँसे बिना न रहता। परिहास सिक्त सौहार्द से वह कहता—',अरे बन्धु, तुम फिर यह क्यो भूले जा रहे हो कि यदि संकोच न होता तो यह विनय कहाँ से आता।" इस पर पहले वाला टिप्पणी कर्त्ता जैसे परास्त हो रहता।

आचार्य शिष्य देवी शिष्या के नृत्य कौशल के प्रति जन-मानस की इस सजगता को देख मन ही मन प्रसन्न हो उठा। अपने से बोला—"वैशाली समाज की कदाचित यही वह सजीवता है, जिसे देखने के लिए ही सम्भवतः पूज्यपाद आचार्य बहुलाश्व ने मुझे यहाँ भेजा हो।" सहसा, ध्यान भंग कर उसने नेत्रकारों से मंजरिका की ओर देखा। वह उसी पूर्ववत उपेक्षा भाव से, मूर्तिवत हो मानों रथ में खिची चली जा रही थी ; अथवा रात्रि के इस प्रहर में भी जनोत्साह से लहराते उस राजपथ पर वह रथ स्वयं ही उसे खींचे ले जा रहा था। उसे इस जड़-रूप में देख आचार्य शिष्य गम्भीर हो उठा और अन्तर में एक साथ ही कई प्रश्न उठ उसके मानस से टकराने लगे। और उसका विवेक सजग हो आत्मविश्लेषण में तल्लीन हो रहा, परन्तु किसी निष्कर्ष पर पहुँचने से पूर्व ही अन्तर के किसी गुह्य प्रान्त से उठा एक प्रश्न साकार रूप में उसके नेत्रों के सम्मुख आ उपस्थित हुआ। उसने देखा कि उसी के रथ के पीछे-पीछे एक ही बाहन में बैठे श्रेष्ठीपुत्र श्रेणिय रत्न एव उसके गुरु बन्धु सेनापति सिंह तथा आचार्य दुहिता देवी रोहिणी सभी तो चले आ रहे हैं। फिर भी किसी प्रकार साहस कर, उसने मानों सभी की दृष्टि बचा, कुमारी मंजरिका का हाथ अपने हाथ में ले लिया। किन्तु कुमारी मंजरिका पूर्ववत मौन रह, बाहर की ओर ही दृष्टि गड़ाए बैठी रही। तो भी उसकी इस भाव मुद्रा से आचार्य शिष्य किंचित भी हतोत्साहित नही हुआ। वह धीरे-धीरे कुमारी मंजरिका के हाथ को सहलाने में व्यस्त हो उठा। वास्तव में जो प्रश्न वह मंजरिका से किया चाहता था वह मन ही मन उसकी भूमिका का प्रतिपादन कर रहा था। परन्तु किसी भी स्थिति में उसकी विचार श्रृंखला परिपक्व हो, निस्संकोच प्रश्न का रूप ग्रहण नही कर सकी। अतएव विवशता से उसने प्रवाह को तनिक बदलते हुए धीमे से कहा—"शुभे !"

यह कह उसने इस बार अत्यन्त ध्यान से मंजरिका की ओर देखा।

परन्तु मंजरिका उत्तर में पूर्ववत मौन ही रही। अतएव आचार्य शिष्य ने निरुपाय म्लान मुख से उसकी ओर पुनः देखा और फिर किसी अन्तःप्रेरणा से प्रेरित हो मंजरिका को सम्बोधित कर कहा—"सौम्ये !"

मंजरिका इस बार भी मौन ही रही, अतएव इस प्रकार गतिरोध की सीस्थि ति उत्पन्न हुई देख उसे पराभव का सा अनुभव हुआ, जिससे मुख पर खिन्नता का भाव व्याप्त हो उठा। परन्तु दूसरे ही क्षण अपने मुख पर सुहास्य का भाव ला, वह बोला—"शुभे ! तक्षशिला में एक बार क्या हुआ कि मेरे एक सहपाठी ने, जो सौभाग्य से मेरा अन्यतम मित्र भी था, अत्यन्त मनोयोग से एक प्रस्तर मूर्ति बनाई। केवल कुछ दिन पूव तक जिस पाषाण खण्ड की ओर किसी का ध्यान तक नहीं जाता था, और यदि जाता भी तो उससे बच निकलता था, वही मेरे मित्र के हाथों से कट-छट कर इतना संवर उठा कि बरबस सभी का ध्यान उस ओर हो लेता। केवल छात्र ही नहीं, गुरु जन भी एकाग्र चित्त हो उसकी ओर देखते रह जाते और सभी मुक्त कण्ठ से उसकी प्रशंसा कर मेरे मित्र के कला कौशल को भी सराहते। मैं भी विस्मय से दाँतों तले अगुली दबा उसकी ओर निष्पलक हुआ देखता रहता। परन्तु एक दिन न जाने क्यों सभी की उपस्थिति में उस मूर्ति को देख मुझे हँसी-सी आ गई।" यह कह आचार्य शिष्य सहसा रुक गया। परन्तु इसी मध्य जिज्ञासा वश मंजरिका के मख से मानों बलात प्रश्न निकल गया—'हंसी क्यों आ गई, आचार्य शिष्य ?"

आचार्य शिष्य ने इस पर किंचित् भी प्रफुल्लता अथवा किमी भाव विशेष को प्रकट न कर सर्वथा सहज ढंग से कहा—"श्रेष्ठीपुत्री, वास्तव में मुझे उसे हँसते देखकर हंसी आ गई थी।"

इस पर मंजरिका ने तनिक विस्मय का भाव दिखाते हुए कहा—"आचार्य शिष्य, भला यह कैसे सम्भव हो सकता है ? कही प्रस्तर मूर्ति भी हँस सकती है ?"

उत्तर में आचार्य शिष्य तुरन्त बोल उठा—"क्यो, इसमें विस्मय की क्या बात है। क्या प्रस्तर मूर्ति हँस नहीं सकती ? मैंने उसे सचमुच ही हंसते हुए देखा था।" आचार्य शिष्य के मुख पर जैसे आत्म-विश्वास की सी दृढ़ता उभर आई। परन्तु मंजरिका को उस पर लेशमात्र भी विश्वास नहीं हुआ। वह प्रतिकार के भावावेश में बोल उठी—"आचार्य शिष्य या तो असत्य बोल रहे है अथवा उन्हें तब भ्रम हुआ होगा।"

इस पर आचार्य शिष्य ठहाका दे हँस उठा तथा फिर सहसा हंसी को रोकते हुए बोला—"वास्तव में श्रेष्ठीपुत्री का कथन उचित ही है। मैं असत्य भी बोल रहा हूँ, और भ्रम भी हुआ था।" यह कहते हुए उसने किंचित भेदपूर्ण, प्रकृतिस्थ दृष्टि से उसकी ओर देखा। मंजरिका के मुख से जो कुछ अनायास ही निकल गया था, उसने अब तक एकदम उसके मुख भाव को ही बदल दिया था। वह जो कुछ कह गई थी, उस पर उसे स्वयं आश्चर्य हो रहा था। अतएव मन ही मन कुछ-कुछ पश्चात्ताप मिश्रित लज्जा का सा अनुभव कर रही थी। परन्तु साथ ही मौन भी न रह सकी। नेत्रकोरों से आचार्य शिष्य की ओर देखती हुई बोली—"आचार्य शिष्य ! पर यह तो स्पष्ट ही असंगति हुई। भला असत्य के साथ भ्रम का मेल किस प्रकार सम्भव है ?"

आचार्य शिष्य प्रत्युत्तर में तत्परता से, परन्तु सर्वथा सहज ढंग में बोल उठा—"सम्भव है, श्रेष्ठीपुत्री यह भी ठीक कहती हों, परन्तु इस तथ्य को तो अस्वीकार नहीं करेंगी कि असत्य के कारण भ्रम भी हो सकता है।"

यह कह आचार्य शिष्य ने साशय दृष्टि से मंजरिका की ओर देखा। मंजरिका

अभी भी उस ओर देख रही थी, अतएव दृष्टि-संधि हो रही। परन्तु पराजय के सहज संकोच भाव से मंजरिका को अपनी दृष्टि शीघ्र ही नीचे करनी पड़ी। हाँ, किसी अन्तर भाव विशेष से उसके गंडस्थल का स्पर्श अवश्य हुआ; वह प्रगाढ़ लालिमा से उष्ण हो उठा। आचार्य शिष्य ने भी इस बार उसके हाथ को तनिक दबाते हुए कहा—"शुभे मंजरिके, हम इस संसार में इन खुले नेत्रों से जो कुछ देखते हैं, वह सदा ही सत्य हो यह अनिवार्य तो नही, सत्य तो केवल प्रतीक्षा है।" यह कहते हुए उसने मंजरिका के हाथ को पूर्व से भी अधिक आत्म-विश्वास के साथ दबा दिया और फिर सहसा उसे उन्मुक्त कर अपनी सारी देह समेट उसके और निकट हो लिया। मंजरिका के कपोलों की लालिमा और प्रगाढ़ हो उठी ; रोम-रोम में स्पंदन का संचार हो उठा। परन्तु साथ ही वह संकोच भाव से दबी-दबी प्रतिक्षण अधिकाधिक स्वयं में सिकुडती जा रही थी। उसके मन में आया, वह आचार्य शिष्य से क्षमा माँग ले, परन्तु इसी मध्य रथ सहसा रुक गया। वह राजपथ से कब प्रासाद के सिंह-द्वार में प्रविष्ट हुआ और फिर कब द्वार मण्डप में आ पहुँचा, इसका उसे पता ही नहीं चला। परन्तु, आचार्य शिष्य इस ओर से सवथा अवगत था, अतएव वह मजरिका की इस असावधानी पर एक मीठी चुटकी ले, हल्के से हँस पड़ा।

मंजरिका रथ से उतर आचार्य शिष्य के हाथ का अवलम्ब ले अपने अन्तर में प्रस्फुटित उत्साह की तत्परता से सोपान पर अभी केवल दो पग ही रख पाई थी कि इसी मध्य द्रुत गति से आता हुआ एक अन्य वाहन भी सहसा द्वार मण्डप में आ रुका। उसकी ध्वनि सुन दोनों ही हतप्रभ हो रहे। यहाँ तक कि उन्हें एक दूसरे की ओर देखने का भी अवसर नही मिल सका। मंजरिका ने तत्परता से आचार्य शिष्य का हाथ छोड़ दिया और वह उससे तनिक दूर हट खड़ी हो गई। वह अब भी चित्रवत हो द्वार मण्डप की ओर देख रही थी, तथा आचार्य शिष्य तो संकोचवश अपने में सिमटता ही जा रहा था कि इसी मध्य रथ से उतर तीन भव्य आकृतियाँ स्मित वदन उनकी ओर हो लीं। आचार्य शिष्य भी सोपान की ओर से मुख फेर उनकी ओर बढ़ लिया तथा उनके समीप जा अभिवादन स्वरूप नतमस्तक होता खड़ा हो गया।

ये तीनों राजपथ पर पीछे-पीछे आते महापौर श्रेणिय रत्न, सेनापति सिंह तथा उनकी पत्नी देवी रोहिणी के अतिरिक्त और कोई नही थे। देवी रोहिणी के मुख पर अभी भी मुस्कान खेल रही थी तथा वह शेष दो की अपेक्षा पर्याप्त उत्साही प्रतीत हो रही थी। मंजरिका के अत्यन्त समीप जा उसने अत्यन्त आत्मीयता के सौहार्द भाव से पूछा—"क्यों, कुमारी प्रसन्न तो हो ?" मंजरिका उसके प्रश्न का आशय समझ अपने में और संकुचित हो रही तथा उसी संकोच भार से उसके ओष्ठ छोर किंचित मुस्कान से प्रसारित हो रहे। किसी प्रकार साहस कर उसने अत्यन्त धीमे स्वर में, जिसे कदाचित् वह स्वयं भी न सुन सकी हो, उत्तर दिया,—"हाँ, देवी की कृपा है।"

मंजरिका के इस उत्तर से देवी रोहिणी के मुख की हल्की मुस्कान भी कुछ प्रगाढ़ हो रही। फिर उसने आचार्य शिष्य की ओर मुख कर प्राय: उसी आत्मीय भाव से पूछा—"क्यों आयुष्मान्, वैशाली में अब मन तो लग गया न ?"

आचार्य शिष्य प्रश्न के आत्मीय भाव का स्पर्श कर पुलकित हो उठा। नत मस्तक

हो प्रायः आर्द्र कण्ठ से बोला—"देवी, यहाँ सभी का जो सहज स्नेह प्राप्त हुआ है, उसके सम्मुख तो देवलोक की कृपा भी तुच्छ है।"

परन्तु इसी मध्य महावीर श्रेणियरत्न ने परिवाद के से ढंग में कहा—"बन्धु-वर सिंह, बन्धु ध्वजधर तो अपने कार्य में इतने दत्तचित्त हो उठे है कि दर्शन भी दुर्लभ हो गए है।"

आचार्य शिष्य अपने स्वाभाविक संकोच भाव में उसका उत्तर देने को उद्यत ही हुआ था कि इसी मध्य सेनापति सिंह ने गर्व से ग्रीवा ऊपर उठा समुस्कान कहा—"परन्तु, बन्धुवर श्रेणिय तुम यह क्यों भूल जाते हो कि वह भी तो आचार्य बहुलाश्व का ही एक शिष्य है।"

इक्कीस

सरल हृदय गणाध्यक्ष राजा चेटक देवी शिष्या के नृत्य कौशल एवं उसके प्रति भारी जन उत्साह को देख अत्यधिक उल्लसित हो उठे। देवी आम्रपाली ने एक उपेक्षिता-प्राय दासी कन्या को कला में इस प्रकार दीक्षित कर, वैशाली समाज के परम्परारूढ़ जीवन में जो यह अभिनव प्रयोग किया था, उसे इस परिमाण में फलीभूत होते देख नृत्य की समूची अवधि में वह मन ही मन उस देवी स्वरूपा के प्रयास को सराहते रहे, और साथ ही सोचते रहे कि उपेक्षित दासो के उत्थान के सम्बन्ध मे आयुष्मान् सिंह, देवी रोहिणी एवं महापौर श्रेणियरत्न प्रारम्भ ही से जो अपनी धारणा व्यक्त करते आ रहे थे, वह निस्संदेह अक्षरशः साकार रूप में आ प्रकट हुई है। साथ ही, उन्हें इन सभी की यह युक्ति भी सर्वथा तर्क सगत ही प्रतीत हुई कि मगध की बढ़ती हुई साम्राज्य लिप्सा को देखते हुए वज्जिसंघ की जन-शक्ति का नये सिरे से संगठन किया जाना न केवल वांछनीय, वरन् अत्यन्त अनिवार्य भी है। परन्तु यह तभी सभव है जबकि दास वर्ग के रूप मे नष्ट-विनष्ट होती हुई इस अपार जनराशि को सामान्य समाज में प्रविष्ट कर लिया जाए। गंगातट के जर्जर नाविक बेड़े को नवजीवन प्रदान कर सेनापति सिंह ने एक दिन जब वज्जिसंघ के गणमान्य कर्णधारो की अनौपचारिक मन्त्रणा के मध्य सहसा यह विचार प्रगट किया था तो उसे सुन सभी अवाक् रह गए थे। कुछ को तो जैसे अपने कानों पर ही विश्वास नही हुआ; और कुछ ने जैसे हतप्रभ हो, सन्देह की दृष्टि से सेनापति सिंह की ओर देखा। अन्य की बात छोडो, सिंह सेनापति के विचारो का सदा ही स्वागत करने वाले स्वय गणाध्यक्ष को भी यह प्रस्ताव नही रुचा था और उसे सुन वह भारी दुविधा का अनुभव कर उठे थे। तो भी वह अपने उच्च पदोचित गम्भीर भाव से उस समय केवल मौन ही बैठे रहे। गणसंवाहक सामन्त भजदेव की तनी हुई भृकुटी की ओर देखने का भी जैसे उन्हे साहस नही हो सका। गोष्ठी कक्ष में उपस्थित अन्य समन्तों एव श्रेष्ठी जनों की भी यही दशा हुई। उनकी मुख मुद्रा को देख तो तब कुछ ऐसा लगा, जैसे कोई उन्हे अनायास ही कचोंट गया हो और उस पर वे अत्यधिक उत्तेजित हो उठे हों। पर सिंह सेनापति अपने विचार-विशेष को प्रगट कर अत्यन्त धैर्य भाव से, मस्तक नत कर ऐसे बैठे रहे, जैसे उन्होंने कुछ भी तो अप्रत्याशित नहीं कहा।

मंत्रणा गोष्ठी के विशिष्ट उच्चासन पर उस समय स्वयं गणाध्यक्ष ही आसीन थे, परन्तु सभी उपस्थित जनों के उस गम्भीर रूप को देख वह किसी से उस विचार-विशेष पर निज का मंतव्य प्रकट करने का अनुरोध न कर सके। अतएव

सभासदों से युक्त वह कक्ष पर्याप्त समय तक मौनाछन्न ही रहा। हाँ, यदा-कदा कोई सामन्त अथवा श्रेष्ठीजन क्रोधाभिभूत मिश्रित तिरस्कार की दृष्टि से सेनापति सिंह की ओर अवश्य देख उठता।

अंत में एक दृढ परन्तु ओजपूर्ण कण्ठ स्वर ने कक्ष में छाए मौन को भंग किया। यह कण्ठ स्वर स्वयं गणसंवाहक का था। वह गणाध्यक्ष के समीप ही आसीन थे। सहसा उनके कण्ठ स्वर को सुन, सभी अपनी दृष्टि ऊपर उठा, उत्सुकता से उनकी ओर देख उठे। अपने उच्चपदोचित गम्भीर स्वर को संयत करने का सा प्रयास करते हुए वह बोले—"आयुष्मान् सिंह, तुम्हारा यह प्रस्ताव तो सर्वथा दायित्व हीनता का परिचायक है। उसे सुन मुझे तो कुछ ऐसा लग रहा है कि कहीं महाबलाधिकृत सदृश गौरवशाली पद के लिए किसी अन्य योग्य व्यक्ति की ही खोज न करनी पड जाए।"

गणसंवाहक के मुख से यह सुन स्वयं सिंह तो सर्वथा अप्रभावित रह, प्रकृतिस्थ ही रहे; परन्तु शेष सभी हतप्रभ हुए बिना न रह सके। उन्हें लगा, सिंह का प्रस्ताव तो अप्रत्याशित था ही, किन्तु गणसंवाहक ने तो जैसे यह स्पष्ट चुनौती ही दे डाली। किसी आशंका से वे सिहर से उठे और चिंता से उनकी मुख आभा मलिन हो रही। कारण, सिंह ने तक्षशिला विद्यापीठ से वापस आ वज्जि यौधेयों का जिस ढंग से सगठन किया था, उसे सभी ने मुक्त कण्ठ से सराहा था। और मगध साम्राज्य लिप्सा को देखते हुए अब उस ओर से जो निरन्तर संकट दीख रहा था, उस स्थिति विशेष में उनकी सेवा केवल अनिवार्य बनकर रह गई थी। फिर वह एक निर्वाचित पद था। अतएव उससे निश्चित ही एक नया संकट उत्पन्न होने की आशंका बन उठी। इसके अतिरिक्त सिंह ने एक अन्य नया प्रयोग भी किया था। मगध के गत आक्रमण के समय, वैशाली की महिलाए भी आहत रोगियों की सेवा-सुश्रुषार्थ परिचारिकाओं के रूप में युद्ध शिविरि में प्रविष्ट हो चुकी थी। वैशाली के जीवन में यह भी सर्वथा अभिनव प्रयोग था, जिस पर प्रारम्भ में सभी ने नाक-भौ सिकोड़ी; कुछ उत्तेजित भी हो उठे थे। परन्तु युद्ध रत होने के कारण उस समय कोई कुछ नहीं बोल सका था। और युद्ध समाप्ति के पश्चात् जब सभी ने इस प्रयोग की उपयोगिता को देखा तो उसे केवल स्वीकार करते ही बना। और, देवी रोहिणी के नेतृत्व में अब वैशाली में पृथक् से एक परिचारिका विभाग की स्थापना हो चुकी थी, जिसमें अधिकांश लिच्छवी महिलाएं सोत्साह योग प्रदान कर रही थीं। अतएव इन सभी विशिष्ट कारणों से गण शासन में सिंह सेनापति का उपस्थित रहना अनिवार्य प्रतीत होने लगा।

सिंह का विचार सभी को अरुचिकर प्रतीत हुआ था, और उस पर वे उत्तेजित भी हो उठे थे। परन्तु किसी ने यह स्वप्न में भी अनुमान नहीं लगाया था कि गणसंवाहक उस पर अपने विरोध को प्रगट करते हुए इस सीमा तक भी पहुँच जाएंगे। अत: वे दुविधा वश मौन हो रहे। परन्तु सेनापति सिंह मौन न रह सके। अत्यन्त विनय भाव से पूर्व से भी अधिक नत-मस्तक हो, वह बोले—"आर्य अग्रज हैं। जितनी मेरी आयु है, उससे भी कहीं अधिक वर्षों तक उन्होंने सदा संकट-ग्रस्त इस गण-शासन का न केवल गौरवपूर्ण मार्ग-दर्शन किया है वरन् यशोगान से लहराती, कीर्तिमान धवल-सिंह-पताका भी उनके दृढ़ हाथों में सुरक्षित रही है, अतएव उनके सम्मुख मैं विनय से केवल नत-

मस्तक हो रहूँ, मेरे लिए यही शोभास्पद है । उनके आदेश की अवज्ञा करूँ, भला यह साहस मुझे किस प्रकार हो सकता है ।" यह कहते हुए उन्होने अपनी दृष्टि तनिक ऊपर उठा सामन्त भंजदेव की ओर देखा, तथा तत्पश्चात् पुनः मस्तक झुका मौन हो बैठ गए ।

सिंह सेनापति के इस विनय भाव से सभी सभासद अत्यन्त प्रभावित हुए और उत्सुकता से सभी ने अपनी दृष्टि पुनः वयोवृद्ध सामन्त भंजदेव की ओर फेर ली। स्वयं सामन्त भंजदेव भी उनके इस विनय भाव से प्रभावित हुए बिना न रहे । परन्तु साथ ही, सिंह सेनापति ने परोक्ष रूप में सहर्ष पद मुक्त होने का जो संकेत किया था उससे उनकी मुख मुद्रा गम्भीर हो गई । कुछ समय तक तो वह ध्यानस्थ हुए स्थिति पर मनन करते रहे, फिर पूर्ववत् ओज तथा कुछ-कुछ रोष पूर्ण कण्ठ स्वर मे, जिसमें अनुग्रह का सा पुट भी विद्यमान था, बोले—"परम्पराओं के हित में आयुष्मान् यदि अपना विचार वापस ले लें तो यह निश्चय ही श्रेयस्कर एवं स्वागत योग्य होगा ।"

महाबलाधिकृत सिंह सामन्त भंजदेव के प्रस्ताव का उत्तर देने को उद्यत ही हुए थे कि इसी मध्य गणाध्यक्ष के वाम ओर वाले आसन पर आसीन एक देवी स्वरूपा का कण्ठ-स्वर सभी का ध्यान अपनी ओर आकृष्ट कर उठा । सर्वथा सहज ढंग से वह बोली—"आर्य, विचार कोई ऐसी वस्तु नहीं जिसे एक बार अभिव्यक्त कर पुनः स्वेच्छा से लौटा लिया जाए । पुनश्च, वैशाली की एक पुनीत परम्परा है कि सभी अपना मत व्यक्त करने के लिए स्वतन्त्र हैं और उसको स्वीकार करना अथवा न करना सभासदों का निज का अधिकार है; सामान्य अधिकार नही, वरन् आधार भूत है । अतएव बन्धुवर सिंह ने सभी के सम्मुख जो विचार प्रस्तुत किया है, उसे केवल दायित्व हीनता का परिचायक कह, उसकी उपेक्षा नहीं की जा सकती । उस पर अवश्य ही विचार होना चाहिए और यदि हमने ऐसा नहीं किया तो यह गौरवशाली गणतन्त्र की सुस्थापित स्वस्थ परम्परा के विरुद्ध आचरण होगा ।"

यह कह वह तनिक रुकी; और फिर गणाध्यक्ष की ओर देखते हुए पूर्व से भी अधिक सहज ढग में बोली— 'वन्दनीय आर्य, वैशाली मे आदेश का नहीं वरन् पारस्परिक परामर्श एवं विचार मंथन के फलस्वरूप निकले नवनीत सदृश निष्कर्षों का शासन है ।"और यह कहते हुए उसने समुस्कान नेत्रकोरो से सामन्त भजदेव की ओर देखा ।

दस वर्ष से भी अधिक पूर्व का यह गोष्ठी चित्र गणाध्यक्ष चेटक के नेत्रों के सम्मुख आ, स्थिर हो रहा। परोक्ष रूप में सिंह सेनापति के विचार का अनुमोदन कर, तथा तत्पश्चात् देवी शिष्या के रूप में उसे साकार बना उसने अब वैशाली समाज के सन्मुख अत्यन्त नाटकीय ढंग से जो स्थिति उत्पन्न कर दी थी, उसके गत्यावरोधपूर्ण स्वरूप को देख एक बार को वह रात्रि के एकाकी वातावरण में सिहर से गए । यह बात नहीं कि वह इस सारी स्थिति से अनभिज्ञ रहे, बल्कि कालान्तर में सिंह सेनापति द्वारा प्रस्तुत तर्क को वह तथ्य रूप में स्वीकार कर उसे एक प्रकार से मान्यता भी प्रदान कर चुके थे। उधर, इस सम्बन्ध में विचारों की दृष्टि से सिंह को महापौर श्रेणियरत्न तथा कई अन्य सामन्तों एवं श्रेष्ठीजनों का भी समर्थन प्राप्त हो चुका था। तो भी वे इस दिशा में गणाध्यक्ष के सत्परामर्श पर संघर्ष को टालते आ रहे थे। और सम्भव

है वे किसी उचित अवसर की प्रतीक्षा में उसे और भी टालते रहते, परन्तु सद्धर्म से अनुप्राणित हो, सहसा बौद्ध संघ में प्रविष्ट होकर देवी आम्रपाली ने उसे सर्वथा सन्निकट ही ला उपस्थित कर दिया। अब उसकी उपेक्षा भी असम्भव थी। तथापि वह मन ही मन व्यग्र भाव से किसी उचित युक्ति की खोज में व्यस्त हो उठे।

नृत्य से लौटने पर रात्रि का अवशिष्ट रहा पूरा एक प्रहर उन्होंने अपने पर्यंक पर केवल करवटें बदलते ही बिताया। इस मध्य एक-एक कर अनेक विचार उनके मस्तिष्क में आए, टकराए और चले गए ; और वह उन्हें एक तटस्थ दर्शक की भाँति बस देखते भर रहे। तत्काल कोई भी ऐसी युक्ति नहीं दीख पड़ी जो समस्या का समाधान कर सके। इस मध्य एक-एक कर कई सौम्य मुखी परिचारिकाएं बारी-बारी से आ अति आत्मीय भाव से अपने वयोवृद्ध स्वामी की कुशल क्षेम पूछ गईं। परन्तु उनमें से किसी की भी उपस्थिति से वह न तो सांत्वना का अनुभव कर सके और न उन्होंने किसी बाधा का ही अनुभव किया। पर वे सभी उन्हें अपने पितामह तुल्य समझती थीं, अतः उनकी इस मनोदशा को देख उन सभी का चिंतित हो उठना स्वाभाविक ही था।

गणाध्यक्ष जब अपने अनवरत विचारों के भार को लेटे-लेटे सहन नहीं कर सके तो वह पर्यंक से उठ उस कक्ष की सीमित परिधि में ही चारिका व्यस्त हो रहे। परन्तु फिर भी विचारों का प्रवाह उग्रतर होता चला। अन्त में विवश हो वह अपने दुर्ग की वाटिका के खुले वातावरण में आ पहुँचे। वहाँ इस समय तक अभ्यागत प्रत्यूष बेला के स्वागत में वृक्षों पर पक्षी-कलरव प्रारम्भ हो चुका था। उसे सुन वह जैसे सचेष्ट हो उठे। समय का अनुमान कर उन्होने सेवक छंदक को पुकारा। छंदक तो मानों छाया की भाँति ही न जाने कब से उनके साथ लगा हुआ था। वह तत्काल ही उनके सम्मुख आ उपस्थित हुआ और स्वामी के आदेश को शिरोधार्य करने की इच्छा से नत-मस्तक हो, निश्चल भाव से खड़ा हो गया। परन्तु गणायध्क्ष आदेश से पूर्व अपने किसी निश्चय पर पुनर्विचार करने में तल्लीन हो गए। अन्ततः उन्होंने आदेश किया—"छंदक, वाहन प्रस्तुत करो।"

छंदक को स्वामी के आदेश पर कुछ आश्चर्य हुआ, पर वह कह भी क्या सकता था। जब वह चला गया तो गणाध्यक्ष जैसे एक बार और अपने निश्चय के औचित्य पर मानों दृढ़ता से विचार करने लगे। अन्त में वह अपने को ही सुनाते हुए बोले—'चेटक, अब इसके अतिरिक्त कोई और उपाय भी तो नहीं। गणाध्यक्ष का यह पद जितना गौरवपूर्ण है, उसका निर्वाह सचमुच उतना ही कठिन है।'

गणसंवाहक सामन्त भंजदेव इस प्रातः बेला में भी अपने विशाल प्रकोष्ठ में अन्य कई सामन्तों एवं श्रेष्ठी जनों से घिरे मन्त्रणा व्यस्त थे। देवी शिष्या ने अब प्रतिदिन ही सन्ध्या समाज के आयोजन का निश्चय किया है, जब से उन्हें यह संवाद मिला है, तभी से मन में उठा एक उग्र भाव उन्हें अन्दर ही अन्दर कचोटे जा रहा है। अतएव वह तभी से विरोधी पक्ष के सारे प्रयत्नों को निष्फल करने के लिए जैसे कृत संकल्प हो उठे। इस समय भी वह महाश्रेष्ठी मणिरत्न तथा अन्य सामन्त व श्रेष्ठीजनों से घिरे कदाचित् इसी सम्बन्ध में विचार-विनिमय व्यस्त थे कि सदेशवाहक कपिल ने आकर

सूचना दी—"आर्य, गणाध्यक्ष राजा चेटक प्रासाद में पधारे हैं।"

सभी को यह संवाद अप्रत्याशित जैसा लगा, और वे हतप्रभ हो उठे। यही मनोदशा स्वयं गणसंवाहक की भी हुई। वास्तव में कई उपस्थित जन तो संदेशवाहक की इस सूचना पर विश्वास ही नहीं कर पा रहे थे। सामन्त वीरभद्र ने अविश्वास का सा भाव प्रकट कर कहा—"आर्य, मुझे तो इसमें कुछ सन्देह प्रतीत होता है। सम्भव है, गणाध्यक्ष के रूप में कोई छद्मवेषी ही चला आया हो। अतएव आर्य उनका स्वागत करने एकाकी न जाएँ।" सामन्त कार्तिकेय ने सामन्त वीरभद्र के संदेह का समर्थन कर, कहा —"आर्यवर, विरोधी पक्ष अपनी सफलताओं पर अवश्य ही गर्व का अनुभव कर उठा है। सिंह एवं श्रेणियरत्न अपनी इस अभूत सफलता पर अत्यधिक आत्म विश्वास का अनुभव कर, निश्चित ही दम्भी हो चले हैं, अतः यदि वे कोई ऐसा पग उठा भी लें तो कोई आश्चर्य नहीं।"

परन्तु गणसंवाहक सामन्त भंजदेव ने उन सभी संशयों का निराकरण करते हुए गम्भीर स्वर में कहा—"नहीं आयुष्मानो, ऐसा कदापि नहीं हो सकता। भला सामन्त भंजदेव के यहाँ इस प्रकार कोई छद्मवेषी भी आने का दुस्साहस कर सकता है।"

यह कह उन्होंने जैसे सगर्व अपने शीर्ष को ऊपर उठाया। फिर बोले—"आयुष्मानो, एक बार मैंने कहा था न कि गणाध्यक्ष को एक दिन अवश्य ही अपनी इस भयंकर भूल पर पुनर्विचार करना होगा; और वह कदाचित् इसी उद्देश्य से आज गणसंवाहक के प्रासाद में उपस्थित हुए हैं।"

और यह कह उनके मुख पर जैसे किसी अभूत विजय का हर्ष भाव सजीव हो उठा।

गणसंवाहक के इस मन्तव्य को सुन सभी उस पर जैसे गम्भीरता से मनन करने लगे। किन्तु श्रेष्ठी भित्तविदक तत्परता से कह उठे—"आर्य का यह अनुमान ठीक ही प्रतीत होता है। पर मेरा एक नम्र निवेदन है कि गणाध्यक्ष के सम्मुख हम सभी का यहाँ इस प्रकार उपस्थित रहना उचित नहीं। सम्भव है हम सभी को देख वह संकोच-वश अपना अभिप्राय प्रगट ही न कर सकें।" यह कह, उन्होंने साशय सभी की ओर देखा। परन्तु अन्य सभी श्रेष्ठी के इस प्रस्ताव का वास्तविक आशय समझ, ठहाका दे हँस पड़े। श्रेष्ठी भितविदक जैसे अपने अन्तर की ही किसी दुविधा से कुछ व्यग्र हो रहे।

महाश्रेष्ठी मणिरत्न तो इस सारी अवधि मौन ही रहे।

गणाध्यक्ष को सामन्त भंजदेव के प्रासाद में प्रविष्ट हुए अभी कुछ पल ही बीते होंगे कि इसी मध्य उनके आगमन का समाचार विद्युत गति से सर्वत्र फैल गया। इस प्रातः बेला में जब कतिपय व्यक्तियों ने उनके भद्र वाहन को त्वरित गति से राजपथ पर जाते हुए देखा तो वे विस्मय से उसकी ओर देखते रह गए। परन्तु रात्रि का पहरा देकर लौटते हुए गण-पुरुषों ने जब गणाध्यक्ष का रथ इस प्रकार अंगरक्षकों के बिना ही जाते देखा तो वे अपने दायित्व भार की ओर से उदासीन न रह सके। उनमें से कुछ तो तत्परता से उधर ही की दिशा में दौड़ लिए तथा शेष अपने प्रधान को इस स्थिति विशेष से सचेष्ट करने के लिए महापौर श्रेणियरत्न के प्रासाद की ओर प्रस्थान कर उठे।

सुरक्षा प्रधान आचार्य शिष्य भी अभी-अभी पर्यंक त्याग प्रासादोद्यान के एक शिलाखड पर आ कर बैठा था। उसके निद्रा-अलस नेत्रों को देख सहज ही में यह अनुमान लगाया जा सकता था कि उसने भी रात्रि का अवशिष्ट प्रहर बिना सोए ही बिताया है। मजरिका से विदा ले जब वह अपने कक्ष की ओर गया था तो वह तभी उसके अन्तर में व्याप्त किसी भाव विशेष को ताड गई थी, अतः वह कई बार अपने पर्यक से उठ, नभमण्डल से प्रस्फुटित होती सस्मित ज्योत्सना की दृष्टि बचा, आचार्य शिष्य के निकट जा, उसकी कुशल क्षेम पूछने गई, परन्तु आचार्य शिष्य ने प्रत्येक बार ही उससे कहा—"देवी आश्वस्त रहें, मेरा मन सर्वथा स्वस्थ है।" और इस उत्तर को सुन जब मंजरिका लौटती तो उसका मन हर बार ही असन्तोष एवं नैराश्य से बोझिल हो रहता। उसे यह दृढ विश्वास हो गया कि आचार्य शिष्य इस समय अवश्य ही किसी गम्भीर समस्या में ग्रस्त हैं, परन्त साथ ही वह उसे प्रकट भी नहीं किया चाहते। वह इस समय भी आचार्य शिष्य के निकट खड़ी थी। यूं प्रगट में उसकी दृष्टि एक पुष्प एवं उस पर मंडराते भ्रमरों पर केन्द्रित थी, परन्तु वास्तव में वह नेत्रकोरों से आचार्य शिष्य के मुख पर निरन्तर उभरते एवं विलीन होते भावों को देख रही थी। उसकी इस समय की मुख-मुद्रा को देख वह कोई प्रश्न करने का भी साहस नही कर सकी।

अंत में आचार्य शिष्य ने मौन भंग कर मंजरिका की ओर दृष्टि करते हुए कहा—"शुभे, यदि बता सको तो एक बात पूछूं?"

सहसा यह प्रश्न सुन मंजरिका का मन न जाने क्यो आशंकाग्रस्त हो उठा। परन्तु, दूसरे ही क्षण वह प्रश्न का स्वरूप जानने की उतावली मे कह उठी—"यदि बताने की क्षमता हुई तो अवश्य बताऊँगी, आचार्य शिष्य!"

"परन्तु यह 'यदि' क्यों, शुभे? तुम्हें बताना ही होगा।"

आचार्य शिष्य ने यह किंचित मुस्कराते हुए कहा था। मंजरिका भी उसी प्रकार समुस्कान बोल उठी—"इसलिए आचार्य शिष्य कि आप ने स्वय 'यदि' कह मेरी क्षमता में अविश्वास जो प्रगट किया है।"

आचार्य शिष्य मजरिका का यह उत्तर सुन हँसे बिना न रह सका। आचार्य शिष्य की इस सरल, उन्मुक्त हँसी को देख मजरिका भी हंसे बिना न रही। इस हंसी के मध्य दोनों ही ने एक-दूसरे की ओर देखा। अन्त में मंजरिका ने अपनी पराभूत दृष्टि नत कर ली। इस पर आचार्य शिष्य ने उसकी दोनों बाहुओं को पकड़ तनिक विनोद के से भाव में कहा—"मैं यह जानता हूँ कि श्रेष्ठी-पुत्री अत्यन्त सावधान हैं; परन्तु वह इतनी सावधान हैं, यह तो मुझे आज ही विदित हो सका है।"

मंजरिका ने अपनी इस प्रशस्ति के उत्तर में मौन रह, आचार्य शिष्य को जैसे सचेष्ट कर, कहा—आचार्य शिष्य, कदाचित् कुछ पूछ रहे थे?"

इस पर आचार्य शिष्य की मुख-मुद्रा पुनः गंभीर हो उठी। बोला—"शुभे मैं कुछ पूछ नहीं रहा था, वरन् यह कह रहा था कि कल्पना करो, तुम एक वाटिका में हो और तुम्हें उसके एक लता मण्डप से दूसरे कुञ्ज की ओर जाना है; और जाना भी अनिवार्य है, परन्तु मार्ग में एक बाधा आ उपस्थित हुई है।"

आचार्य शिष्य की इस बात को सुन मंजरिका को हंसी आया चाहती थी, किन्तु

उसकी गम्भीर मुख मुद्रा को देख वह हँसने का साहस न कर सकी। उल्टे उसके नेत्रों में कुछ कौतूहल का सा भाव उभर आया। इसी मध्य आचार्य शिष्य ने पुनः आगे कहना प्रारम्भ किया—"और वह बाधा यह है देवी कि उन दोनों के मध्य जो लता द्वार है, उस पर मधु-मक्खियों का छत्ता है। अब बताओ तुम क्या करोगी ?"

आचार्य शिष्य का प्रश्न समाप्त होते ही मंजरिका जैसे सोत्साह बोल उठी—"आचार्य शिष्य, भला यह भी कोई समस्या हुई, यह तो बड़ी सरल-सी बात है कि मधु-मक्खी के उस छत्ते को हटा दिया जायगा।"

"और उस छत्ते के हटाने से जानती हो क्या होगा, शुभे ?"

"जानती हूँ, आचार्य शिष्य, वह भी जानती हूँ; यही न कि मधु मक्खी प्रहार कर उठेंगी।"

"देवी, यह तुमने उचित ही कहा। पर शुभे, उससे पहले की एक बात तो तुम भूली ही जा रही हो।"

"वह क्या आचार्य शिष्य ?" मंजरिका ने उत्सुकता से पूछा। उसकी दृष्टि-रेखा आचार्य शिष्य के मुख पर टिक गई। आचार्य शिष्य ने अपने पलक ऊपर उठाते हुए कहा—"प्रणय-व्यस्त मधु मक्खियों का विछोह जो हो जाएगा, हमें उस ओर भी तो कुछ ध्यान देना होगा।"

आचार्य शिष्य के मुख से यह सुन मंजरिका स्तब्ध रह गई; परन्तु साथ ही हँसे बिना भी न रह सकी। तरल कण्ठ स्वर में बोली—"ओह, तो आचार्य शिष्य अब सुरक्षा प्रधान से कवि बन रहे हैं, धन्य है, धन्य है।" यह कहते हुए मंजरिका का समूचा अन्तराल कुहुक उठा; अंग-संधियां खुल सी गईं और समूचा गात गदरा-सा गया।

परन्तु आचार्य शिष्य इस समय इस सब कुछ ही की केवल उपेक्षा कर रह गया। उसकी मुख मुद्रा गम्भीर हो उठी। तत्पश्चात अत्यन्त व्यग्र भाव से बोला—"शुभे, यदि कोई हो तो उससे वाहन प्रस्तुत करने को कहो, मुझे अभी तुरन्त बन्धुवर सिंह के यहां जाना होगा।"

मंजरिका यह सुन अवाक् रह गई।

इसी मध्य दो सशस्त्र गण-पुरुष सैनिक अभिवादन कर सुरक्षा प्रधान के सम्मुख आ खड़े हुए। उनके मुख पर व्यग्रता का भाव देख सुरक्षा प्रधान ने उत्सुकता से पूछा—"क्यों आयुष्मान क्या हुआ ?"

इस पर उनमें से एक सैनिक ने उसे सारी बात कह सुनाई। आचार्य शिष्य उसे सुन, जैसे और अधिक दुविधा में पड़ गया। वास्तव में वह निश्चय नहीं कर पा रहा था कि पहले गणसंवाहक के प्रासाद की ओर जाया जाए अथवा बन्धुवर सिंह के यहां। परन्तु जब मंजरिका ने आकर कहा—"आचार्य शिष्य रथ प्रस्तुत है।" तो फिर, उसे तत्परता से एक निश्चय करना ही पड़ा। रथारूढ़ हो उसने उनमें से एक सैनिक को निकट आने का संकेत किया, और उसे आदेश दिया—"नगर द्वार पर जो भी इस समय नियुक्त हो, उससे कहो, सुरक्षा प्रधान का आदेश है कि कपाट तुरन्त बन्द कर दिए जाएं; और सुनो, जब तक उसे कोई दूसरी आज्ञा मिले, तब तक वह उन्हें बन्द ही रखे।" सैनिक यह सुन, तत्परता से अश्वारूढ़ हो उधर की ओर दौड़ने को उद्यत ही हुआ था

कि आचार्य शिष्य उसे टोक पुनः कह उठा—"और देखो, तब तक तुम्हें भी वहीं रहना होगा। जो भी तुम्हारे साथ हैं, सभी वहीं के लिए तत्काल प्रस्थान करें; और हाँ देखो, कोई कुछ भी क्यों न कहे, नगर द्वार किसी के लिए भी न खुले, यहाँ तक कि स्वयं गणाध्यक्ष के लिए भी नहीं।"

मंजरिका यह सुन घबरा-सी गई परन्तु सैनिक यह सब कुछ सुन जैसे अत्यधिक सचेष्ट हो उठा; और अंग-प्रत्यंग कर्त्तव्य के निष्ठा भाव से दृढ़ हो रहे। किन्तु अभी दूसरा सैनिक आचार्य शिष्य के संकेत पर वहीं खड़ा था। उसे सम्बोधित कर आचार्य शिष्य ने कहा—"और तुम तत्काल गणसंवाहक के प्रासाद की ओर प्रस्थान कर, सभी सैनिकों से सजग रहने को कहो।"

मंजरिका इन आदेशों को सुन स्तब्ध हो उठी, और तत्काल कुछ भी समझने में असमर्थ रही। हाँ, इतना अवश्य समझ गई कि कदाचित नगर की स्थिति अप्रत्याशित रूप में अति गम्भीर हो उठी है, अन्यथा नगर द्वार को इस प्रकार बन्द करने का आदेश कदापि न दिया जाता और न ही गणसंवाहक के प्रासाद की ओर इस समय कोई सैनिक भेजा जाता। गणाध्यक्ष भी वहाँ गए हुए हैं, यह बात सुनने से वह वंचित रह गई थी। और, आचार्य शिष्य के वाहन ने जब सावेग बाहर की ओर प्रस्थान किया तो वह आशंका से एक बारगी आपाद शीर्ष प्रकम्पित हो उठी। उसे इस समय केवल एक बात ही सूझी। वह सीधी ही बन्धुवर श्रेणियरत्न के कक्ष की ओर दौड़ ली।

बाईस

गणाध्यक्ष राजा चेटक का भद्र वाहन जब सामन्त भंजदेव के प्रासाद से बाहर निकला, तो पर्याप्त दिन चढ़ चुका था। परन्तु इतनी देर तक हुई वार्ता अथवा मन्त्रणा का अन्ततः निष्कर्ष क्या निकला ? इसका गणाध्यक्ष के मुख से जैसे स्पष्ट आभास मिल रहा था। वह कुछ, कुछ क्या, वास्तव में अत्यन्त उन्मन प्रतीत हुए।

यूं, गणसंवाहक स्वयं ही उनके स्वागत को आस्थानागार में दौड़े आए थे। उन्होंने उनके आगमन पर भारी हर्ष भी प्रगट किया था; और फिर अति उत्साह से वह उन्हें अपने निजी कक्ष में भी लिवा ले गए थे। और अन्त में जब गणाध्यक्ष चलने लगे तो सामन्त भंजदेव उनके साथ न केवल द्वार मण्डप तक आए, वरन् उनका रथ जब तक दृष्टि से ओझल न हुआ, वह वहीं खड़े रह उनकी ओर देखते रहे। किन्तु, राजपथ पर आते ही गणाध्यक्ष रथ के सहारे अपनी पीठ टेक, पीछे की ओर जैसे लुढ़क से गए। उसी प्रकार लेटे रह न जाने क्या कुछ सोचते रहे। अन्ततः उनके मुख से निकला भारी निश्वास रथ के अन्तः भाग में फैल रहा; साथ ही उनकी विचार तन्द्रा भग हो उठी। नेत्र उठा बाहर की ओर झाँका तो दृष्टि जैसे सचेष्ट हो रही; मस्तिष्क में भी कोई विचार कौंध सा-गया। उद्विग्न हुए से कण्ठ स्वर में बोले—"छंदक, रथ महाबलाधिकृत के प्रासाद की ओर ले चलो।"

स्वामी के मुख से आज सिंह सेनापति के लिए 'महाबलाधिकृत' शब्द को सुन छन्दक को कुछ आश्चर्य हुआ। कारण, वह उन्हें सदा ही आयुष्मान् सिंह कह, सम्बोधित किया करते थे। अतः, वह सोचने लगा—'वैशाली के घटना प्रवाह ने अवश्य ही कोई गम्भीर मोड़ ले लिया है, तभी तो…।'

रथ कभी का उनके दुर्ग वाले मार्ग को पीछे छोड़ चुका था। अतः छंदक ने तत्परता से अश्वों की वल्गा खींच, उसे पीछे की ओर मोड़ लिया। गणाध्यक्ष फिर रथ का सहारा ले पीछे की ओर लेट से रहे। और इसी के साथ उनके विचारों ने भी जैसे एक निश्चित प्रवाह का रूप ग्रहण कर किसी विशेष निष्कर्ष पर पहुँचने का अन्तिम प्रयास किया।

आचार्य शिष्य ध्वजधर ने स्पष्ट हृदय एवं विवेकपूर्ण ढंग से अन्तर और बाह्य दोनों प्रकार की स्थिति का विश्लेषण कर, जब सिंह सेनापति की ओर दृष्टि उठाई तो उसे लगा, जैसे उसके मन का कोई भारी भार स्वतः हल्का हो गया है। सन्तोष की साँस ले वह कुछ क्षणों तक सिंह की ओर ही देखता रहा। उसे कुछ ऐसा आभास हुआ कि उसके अग्रज गुरुबन्धु के मुख पर गर्व का सा भाव उभर आया है। यह देख, उसे

और भी अधिक सन्तोष का अनुभव हुआ। सिंह सेनापति कुछ समय तक तो सर्वथा मौन रह, मुख नत किए ही ध्वजधर द्वारा प्रस्तुत समस्या एवं उसके विश्लेषण पर गम्भीरता से मनन करते रहे ; तत्पश्चात् उन्होंने सहसा अपनी दृष्टि उठा, ध्वजधर के मुख पर केन्द्रित कर दी। ध्वजधर की दृष्टि नत हो रही। पर, साथ ही वह अपने अग्रज गुरुबन्धु का मन्तव्य सुनने के लिए उत्सुक हो उठा। सिंह सेनापति कुछ क्षणों तक तो अपने अनुज गुरुबन्धु के विस्तृत ललाट, उन्नत नासिका, विवेकालोकित मुखकान्ति तथा उसमें से झलकते उसके सौम्य-रूप को देखते रहे ; तत्पश्चात् सहसा मौन भंग कर वह स्नेह-सिक्त कण्ठ स्वर में बोले—"आयुष्मान ध्वज ! आयुष्मती मंजरिका का मन्तव्य केवल विचारणीय ही नहीं है, वरन् उसका पालन भी होना चाहिए।" तनिक रुक वह फिर बोले—"आयुष्मान्, राजगृह की इन घटनाओं की ओर से भला हम असावधान रह भी कैसे सकते हैं ?"

इसके पश्चात् वह कुछ सोचते हुए से मौन हो रहे। ध्वजधर भी कुछ न बोला। परन्तु वह मन ही मन मंजरिका की कुशाग्र एवं व्यावहारिक बुद्धि की अवश्य सराहता रहा। इसी मध्य, किसी की पग आहट दोनों ही का ध्यान आकर्षित कर उठी। ध्वजधर जैसे सचेष्ट हो, सविनय तत्परता के साथ शिलाखण्ड से उठ खड़ा हुआ। किन्तु सिंह सेनापति को जैसे अनायास ही कोई बात स्मरण हो आई। देवी रोहिणी की ओर दृष्टि कर वह पूछने लगे—"क्यों आचार्य दुहिता, क्या तुम्हें कुछ स्मरण है ; जब तुम तक्षशिला से वैशाली आई ही थीं तो भला उस समय मंजरिका की क्या आयु रही होगी ?"

सिंह सेनापति के मुख से यह प्रश्न सुन आचार्य शिष्य संकोच का अनुभव कर उठा। पर, रोहिणी के मुख पर किंचित हर्ष का भाव छा गया; कुछ अनुग्रह का सा भी। बोली—"क्यों आर्यपुत्र, क्या मैं कभी आयुष्मती मंजरिका को भी भूल सकती हूँ ?" तनिक रुक, वह फिर कहने लगी—"जब मैं तक्षशिला से आई थी तो यहाँ वैशाली में आपकी माताभू तो थी नहीं। पर, देवी स्वरूपा माता वसुन्धरा ने जैसे एक दिन को भी तो मुझे उनका अभाव नहीं खटकने दिया। तब मंजरिका केवल चार वर्ष की ही तो थी, और उसकी उस समय की वे सभी बाल सुलभ क्रीड़ाएं मुझे ऐसे याद हैं, जैसे बस कल ही की बात हो।"

यह कह देवी रोहिणी ने जैसे साशय दृष्टि से उन दोनों की ओर देखा। ध्वजधर अभी भी नत-मस्तक हुआ खड़ा था। दोनों के मध्य मंजरिका के सम्बन्ध में छिड़े इस प्रसंग विशेष को सुन वह इस समय और भी अधिक संकोच का अनुभव कर उठा। उसे इस प्रकार संकोच से सिमटते देख सिंह सेनापति ने जैसे सप्रयास प्रसंग को बदल, कहा—"देवी रोहिणी, आज एक बात को सुन न जाने क्यों मुझे अत्यधिक गर्व का अनुभव हो रहा है।"

यह कहते हुए उन्होंने तनिक गाढ़ी दृष्टि से देवी रोहिणी की ओर देखा ; फिर जैसे किसी विचार में खो से गए।

देवी रोहिणी ने समझा, स्वामी निश्चय ही रात वाली बात के प्रसंग में कुछ कहा चाहते हैं। वास्तव में वह उस पर अभी तक मौन ही थे, अतः वह इस सम्बन्ध में उनका मन्तव्य-विशेषकर ध्वजधर की ही उपस्थिति में जानने को उत्सुक हो उठी।

सोत्साह वह पूछने लगी—"वह क्या बात है, स्वामी ?"

सिंह सेनापति की दृष्टि उचट ध्वजधर के मुख पर केन्द्रित हो गई। उसी की ओर देखते हुए वह बोले—"देवी ! आयुष्मान् ध्वजधर ने इस अल्पकाल में ही जिस कर्त्तव्य परायणता का परिचय दिया है, उससे उन्होंने सचमुच ही प्रातः वन्दनीय आचार्य-पाद बहुलाश्व का नाम सार्थक कर दिखाया है। तुम ता यह जानती ही हो देवी, कि वैशाली में सुरक्षा प्रधान सदृश जटिल पद के दायित्व भार का निर्वाह कर ले जाना कितना असम्भव-प्राय कार्य है; परन्तु आयुष्मान ने सजग प्रहरी के रूप में नगर की केवल सुरक्षा व्यवस्था को ही सुदृढ़ नहीं किया है, वरन् मगध की अस्थिर राजनीति का वैशाली पर क्या दुष्प्रभाव पड सकता है, उसका भी उन्हें पूरा बोध है। आयुष्मान् ने न केवल इस बात का ध्यान रखा है कि उस दिन चित्रकार के छद्मवेश में गणसंग्राहक सामन्त भंजदेव के यहाँ जो व्यक्ति आया था, वह कौन था, वरन् वह यह भी भली भाँति जानते हैं कि सामन्त पुत्र अखण्ड देव की अभी हाल की राजगृह-यात्रा का क्या अभिप्राय था। केवल वैशाली के ही नहीं, वरन् राजगृह में इन दिनों द्रुत गति से चल रहे घटनाचक्र पर भी उसकी दृष्टि है, और अब जिस रूप में उन्होने सारी स्थिति का विश्लेषण कर मेरे सम्मुख जो चित्र उपस्थित किया है उसे सुन मैं तो केवल आश्चर्य चकित रह गया हूँ। और, उससे भी अधिक आश्चर्य की बात तो यह है देवी, कि अपने इस कार्य कौशल एवं व्यवहार पटुता से उन्होंने अपने अधीनस्थ गण पुरुषों तथा सामान्य नागरिकों, दोनों ही वर्गों का समान रूप से विश्वास प्राप्त कर लिया है। यह सचमुच ही इनकी अभूत सफलता है।"

यह कह, सिंह सेनापति ने सगर्व देवी रोहिणी की ओर देखा। अपने पिता आचार्य बहुलाश्व के एक शिष्य की इस प्रकार प्रशंसा होते सुन, देवी रोहिणी भी गर्व का अनुभव कर उठी। ध्वजधर ने भी गर्व का अनुभव किया, परन्तु उससे भी अधिक उसे सन्तोष का, और सन्तोष से भी अधिक उदात्तता का अनुभव हुआ। सप्रयास दृष्टि ऊपर उठा रोहिणी की ओर देखते हुए वह बोला—"देवी, आचार्यपाद का शिष्य होना एक गौरव की बात है। यदि यह अकिंचन अपना सर्वस्व देकर भी उनके उज्जवल नाम को थोडा सा भी सार्थक कर सका तो मैं उसे निश्चय ही अपना सौभाग्य समझूँगा। और देवी, उनके वरद् हस्त ने तो मेरा वह उद्धार किया है कि...... ।"

यह कहते हुए आचार्य शिष्य भाव-विह्वल हो उठा ; और हृदय से निकलती आगे की कोई बात केवल कण्ठ तक आकर रुक गई। उसके नेत्र सजल हो उठे। परन्तु फिर भी जैसे वह आज अपने मन की कोई व्यथा व्यक्त करने को आतुर हो उठा। व्यथित कण्ठ-स्वर में बोला—"और देवी, इस हतभाग को तो देखो, जो गुरुदक्षिणा के लिए पाँच लवँग भी नहीं जुटा सका।"

यह कह, उसके ओष्ठ फड़फड़ाते रह गए और नेत्रों से सहसा अश्रुधार फूट निकली। उसकी यह मनोदशा देख सिंह सेनापति जैसे कुछ आशंकित हो उठे। किन्तु देवी रोहिणी ने ममत्ववश उसे अपनी ओर खींच अपने आलिंगन पाश में समेट लिया। वह उसे सान्त्वना दिया चाहती थी, परन्तु इस क्षण उसके मुख से भी कुछ नहीं निकल सका। इस आत्मीय मिलन को देख सिंह सेनापति भाव विभोर हो उठे किन्तु, प्रकट में सर्वथा

संयत कण्ठ स्वर में बोले—"आचार्य दुहिता, न जाने कितने दिनों से मेरे मस्तिष्क में एक प्रश्न घूम रहा है। कई बार मन में आया भी कि तुमसे उस सम्बन्ध में कुछ पूछूं पर वह प्रश्न चूंकि एक नहीं दो परिवारों से सम्बन्धित है, इसलिए कुछ उलझा-सा रहा।"

देवी रोहिणी उत्सुकता से अपने स्वामी की ओर देख उठी। आचार्य शिष्य जैसे अभी भी अपनी भाव विह्वलता से पूर्णतः मुक्त नहीं हो सका था। अतः वह अपने अग्रज गुरुबन्धु का बात पर विशेष ध्यान न दे सका। सिंह सेनापति नेत्रकोरों से उसी की ओर देखते हुए आगे बोले—"देवी रोहिणी, यह बात वास्तव में हमारे और बन्धुवर श्रेणियरत्न के परिवारों के मध्य की है।"

इतना कह सिंह सेनापति फिर रुक गए। वह क्या कुछ कहना चाहते थे, देवी रोहिणी जैसे उसका आभास पा चुकी थी। परन्तु वह केवल आधी बात ही क्यों कह पाए, इसलिए उसे कुछ दुविधा-सी हो गई। केवल दुविधा ही नहीं, वरन् कुछ-कुछ शंका भी हुई। अतः वह इस बार अपने को न रोक सकी। अधीर हो पूछ उठी—"ऐसी वह क्या बात है आर्यपुत्र?"

देवी रोहिणी की इस दुविधा को देख सिंह सेनापति के नेत्र मुस्करा उठे। उसकी ओर देखते हुए वह बोले—"देवी, आशंका की ऐसी कोई बात नहीं। क्यों, क्या कल रात आयुष्मती मंजरिका को आयुष्मान के साथ देख तुम स्वयं प्रसन्न नहीं हुई थीं?"

स्वामी के मुख से अपनी ही किसी आकांक्षा के अनुरूप यह बात सुन, देवी रोहिणी का मुख खिल उठा। उमगते कण्ठ स्वर में वह कहने लगी—"आर्यपुत्र, मेरी बात छोड़ो, मैं तो न जाने कब से से यही सोच रही थी, पर आप अब तक क्यों मौन रहे?"

इसी मध्य, ध्वजधर कुछ व्यग्रता के साथ पूछ उठा—'आर्य, अब आप मुझे नगर द्वार के सम्बन्ध में कोई आदेश करें। उसे बन्द रखना कुछ अनुचित तो न होगा?"

यह कह उसने दृष्टि उठा क्षणेक सेनापति सिंह की ओर देखा। सिंह सेनापति कुछ कहने को उद्यत ही हुए थे कि इसी मध्य आचार्य शिष्य ने पुनः अपना शीर्ष झुका सविनय कहा—"आर्य, यदि आप उस सम्बन्ध में भी कुछ स्पष्ट आदेश दे दें, तो श्रेयस्कर रहेगा।"

देवी रोहिणी ध्वजधर के इन दोनों ही प्रश्नों को सुन हतप्रभ हो उठी। वह उन दोनों की ओर देखती-सी रह गई। सिंह सेनापति की मुख मुद्रा भी जैसे अकस्मात सचेष्ट हो, गम्भीर हो उठी। और दृष्टि? वह किसी समस्या मे उलझ, निर्णय का स्पर्श करती प्रतीत हुई। उत्तर में वह कुछ कहने को उद्यत ही हुए थे कि इसी मध्य गणाध्यक्ष का रथ तीव्रगति से प्रासाद-परिधि में प्रविष्ट हो गया। उन्हें इस प्रकार अप्रत्याशित रूप में आया देख सभी जैसे विस्मित हो उठे। किन्तु साथ ही वे उनका अभिवादन करते, उनकी ओर बढ़ लिए। आचार्य शिष्य तो और भी अधिक तत्परता दिखा, उनके रथ की ओर जैसे दौड-सा लिया। गणाध्यक्ष भी उसके कन्धे का सहारा ले, सम्हलते हुए से रथ से नीचे उतरने लगे। भूमि पर पैर रखते ही गणाध्यक्ष का हाथ आचार्य शिष्य के कन्धे को जैसे दृढ़ता से पकड़ने को उद्यत को उठा। कन्धे पर हाथ रखते हुए वह बोले—"आष्युमान् सिंह, वैशाली ने आयुष्मान् ध्वजधर को सुरक्षा-

प्रधान के पद पर नियुक्त कर ठीक ही किया। आज उसकी सजगता को देख मैं तो सचमुच दंग रह गया हूँ।"

यह कहते हुए वृद्ध गणाध्यक्ष के व्यस्तता-थकित नेत्रों में कुछ-कुछ गर्व का सा भाव उभर आया। और सिंह सेनापति गणाध्यक्ष के मुख से यह सुन संतोष का अनुभव किए बिना न रहे। नत मस्तक हो, सविनय बोले—"आर्य, यह सब आपका ही आशीर्वाद है।"

इसी मध्य देवी रोहिणी कुछ व्यग्र कण्ठ स्वर में कह उठीं—"आर्य, आज तो आप अत्यधिक थके हुए प्रतीत हो रहे हैं, अतः आप सीधे विश्राम कक्ष की ही ओर चलें।"

गणाध्यक्ष देवी रोहिणी के मुख पर छाए उस चिंता भाव को देख, आत्मीयता का सा अनुभव कर उठे। पर, साथ ही उनके मुख पर एक खिन्न मुस्कान भी फैल गई। वक्ष में न जाने कब से रुकी श्वास बाहर छोड़ते हुए वह थकित कण्ठ स्वर में बोले—"सौभाग्यवती, तुम ठीक ही कहती हो। निःसंदेह आज यह वृद्ध बहुत थका हुआ है; परन्तु यह विश्राम भी तो नहीं कर सकता। पुत्री जानती हो....।" यह कहते हुए जैसे उनका कण्ठ किसी भारी रोष से रुन्ध सा गया। फिर सप्रयास बोले—"पुत्री रोहिणी इस समय तो मुझे भी उस शिलाखण्ड की ही ओर चलने दो।"

शिलाखण्ड की ही दिशा में बढ़ते हुए वह पुनः बोल उठे—"आयुष्मान् सिंह, जानते हो आज प्रातः क्या हुआ ? आज प्रातः मैं एकाकी ही बन्धुवर भंजदेव के प्रासाद की ओर चला गया; इस आशा से कि....।"

गणाध्यक्ष के मुख से निकलती कोई बात पुनः मध्य ही में रुक गई। फिर जैसे सहसा उन्हें कुछ स्मरण हो आया। सचेष्ट होते हुए से बोले—"हाँ तो आयुष्मान्, भला मैं क्या कह रहा था ?"

सिंह सेनापति को लगा, आर्य आज किसी बात पर निश्चित ही अत्यधिक उद्विग्न हैं। उनकी यह मनोदशा देख, वह भी दुःखित हो उठे। परन्तु प्रकट में सर्वथा संयत रह बोले—"आर्य, आप कह रहे थे कि आज आप एकाकी ही आर्य भंजदेव के प्रासाद की ओर चले गए।"

और गणाध्यक्ष सिंह सेनापति के मुख से यह सुन कुछ ऐसे प्रसन्न हो उठे, जैसे कोई खोई श्रृंखला मिल गई हो। और, कहीं वह फिर न खो जाए, इस भय से तत्परता के साथ बोल उठे—"भला आयुष्मान्, वहाँ मुझे ऐसा क्या संकट था, तो भी इसी मध्य आयुष्मान ध्वजधर ने जिस सजगता एवं दायित्व-परायणता का परिचय दिया, वह केवल प्रशंसनीय ही है।"

सिंह सेनापति सविनय बोल उठे—"आर्य, आयुष्मान ध्वज वैशालिकों को मोहित कर सका, इस पर मुझे अत्यधिक हर्ष है; भला इससे बढ़कर मुझे और क्या संतोष होगा।" फिर तनिक हर्ष का भाव प्रकट कर वह आगे बोले—"आर्यवर, ठीक ऐसी ही एक बात मैं भी अभी-अभी देवी रोहिणी से कह रहा था; मैं कह रहा था कि......।"

गणाध्यक्ष इसी मध्य तत्परता से बोल उठे—"यही कह रहे थे न आयुष्मान

कि अब तो आयुष्मान ध्वजधर शासन कार्य में पूरे दक्ष हो चुके हैं, अतः उनके विवाह की भी कुछ चिंता करनी चाहिए।" यह कह, उन्होंने अपनी दृष्टि उठा सिंह सेनापति और फिर देवी रोहिणी की ओर देखा। शिलाखण्ड पर बैठते हुए वह बोले—"आयुष्मान श्रेणियरत्न ने भी तो कल कला प्रांगण में मुझ से यही पूछा था। और आयुष्मान्, भला मेरे लिए इससे अधिक प्रसन्नता की बात और क्या होगी ?"

गणाध्यक्ष चेटक यह सब कुछ एक साँस में ही कह गए। उनके मुख से यह सुन देवी रोहिणी और सेनापति सिंह तो प्रसन्न हो उठे, परन्तु स्वयं ध्वजधर को जैसे भारी विस्मय हुआ। किन्तु जब वह बोला तो उसमे विस्मय का पुट नहीं था, और न ही संकोच का भाव था; वरन् आपत्ति और स्पष्टोक्ति का एक अद्भुत् मिश्रण था। आर्द्र कण्ठ स्वर में वह बोला—"परन्तु आर्यवर, यह कैसे संभव है। कुमारी मंजरिका एक कुलीन एवं श्रेष्ठी कन्या है।। वैशाली के ही नहीं वरन् समूचे वज्जिगण के अभिजात वर्ग में इस श्रेष्ठीकुल का विशिष्ट स्थान है। अतः भला, उसकी तुलना में मेरा क्या अस्तित्व है; मैं एक अज्ञातकुल शील ही तो हूँ; इसके अतिरिक्त....।"

आचार्य शिष्य के मुख से निकलती बात मध्य ही में रुक गई; फिर भी उसे लगा, जैसे वह आज अनायास ही मन के किसी भारी बोझ से मुक्त हो उठा है। फिर भी, जैसे उसका हृदय विद्रोह करता रह गया।

तीनों से ध्वजधर का यह भेद छिपा नहीं था। तो भी देवी रोहिणी और सेनापति सिंह आज स्वयं उसी के मुख से यह सुन व्यथित हो उठे। किन्तु गणाध्यक्ष तत्काल एक जोर का ठहाका दे हँस पड़े। हँसी के रुकते ही उनकी मुख मुद्रा गंभीर हो उठी, जिसे देख ध्वजधर एक बार को आपाद शीर्ष सिहर-सा गया। देवी रोहिणी एवं सिंह प्रकृतिस्थ हुए गणाध्यक्ष के मुख की ओर ताकते रहे। अंत में स्वयं गणाध्यक्ष ने इस गतिरोध को भंग किया। अपने स्वाभाविक ओजपूर्ण कण्ठ स्वर में वह कहने लगे—"सौम्य आयुष्मानो और देवी-स्वरूपा आयुष्मती रोहिणी, वायु वेग के साथ फहराती वज्जिसंघ की धवल, कीर्ति पताका पर पर्याप्त समय से एक काला धब्बा पड़ा हुआ था; और गौरव से सदैव ऊर्ध्व मुख रहे रत्नजटित-स्वर्णिम गण मुकुट पर एक कलंक आ स्थिर हुआ था। और, आज जब वे दोनों ही आयुष्मान् सिंह, श्रेष्ठीपुत्र श्रेणियरत्न एवं स्वयं आयुष्मान ध्वजधर के प्रयास से मिटते हुए जान पड़ रहे हैं, तो फिर अज्ञात कुल एवं कुलीन का यह भेद भला किस प्रकार शोभास्पद होगा ? आयुष्मान ध्वजधर, इस पृथ्वी पर जो भी एक बार अवतरित हो गया, वह अवश्य ही प्रसव पीड़ा से कराहती किसी माता की कोख से उत्पन्न हुआ होगा, फिर चाहे वह ज्ञात हो अथवा अज्ञात, वह माता तो केवल वदनीय ही है। और फिर यह प्रसव पीड़ा राजप्रासाद से निर्धन की झोंपड़ी तक एक समान ही तो है। फिर उस पीड़ा जनित संतान-संतान के मध्य भेद क्यों हो ?" यह कहते हुए उन्होंने दृष्टि उठा, ध्वजधर तथा फिर क्रमशः सेनापति सिंह और देवी रोहिणी की ओर देखा। और फिर सहसा कुछ स्मरण कर बोले—"आयुष्मान्, मंजरिका के साथ विवाह की बात सुन तुम्हें इस समय कदाचित् एक झिझक हो रही है। वह झिझक क्या है, उसे मैं भली भाँति समझता हूँ, और मेरी दृष्टि में वह कुछ स्वाभाविक भी है। परन्तु वैशाली में

तो सम्पत्ति का अभाव नहीं, आयुष्मान; केवल पुत्रों का अभाव है। मेरे पास कुल-देवताओं की कृपा से अतुल संपत्ति है; परन्तु देखो, कोई पुत्र नहीं। अच्छा यदि मैं तुम्हें ही आत्मज रूप में स्वीकार कर लूं तो क्या तुम्हें उसमें कोई आपत्ति होगी ?" यह कह गणाध्यक्ष जैसे उत्तर की प्रतीक्षा मे शिलाखण्ड से उठ खड़े हुए।

उनके मुख से अकस्मात यह प्रस्ताव सुन देवी रोहिणी और सेनापति सिंह गद्गद् हो उठे; किन्तु ध्वजधर किंकर्तव्यविमूढ़ हो उठा। अततः मौन भंग कर वह बोला—"परन्तु श्रद्धेय, कुमार हल्ल और विहल्ल ने जिन परिस्थितियों में राजगृह का त्याग कर वैशाली की ओर प्रस्थान किया है तथा अब जब उनके आगमन की बेला सन्निकट हो, दोहित्र होने के नाते क्या यह अधिकार केवल उन्हीं का नहीं है ?"

देवी रोहिणी और सेनापति सिंह ध्वजधर के इस उत्तर को सुन चकित हो उठे। और इसी मनःस्थिति में, इस उत्सुकता से कि देखो गणाध्यक्ष अब क्या उत्तर देते हैं, उनकी ओर देखने लगे। गणाध्यक्ष आचार्य शिष्य के उत्तर पर कुछ गर्व का सा अनुभव करते हुए बोले—"पुत्रवर, यह अधिकार का प्रश्न नहीं, भावना का विषय है। फिर दूरदर्शिता के भी तो अपने कुछ अनुमान हैं। आयुष्मान्, वज्जिसंघ के इस तुच्छ सेवक का मस्तक गत पूरे बीस वर्षों से देदीप्यमान गण-मुकुट के भार से नत रहा है, अतः उसकी रक्त धमनियों में गण परम्पराओं के प्रति निष्ठाभाव का प्रवाहित हो जाना स्वाभाविक है, और यदि राजपुत्रों के प्रति किंचित अविश्वास का भाव आ जाए तो इसमें लेशमात्र भी आश्चर्य नहीं। कौन जाने, कब उनकी महत्त्वाकांक्षा बलवती हो उठे और वे इस पुनीत गण की जाज्वल्यमान परम्पराओं को यज्ञ की आहुति को भेंट कर अपनी लिप्सा का साधन बना, उसकी धवल कीर्ति पर कलंक लगा बैठें; अतएव उनसे बचना ही श्रेयष्कर है।"

गणाध्यक्ष की रक्त धमनियों में प्रवाहित इस गणनिष्ठा को देख तीनों ही उनके सम्मुख श्रद्धातिरेक से नत मस्तक हो रहे; और देवी रोहिणी तथा सिंह अपने पूर्ववत मौन भाव से अब ध्वजधर की ओर देख उत्तर की प्रतीक्षा करने लगे। ध्वजधर बोला—"परन्तु आर्य, कुमार हल्ल विहल्ल के सम्बन्ध में मुझे गुप्तचरों से जो कुछ भी विदित हुआ है, उसके अनुसार वे तो सचमुच साधुमना ही हैं। उनका केवल इतना ही तो दोष है कि वे राजकुल में उत्पन्न हुए हैं, अतएव उन्हें उनके इस उत्तराधिकार से वंचित करना क्या उनके साथ अन्याय नहीं होगा ?"

गणाध्यक्ष दृढ़ता से बोल उठे—"नहीं, नहीं आयुष्मान्, मेरी सम्पत्ति पर केवल मेरा अधिकार है, या फिर गणशासन का। और, यदि उन दोनों के मध्य कोई हो सकता है तो वह केवल वह व्यक्ति है जिसे मैं देना चाहूँ; और वह अब केवल तुम्हारे अतिरिक्त अन्य कोई नहीं हो सकता। यह मेरा निश्चय है, पुत्रवर।" कहते हुए वह पुनः शिलाखण्ड पर बैठ गए। फिर सेनापति सिंह और देवी रोहिणी की ओर देखते हुए बोले—आयुष्मान्, यह मेरा दृढ निश्चय ही नहीं, अतः प्रेरणा भी है और वह आज अभी-अभी सहसा उदित हो मेरे सारे अंतर में व्याप्त हो उठी है। मैंने आयुष्मान् में निश्चय ही जैसे अपनी किसी निजी दुविधा का समाधान पा लिया है।"

यह कह, वह फिर शिलाखण्ड से उठ खड़े हुए। ध्वजधर के कन्धे पर अपना हाथ रख अंतर में व्याप्त निश्चय की दृढ़ता से उसे दबाते हुए बोले—"आयुष्मान्, मुझे इस समय गणाध्यक्ष न समझ यदि केवल एक वृद्ध पिता ही समझो तो मेरे लिए वह कितनी सुखद अनुभूति होगी, संभवतः तुम उसकी कल्पना न कर सको।" यह कहते हुए वह तनिक रुके। ध्वजधर उत्तर में केवल मौन ही रहा। गणाध्यक्ष फिर अनुनय के से कण्ठ स्वर में बोल उठे—"पुत्रवर, एक याचना कर रहा हूँ, स्वीकार करोगे ?"

ध्वजधर गणाध्यक्ष के करुण भाव से प्रभावित हुए बिना न रहा। उसका अंग-प्रत्यंग रोमांचित हो उठा; परन्तु उत्तर में क्या कहे, उसे कुछ नहीं सूझा। उसे लगा, जैसे वह अनायास ही, देव संयोग से किसी सुखद बधन में बंधा जा रहा है। उसका विद्रोही हृदय इस बंधन का प्रतिरोध किया चाहता था, किन्तु प्रकट में वह वयोवृद्ध के इस याचना युक्त करुण भाव के प्रत्युत्तर स्वरूप न केवल नत मस्तक हो रहा, बल्कि विनयातिरेक में इतना झुका, इतना झुका कि अंततः उसका शीर्ष गणाध्यक्ष के पैरों पर जा टिका। गणाध्यक्ष उसके शीर्ष का स्पर्श पा पुलकित हो उठे। उसे तत्परता से ऊपर उठा कहने लगे—"पुत्रवर, तुम्हें पा मैं धन्य हो उठा हूँ। मुझे विश्वास था कि तुम मेरा अनुरोध अवश्य स्वीकार करोगे।" और फिर सहसा सिंह दम्पत्ति की ओर देख अभिभूत कण्ठ स्वर में बोले—"क्यों आयुष्मान् सिंह, यदि आज ही यह मगल आयोजन हो तो कैसा रहेगा ?"

देवी रोहिणी और सिंह ने इस पर भारी हर्ष प्रगट करते हुए प्रायः एक स्वर में कहा—"आर्य, भला इससे श्रेयस्कर सवाद और क्या हो सकता है ?" पर यह सब कुछ सुन ध्वजधर के मुख पर कोई दुविधा उभर आई। कुछ आश्चर्य प्रकट करता हुआ सा वह बोला—"आर्य, भला यह कैसे संभव है ? गुप्तचरों की सूचना है कि दोनों कुमारों का पीछा करती हुई कुमार कोणिक की वाहिनियाँ इस समय वैशाली की ओर प्रस्थित हैं।"

गणाध्यक्ष भी उत्तर में तत्परता से बोल उठे—"तो उससे क्या हुआ, कुमार ! क्या युद्ध का प्रयाण गीत और विवाहोत्सव का मंगल गान दोनों एक साथ ही नहीं गाये जा सकते ? वे अवश्य ही एक साथ गाये जा सकते हैं, आयुष्मान् ! एक हाथ में मंगल आयोजन के मोदक तथा दूसरे हाथ में खड्ग, ऊपर यदि भृकुटि तनी हुई तो नीचे ओष्ठों पर सुमधुर मुस्कान, इधर मडप मे यदि कोकिल कण्ठियों के मुख से निकलता सोत्साह लास्यपूर्ण गान तो उधर रण प्रांगण से गंभीर ध्वनि करता तूर्यनाद, और फिर खड्गों के साथ परस्पर युद्ध, किलकारी मार एक दूसरे पर आक्रमण, तथा फिर भीषण प्रहार से आहत हो निकला अबोध मानव का असहाय चीत्कार; और फिर उस पर छा जाने वाली विजय की मुस्कान। आयुष्मान्, यही सब कुछ तो जीवन है। विवाह यदि प्रणय की पराकाष्ठा है, तो युद्ध संघर्ष की। जीवन को प्रणय भी चाहिए और सघर्ष भी, अन्यथा वह गतिरोध से अवरुद्ध हो अपने में ही सड़-गल जाए। और फिर आयुष्मान्, वैशाली के धीर वीर पुरुषों ने तो सदा ही इन दोनों का एक साथ हँसते-गाते आलिंगन किया है। कल के युद्ध से पूर्व, यदि आज ही, समय

रहते कोई मंगल गीत गा लिया जाए तो भला उससे श्रेयस्कर और क्या होगा? कल के रण प्रांगण की वीभत्सता में कौन जाने क्या शेष केवल अशेष बन रह जाय और फिर मेरा तो यह वृद्ध शरीर ठहरा।" यह कहते हुए वह पुनः शिलाखण्ड पर बैठ गए। उनका कण्ठ स्वर, जैसे कुछ शिथिल हो उठा परन्तु नेत्र निराशा का सा स्पर्श करके भी दीप्त हो उठे; मुख-रेखाओं पर उत्साह लहर उठा; और दृष्टि क्षितिज पर न जाने क्या कुछ देख स्वप्निल सी हो रही। किंतु शेष सभी, उनके मुख पर मनस्तोष का भाव देखकर भी व्यथित हो उठे। और देवी रोहिणी के तो नेत्र भी सजल हो उठे। बोली—"आर्य ऐसा न कहें, अभी तो वैशाली की रक्षा के लिए उसके तरुण पर्याप्त सक्षम हैं।"

"हैं, पुत्री अवश्य हैं, परन्तु क्या उनके अभिभावक उन पर होते प्रहारों को देख केवल नेत्र मूंदे ही खड़े रहेंगे।"

ध्वजधर गणाध्यक्ष की बातों पर पहले तो कुछ क्षणों तक निष्पलक हुआ शून्य में देखता रहा और फिर उसने अग्रज गुरुबंधु और आचार्य दुहिता की ओर देखा। इस बार दोनों ही एक साथ बोल उठे—"आयुष्मान्, इस समय हमें तुम्हारे सौभाग्य पर भारी ईर्ष्या हो रही है। आर्य के आदेश का पालन करना ही अब तुम्हारा पुनीत कर्तव्य है।"

परन्तु ध्वजधर इसके उत्तर में भी मौन ही रहा। भाग्य के इस अकस्मात आरोह पर विचारता सा वह बोला—"परन्तु पितृवर, एक निवेदन है।"

ध्वजधर के मुख से प्रथम बार पितृवर का सम्बोधन सुन न केवल गणाध्यक्ष वरन् सिंह दम्पत्ति का अंतस्तल भी पुलकायमान हो गया। परन्तु गणाध्यक्ष ने शीघ्र ही अपने आप को संयत कर कहा—"अवश्य निवेदन करो, पुत्र! मैं तुम्हारे मुख से निस्संकोच भाव से निवेदन सुनूं, भला इससे श्रेयस्कर भी कोई क्षण मेरे जीवन में अब आएगा? क्यों आयुष्मान् सिंह, मैंने ठीक कहा न?"

सिंह सेनापति कुछ उत्तर दें, उससे पूर्व ही ध्वजधर मानों अपनी किसी भूल को मन ही मन संशोधित कर बोल उठा—"पितृवर, एक नहीं दो निवेदन करने का लोभ हो आया है।"

गणाध्यक्ष भाव-विभोर हो बोले—"पुत्रवर, तुम्हारा यही लोभ तो मेरी निधि है। उसे अवश्य प्रकट करो, आयुष्मान्!"

'आर्य की सम्पत्ति को प्राप्त करने के पश्चात् उस पर मेरा सम्पूर्ण अधिकार होगा।" ध्वजधर ने तनिक संकोच एवं विनयपूर्वक कहा।

प्रत्युत्तर स्वरूप गणाध्यक्ष के मुख से निकल गया—"पुत्रवर, तुम्हारा संतोष ही मेरा हर्ष है। अतएव मुझे स्वीकार है।"

ध्वजधर आगे बोला—"पितृवर इस प्रथम निवेदन के ही अन्तर्गत मैं सम्बन्ध की दृष्टि से देवी चेल्लना का भ्राता हुआ, चाहे अनुज ही सही; तो भी दोनों कुमारों का मातुल तो हुआ ही, अतएव अग्रज भी। जिन परिस्थितियों में मेरे भगिनी-पुत्र यहाँ आ रहे हैं उनका मुझे अपने मन चाहे ढंग से स्वागत करने का अधिकार मिलना चाहिए। उसमें कोई बाधा तो नहीं होगी?"

देवी रोहिणी और सेनापति सिंह जैसे उसके निवेदन का स्पष्ट आशय समझ गए। वे एक साथ ही उच्च स्वर मे बोल उठे—"ध्वजधर, तुम धन्य हो। सचमुच तुम धन्य हो।" परन्तु गणाध्यक्ष केवल मौन रहे ही ध्वजधर की ओर देखते रहे और ध्वजधर अपने कथन को आगे बढ़ाते हुए पुन: बोल उठा—"पितृवर, अब मेरा दूसरा निवेदन प्रस्तुत है।"

सभी उत्सुकता से उसकी ओर देखने लगे। वह नयन नत कर, शीर्ष झुका, सविनय बोला—"पितृवर, मंजरिका से अभी मेरा प्रेम अपूर्ण ही है और उसको पूर्णता की ओर ले जाने में मैं एक बात अनिवार्य समझता हूँ। सामन्तपुत्री चारुस्मिता को मैंने अपने जीवन मे अब तक केवल दो बार देखा है। एक बार स्वयं कुमारी मंजरिका के साथ देखा था और दूसरी बार कला-प्राँगण में सामन्तपुत्र अखण्डदेव के साथ। प्रथम बार जब मंजरिका के साथ देखा था तो मैं उसकी ओर आकर्षित हुआ था, परन्तु जब कला प्रांगण में देखा तो उसे सामन्तपुत्र अखण्डदेव के साथ देख मेरा समूचा अंतस्तल कराह उठा था; साथ ही हृदय में सहानुभूति भी उत्पन्न हुई थी। यदि आज एक ही विवाह मण्डप में इन दोनों युगलों का एक साथ पाणि ग्रहण हो जाए तो उससे मुझे निश्चय ही जीवन पर्यंत भारी सन्तोष रहेगा।"

ध्वजधर के मुख से यह सुन देवी रोहिणी एवं सिंह सेनापति पहले तो अवाक् रह गए, परन्तु दूसरे ही क्षण उनके मुखों पर दुविधा का भाव परिलक्षित हो उठा। गणाध्यक्ष के अन्तराल में इस समय क्या भाव उठ रहा था, उसे उनकी बाह्य मुख मुद्रा से समझना असम्भव था। कुछ समय पश्चात् वह सोचते हुए से बोले—"आयुष्मान्, आश्वस्त रहें, वह भी हो जायगा। आयुष्मान् अखण्ड ने हम सभी की सम्भवत: बहुत कुछ उपेक्षा की हो, परन्तु मुझे विश्वास है कि जब मैं उससे अपने जीवन की अन्तिम याचना करूंगा तो वह उसे अवश्य स्वीकार कर लेगा। कितना भी हो, कैसा भी हो, वह है तो एक वैशाली-पुत्र ही।" यह कह गणाध्यक्ष सावेग शिलाखण्ड से उठ, जैसे सविश्वास अपने वाहन की ओर बढ़ लिए। और आचार्य शिष्य ध्वजधर ने भी पूर्व की ही भाँति, इस बार भी अवलम्ब के लिए उनकी ओर अपना कन्धा बढ़ा दिया।

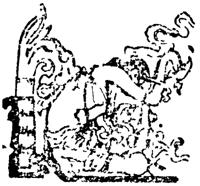

तेईस

मध्यान्ह हो गया, फिर भी नगर द्वार बन्द ही रहे। और, अब भला क्या होगा ? जैसे, बस यही एक प्रश्न मानों अपने पूरे आकार-प्रकार में फैल सभी के सन्मुख आ खड़ा हो गया। फलस्वरूप नगर का सारा वातावरण ही तो सशंक हो उठा। किन्तु इस सशंक वातावरण में भी गतिविधियों का प्रवाह अधिकाधिक वेगमान होता चला, और वह असंख्य धाराओं में फूट नगर के पूरे ओर-छोर में फैल रहा। सभी राजपथ एक विशेष चहल-पहल से गूंज उठे और वीथियों में कोलाहल-सा उठ खड़ा हुआ। पर नगर का एक प्रान्तर विशेष ? वह मानो एक रहस्यपूर्ण केन्द्र ही बन उठा।

प्रातः बेला गणाध्यक्ष के दुर्ग से निकले राजा चेटक के वाहन को आज जैसे विश्राम नहीं था। वह कभी यहाँ तो कभी वहाँ दीख पड़ता। सिंह सेनापति के आवास से प्रस्थान कर राजा चेटक सीधे सामन्तपुत्र अखण्डदेव के यहाँ पहुँचे थे और फिर वहाँ से महाश्रेष्ठी मणिरत्न के भव्य प्रासाद की ओर दौड़ लिए। परन्तु जब वहाँ पहुँचने पर उन्हें विदित हुआ कि महाश्रेष्ठी आवास में नहीं हैं, तो वह सामन्त कार्तिकेय से मिलने चल पड़े। और उन्हें जब वहाँ भी वही उत्तर मिला तो उन्हें लगा, जैसे अब कोई आशा शेष नहीं रह गई है। तो भी वह नगर के वृद्धतम नागरिक कार्य-निवृत्त विनिश्चय-अमात्य धर्म रक्षित शर्मा के निवास की ओर चल पड़े।

और इधर, महाबलाधिकृत के आवास में देवी रोहिणी जब सुरुचिपूर्ण परिधान में सज्जित हो, उत्साहोच्छ्वास से उमगती नगर द्वार की ओर चलने को उद्यत हुई तो उसे देख दुविधाग्रस्त सिंह सेनापति के मुख पर भारी निराशा का भाव छा उठा। किन्तु शीघ्र ही अपने को संयत कर वह बोल उठे—"देवी, अब संघर्ष अनिवार्य है अतः आज यह परिधान लालित्य नहीं वरन सैनिक की वेष भूषा चाहिए ; आज तो हाथ में केवल खड्ग ही शोभा दे सकेगा।"

देवी रोहिणी अपने स्वामी की यह बात सुन हँस पड़ी। हंसी को रोक बोली—"स्वामी, और यदि मैं इसी परिधान के साथ ही हाथ में खड्ग भी ले लूं तो ?"

यह सुन सिंह सेनापति के मन का सारा नैराश्य एक क्षण में लुप्त हो रहा। उत्साहित हो वह बोल उठे—"देवी, फिर तो तुम निश्चय ही शक्ति की साकार प्रतिमा बन रहोगी, और फलस्वरूप कल्याणमयी भावना का उद्धार हो रहेगा।"

देवी रोहिणी के नेत्र मस्करा उठे। समुस्कान बोली—"स्वामी प्रकृति के दो ही तो रूप हैं, यदि एक शृंगार तो दूसरा संहार ; शृंगार में यदि सृजन का रहस्य निहित है, तो संहार में अपनी ही प्रतिगामी प्रवृत्तियों के विनाश का, किन्तु इस विनाश

पर खेद करने की आवश्यकता तो नहीं स्वामी ।"

"क्यों देवी ?" सिंह सेनापति के मुख से जैसे यह प्रश्न अनायास ही निकल गया । रोहिणी उत्तर में बोल उठी—"इसलिए स्वामी कि विनाश ही तो निर्माण की आधार शिला है ।"

"किन्तु देवी, यह वह विनाश तो नहीं, वरन् आत्मघात है ।"

"आत्मघात ?" देवी रोहिणी ने जैसे साश्चर्य पूछा। फिर बोली—"आत्मघात नहीं स्वामी, विचार का द्वन्द्व है, और आदर्श की परीक्षा; कौन किससे श्रेयस्कर है उसका निर्णय, और अन्ततः कर्त्तव्य के प्रति आह्वान । उसकी ओर से विमुख होना आत्मघात है, एक दम ही तो आत्मघात है, स्वामी ।"

सिंह सेनापति को लगा, जैसे यह एक निरर्थक विश्लेषण है ; कर्त्तव्य के प्रति आह्वान तो बिलकुल ही नहीं । सोचने लगे—"सिंह यह तो निश्चय ही वैशाली की एक पुनीत परम्परा का हनन हुआ । एक आततायी जब उस पर प्रहारोद्यत हो, तब वैशालिक आपस ही में लड़ पड़ें, भला यह आत्मघात नहीं तो और क्या हुआ ?"

वह इसी दिशा में आगे बढ़ कुछ और सोचा चाहते थे कि इसी मध्य देवी रोहिणी बोल उठी—"स्वामी, जब दो-दो कर्त्तव्य एक साथ आह्वान कर उठे तो फिर उनमें से एक का निश्चय करना अनिवार्य हो जाता है ; जानते हो वह क्या है ?"

सिंह सेनापति उत्तर में मौन रहे । देवी रोहिणी फिर अपनी ही बात को आगे बढ़ाती हुई बोल उठी—"स्वामी, और वह निश्चय यह करना होता है कि दोनों कर्त्तव्यों में से कौन-सा प्रमुख है । आप इस समय केवल वैशाली के एक सामान्य नागरिक नहीं वरन् समूचे वज्जिसंघ के महाबलाधिकृत हैं, समूचे गणराज्य की रक्षा का भार आपके कन्धों पर है, केवल आप ही के कन्धों पर। साम्राज्य का साँप इस समय फुफकारता हुआ जो इस ओर बढा चला आ रहा है, कहीं वह गंगा की पावन धारा को पार कर वज्जि-तट पर न आ पहुँचे ; इस क्षण केवल वही देखना आपका प्रमुख कर्त्तव्य है ; और शेष कर्त्तव्य है स्वयं वैशालिकों का ।"

"किन्तु देवी, वैशालिक तो इस समय......"

"स्वामी यह आपकी भूल है। वास्तव में, आपके अन्दर बैठा वैशालिक का ही आस्था भाव डगमगा उठा है, अन्यथा आपने वैशालिकों पर कभी भी इस प्रकार सन्देह न किया होता ।"

सिंह सेनापति यह सुन जैसे भारी अपमान का अनुभव कर उठे । और वह इस समय न केवल खीझ कर रह गए, वरन् आवेशित उच्च कण्ठ स्वर में, सावधान करते हुए कह उठे—"देवी रोहिणी !"

किन्तु देवी रोहिणी अपने स्वामी के इस आवेश से तनिक भी विचलित नहीं हुई । सर्वथा संयत रह वह बोली—"आर्यपुत्र, जो कुछ भी मैंने कहा है, वह अक्षरशः सत्य है, यदि आप निष्ठावान वैशालिक हैं तो दूसरों को भी वही समझना होगा, केवल अपने ही को वैसा समझना तो स्वयं निष्ठा का अनादर हुआ, निष्ठा तो एक ज्योति के समान है, जो परीक्षा के समय स्वयं दीप्त हो उठती है । फिर स्वामी, एक बात और भी तो है ; वैशालिकों ने संकट के समय ही के लिए तो आपको महाबलाधिकृत चुना

है। संकट के समय आप वज्जिसंघ की बाहर से रक्षा कर सकें, यही दायित्व तो उन्होंने आपको प्रदान किया है। अतः आज जब वैशाली विचार द्वन्द्व में व्यस्त है, आपका प्रमुख कर्त्तव्य है कि आप उसकी सीमान्त की रक्षा करें।"

सिंह सेनापति इस बार जैसे सहज भाव में बोले—"देवी, मुझे वह कर्त्तव्य बताने की आवश्यकता नहीं, पर एक कुशल महाबलाधिकृत भी जन सहयोग के अभाव में निस्सहाय हो जाता है, इस ज्वलंत तथ्य को तुम क्यों भूले जा रही हो? फिर वह साधारण जनोत्साह ही तो नहीं, वरन् यौधेयों का रणकौशल भी है।"

"तो फिर स्वामी, आप अपने कर्त्तव्य को देखें, शेष वैशालिक अपने कर्त्तव्य को देखते रहेंगे।" रोहिणी ने मानों दृढ़ता से कहा।

"और यहाँ जो रिपु पक्ष के पंचमांगी हैं, उनको......?" सिंह सेनापति ने जैसे एक दूसरी समस्या प्रस्तुत की।

देवी रोहिणी के पास जैसे उसका उत्तर भी था। वह तत्परता से बोल उठी—"वह तो आयुष्मान् ध्वजधर का कर्त्तव्य है, आप उसके कर्त्तव्य में भला क्यों हस्तक्षेप करें?"

और सुरक्षा प्रधान आचार्य शिष्य जब सहसा पवन के एक प्रबल झोंके के समान सामन्त पुत्र अखण्डदेव के सामने जाकर खड़ा हुआ ता, वह केवल स्तब्ध रह गया। यद्यपि आचार्य शिष्य उस समय निश्चय ही कर्त्तव्य-प्रेरित था, फिर उसके मुख पर लेशमात्र भी कोई कठोर भाव नहीं था, वरन् जैसे उस पर एक सहज मुस्कान बिखर रही थी। उसे इस प्रकार निशस्त्र देख अखण्डदेव को आश्चर्य हुआ। वास्तव में, उसके इस साहस को देख वह उसे सराहे बिना नही रहा। किन्तु उसके साथ इस समय जो अन्य सशस्त्र सामन्त पुत्र मंत्रणा-व्यस्त थे, वे आचार्य शिष्य के इस अकस्मात आगमन पर उत्तेजित हो उठे। एक सावेश कह उठा—"जानते नहीं, यह एक सामन्त का निजी आवास है, उसमें इस प्रकार प्रविष्ट होने का भला आपको क्या अधिकार था?"

आचार्य शिष्य ने जैसे उसकी इस बात को सुना ही नहीं। केवल अखण्डदेव पर दृष्टि केन्द्रित कर वह समुस्कान कह उठा—"कदाचित, इन बन्धुवर ने मुझे सुरक्षा प्रधान समझने की भूल की है। पर इस समय मैं वह नही हूँ; यदि इसका प्रमाण चाहिए, तो लो मेरी इस अंगुलि की ओर देखो, मैं उससे गण-शासन की मुद्रा भी उतार आया हूँ।" यह कह वह कुछ रुक रहा। सभी उपस्थित सामन्त पुत्र उसकी ओर चकित हुए से देख उठे। परन्तु उनमे से एक के मुख पर स्पष्ट रूपमें संदेह का भाव उभर आया। बोला—"आचार्य शिष्य, हम मूर्ख नही। क्या हम इतना भी नही जानते कि तुम यहाँ निशस्त्र आए हो और आवास के बाहर तुम्हारे सशस्त्र गण पुरुष खड़े हैं।"

आचार्य शिष्य ने उस युवक की ओर न देख, अखण्डदेव पर ही अपनी दृष्टि केन्द्रित कर मृदुल कण्ठ स्वर में कहा—"मित्रवर, यह भी एक व्यर्थ का सदेह है।'

किन्तु, इसके पश्चात् भी जैसे उनमें से कोई आश्वस्त न हो सका। अखण्डदेव ने भी अविश्वास की सी दृष्टि से आचार्य शिष्य की ओर देखा; दृढ़ स्वर में पूछने लगा—"तो फिर आप यहाँ क्यों आए है?"

सभी सामन्त पुत्र उत्तर की प्रतीक्षा में उत्सुकता से आचार्य शिष्य की ओर देख उठे। उन्होंने समझा, इस बार वह अवश्य ही विचलित हो रहेगा। आचार्य शिष्य के मुख से भी कुछ क्षणों पूर्व की मुस्कान सहसा विलीन हो गई और उसका स्थान गांभीर्य ने ले लिया।

सहसा नगर द्वार पर होते तुमुल निनाद से गगन प्रकम्पित हो उठा। उसे सुन व्यवस्था-व्यस्त गण पुरुष सावधान हो गए तथा नागरिकों के मन का सन्देह भाव और प्रगाढ़ हो उठा। किन्तु साथ ही मुख्य राजपथ का रूप और अधिक उत्साह से संवरता चला। उस पर थोड़े-थोड़े अन्तर पर बने तोरणों एवं बंदनवारों को देख कर तो कोई केवल यही अनुमान लगा पाता कि गण महानगरी ने जैसे किसी चिर आकांक्षित मंगल समारोह का आयोजन किया है। शनैः-शनैः राजपथो पर पौरजनों की भीड सघन होती चली; वह और सघन होती जा रही थी कि इसी मध्य मुख्य राजपथ के एक स्थान पर अकस्मात एक रथ आ रुका; सन्मुख खडी भारी भीड को देखा रथारूढ व्यक्ति उसमें बैठा-बैठा ही उच्च कण्ठ स्वर से पुकार उठा—"सुनो ऐ वैशाली के भद्रजनो, सभी कान खोलकर सुन लो।"

सभी उपस्थित नागरिक उसकी ओर उत्सुक दृष्टि से देख उठे। रथारूढ व्यक्ति तनिक रुकने के पश्चात् पुनः पूर्व से भी अधिक उच्च स्वर में कह उठा—"अरे ओ वैशाली के भद्रजनो, क्या तुमने कुछ नहीं सुना ?"

नागरिकों को हतप्रभ हुआ देख वह एक उच्च ठहाका दे हँस पडा। हँसी को रोक, इस बार कुछ मद स्वर मे वह बोला—"सौम्य जनो, चलो यह भी अच्छा ही हुआ कि तुमने कुछ नहीं सुना।"

और तत्पश्चात्, वहाँ एक बार और हँसी का ठहाका गूंज उठा। अपनी इस हँसी को रोक संभवतः वह अभी कुछ और भी कहता कि इसी मध्य सारथी ने अपने स्वामी की अकस्मात यह परिवर्तित मनोदशा देख, उसके आदेश की प्रतीक्षा किए बिना ही, रथ आगे बढ़ा दिया। वह असंयत खड़ा ही था, अतः अपने को सम्हाल न सका और नीचे की ओर लुढ़क रहा। उसका आधा शरीर रथ में ही टिका रहा, तथा ऊर्ध्वभाग अधोमुख हो लटक गया। एक नागरिक ने जब सावेग दौड उसे व्यवस्थित करने का प्रयास किया तो रथ उसके पैर को ही रौंदता आगे निकल गया। इस पर वहाँ खड़ा शेष जनसमुदाय उत्तेजित हो, जैसे एक स्वर में ही चिल्ला उठा—"अरे ओ चाडाल, देखता नही यह क्या हो गया ?"

परन्तु सारथी ने जैसे वह सब कुछ नही सुना; बस अपने अश्वों को दौड़ाने में ही व्यस्त रहा।

, श्रेष्ठी भिलविदक के विक्षिप्त हो जाने का यह-समाचार सारी वैशाली में मानों विद्युत गति से फैल गया। उसे सुन सभी स्तब्ध हो उठे, परन्तु सामन्त कार्तिकेय ने जब वह सुना तो वह हंस पड़े। उन्हीं के पास इस समय सामन्त वीरभद्र भी बैठे थे; वह भी हँसे बिना नहीं रहे। किन्तु फिर एक क्षण में ही दोनों गम्भीर हो उठे। और, उदास मुख से एक दूसरे की ओर देखते रह गए। दोनों ही के मुख पर इस समय केवल एक ही भाव व्याप्त था, पर जैसे उन दोनों ही में से किसी को भी उस भाव

विशेष की ओर अधिक ध्यान देने का जैसे अवकाश नहीं था। वे किसी गूढ़ मंत्रणा में व्यस्त थे, और फिर उसी में व्यस्त हो गए।

और, गणसंवाहक के प्रासाद में जब यह समाचार पहुँचा तो सन्देशवाहक कपिल ने कुछ रहस्यपूर्ण दृष्टि से दासी-कन्या छाया की ओर देखा। वह आज प्रातः से अब तक एक नहीं अनेक संवाद गणसंवाहक तक पहुँचा चुका था, अतः आज उसके निकट जैसे संवादों में कोई नवीनता नहीं रह गई थी; और यदि कोई थी भी तो केवल एक संवाद विशेष में। छाया के चिबुक को ऊपर उठा उसके नेत्रों में झाँकता हुआ वह बोला—"देवी, आज तो हमारे प्रसन्न होने का दिन है; और तुम उदास दीख रही हो!"

और दिनों जब कपिल उसके चिबुक को इसी प्रकार उठा उसके नेत्रों में झाँकता था तो उसके कपोल एक ऊष्मा का स्पर्श पा लालिमा से दमक उठते थे। पर आज वह इस सब कुछ के पश्चात् भी केवल खिन्न ही बनी रही। उसके नेत्र सहमे से प्रतीत हुए। न जाने क्यों कपिल के बार-बार के आश्वासनो के पश्चात् भी उसके अन्तर में बैठा कोई भय निकल नहीं पा रहा था। अन्ततः वह स्वयं भी जैसे गम्भीर हो उठा। उसके हाथ को अपने हाथों में ले फिर यथा शक्ति, उससे भी अधिक शक्ति के साथ पूर्ण आत्मीयता से दबाते हुए बोला—"प्रिये, विश्वास रखो, आज संध्या बेला में जब सूर्य अस्ताचल की ओर चलेगा तो उसका रंग कुछ और ही होगा और कल भोर की फूटती किरण में से भी कोई नया ही प्रकाश प्रस्फुटित होगा।"

किन्तु उसके पश्चात् भी छाया के मुख पर छाया नैराश्य, जैसे अडिग ही तो खड़ा रहा। अन्ततः कपिल अपने को निरूपाय अनुभव कर उठा। संभवतः वह अभी कुछ और कहा चाहता था कि इसी मध्य एक युवक ने आस्थानागर में प्रवेश किया। इतने दिनों पश्चात् अपने स्वामी-पुत्र अखण्डदेव को अपने ही आवास में आया देख, कपिल को निश्चय ही हर्षित हो उठना चाहिए था। पर इस क्षण वह हर्षित नहीं हो सका; उसे देख वह केवल विस्मित हो उठा। और उसके इस मुख भाव को देख अखण्डदेव एक उच्च ठहाका दे, हँस पड़ा। फिर गम्भीर हो बोला—"क्यों बन्धुवर कपिल, क्या घबरा गए?"

कपिल निश्चय ही घबरा गया था। छाया तो सहमी-सी खड़ी ही थी। यहाँ तक कि वह एक बार भी अपनी दृष्टि उठा अपने स्वामीपुत्र की ओर न देख सकी। उसको इस प्रकार सहमे देख, अखण्डदेव फिर हँस उठा। हँसते हुए ही पूछने लगा—"क्यों छाया, क्या मुझे पहचाना भी नहीं?"

छाया को उसकी यह हँसी अत्यन्त भयावह लगी। वह अन्तर में बुरी तरह काँप उठी।

और उधर, नगर-द्वार के विशाल कपाट अभी भी यथावत बन्द थे। जैसे वे आज खुलेंगे ही नहीं, और यदि खुले भी तो फिर जैसे कोई भयंकर विस्फोट हो रहेगा। क्या विस्फोट हो रहेगा? यद्यपि यह अभी केवल भविष्य के गर्भ में ही था, परन्तु सभी नागरिकों के निकट अब वह किसी प्रकार रहस्य भी नहीं रह गया था। और जब रहस्य खुल ही गया तो फिर कोई कैसे हाथ पर हाथ रखे बैठा रहता। समूचा नगर ही तो सशस्त्र हो उठा। परन्तु किसका खड्ग किस पर प्रहार करेगा, अभी से यह कहना

अनिश्चित था। संभव है, औरों को यह दुविधा रही हो पर आचार्य शिष्य जैसे निश्चित था। वह अपना खड्ग देवी शिष्या की ओर बढ़ा बोला—"देवी शिष्या, लो यह खड्ग आज अपने हाथ में ही लो। जब तक मै हूँ तब तक तो शायद तुम्हें उसे चलाने की आवश्यकता न पड़े, परन्तु उसके पश्चात्····।"

यह कहते हुए सहसा उसका कण्ठ कुछ भर सा आया। किन्तु फिर भी जैसे वह प्रयास करता रहा। रुँधे कण्ठ स्वर से बोला—"देवी, दासता से मृत्यु कहीं श्रेयस्कर है; परन्तु देखो, आत्मघात नहीं, वह तो जघन्य अपराध है।"

आचार्य शिष्य के मुख से यह सुन देवी शिष्या अवश्य ही व्याकुल हो उठी। परन्तु प्रकट में उसका तटस्थ भाव किंचित भी विचलित नही हुआ। उसके ओष्ठकोर सहज मुस्कान से फैल उठे। बोली कुछ नही। हाँ, नेत्र पलक उठा आचार्य शिष्य की ओर अवश्य देखा; उसकी दृष्टि में आत्म-विश्वास झलक रहा था।

आचार्य शिष्य पराभूत हो उसकी ओर देखता रह गया।

सहसा, नगर द्वार से पुनः तूर्य नाद हो उठा। उसे सुन आचार्य शिष्य तुरन्त अश्वारूढ़ हो उधर ही की ओर दौड़ लिया। चलते-चलते शंबुक से बोला—"मित्र शबुक, अट्टालिका की चिन्ता न करना, अब तो बस केवल एक ही चिन्ता करनी है, और वह तुम्हें बताने की आवश्यकता नही।"

शबुक अपना खड्ग ऊपर आकाश की ओर फेंकते हुए, फिर साथ ही तत्परता से उसे सम्हालते हुए बोला—"स्वामी, देखा इस खड्ग को, कितनी भी दूर फेकूँ, वापस लौट कर आएगा मेरे हाथ में ही।'

अचार्य शिष्य उसकी इस बात को सुन हँस उठा। बोला—"सो तो ठीक है शंबुक, परन्तु शत्रु ऊपर आकाश में नहीं, आगे-पीछे हैं। देवी शिष्या के साथ आज निकलना कोई सरल कार्य नहीं।"

शंबुक नत मस्तक हो कह उठा—"आर्य, उस ओर से आप पूर्ण आश्वस्त रहें।"

चौबस

श्रेष्ठी भित्तविदक अपने भव्य प्रासाद के सभी बन्धनों को तोड़ बाहर की ओर भाग लिया। वह भागता जा रहा था और साथ ही अनर्गल रूप में कुछ कहता भी जा रहा था। गण-महानगरी की क्या कुछ परम्पराएँ हैं, वे तो दूर की बात रही, उसे अब अपने प्रासाद के ही किसी शिष्टाचार का ध्यान नहीं था। उसको इस मनोदशा में देख, राजपथ पर आते-जाते बालक और नारियाँ कुछ भयभीत-सी हो उठीं, परन्तु प्रौढ़ अथवा वृद्ध नागरिक सहानुभूति से उसकी ओर देखते रह गए। युवक हँस पड़े।

सामन्त कार्तिकेय, सामन्त वीरभद्र से बोले—"बन्धुवर, इस मूर्ख ने तो हमारा जैसे सारा ही रहस्य खोल कर रख दिया।"

सामन्त वीरभद्र बोले—"तो फिर क्या बात है, बन्धुवर ? जो हम करना चाहते हैं, वह किसी से छिपा भी क्यों रहे ? हम कोई अपराध तो कर नहीं रहे; जो कुछ कर रहे हैं वह वैशाली ही की तो एक पुनीत परम्परा की रक्षा है और वह हमें करनी ही होगी।"

और फिर सम्मुख खड़े एक युवक की ओर देखते हुए वह बोले—"क्यों आयुष्मान्, तुम सब कुछ समझ गए न, न समझे हो तो एक बार और समझ लो, वार कदापि खाली न जाए अन्यथा यह सब कुछ रखा रह जाएगा।"

शस्त्रधारी युवक ने नत मस्तक हो कहा—"आर्य, भला कभी यह भी सम्भव है, वैशालिक का प्रहार और वह खाली रह जाए।"

सामन्त कार्तिकेय उसकी कमर थपथपाते हुए बोले—"आयुष्मान सुमन्त, तुम्हारा यह साहस, आत्मविश्वास और दृढ़ निश्चय निस्संदेह तुम्हारे कुलोचित ही है।"

ये सब बातें गणसंवाहक के ही आवास में एक नीचे के कक्ष में हो रही थीं और, स्वयं गणसंवाहक इस समय ऊपर अपने विश्राम कक्ष में थे। वह वहाँ अभी-अभी पहुँचे थे और गवाक्ष छिद्रों में से झाँक, नगर द्वार एवं उसकी ओर जाते मुख्य राजपथ के दृश्यों को देख मन ही मन कुछ सोच रहे थे।

सहसा कक्ष में संदेशवाहक कपिल ने प्रवेश कर कहा—"आर्य, श्रेष्ठी भित्तविदक विक्षिप्त हो गए हैं !"

गणसंवाहक ने जैसे यह सुना ही नहीं। हाँ-हूँ, कुछ भी तो नहीं किया। दृष्टि भी पूर्ववत गवाक्ष छिद्रों में से बाहर नगर द्वार की ओर झाँकती रही। द्वार-कपाट अभी भी बन्द थे, और वहाँ नगर की एक नहीं अनेक कुल वधुओं, कुमारी कन्याओं

तथा प्रौढाओं से उसका समूचा निकट क्षेत्र जैसे लहलहा रहा था ।उधर, मुख्य राजपथ पर जन-समूह जैसे उमड़ा पड रहा था । उसे देख, कदाचित वह अपने से कुछ पूछ ही रहे थे कि इसी मध्य संदेशवाहक कपिल पुनः कह उठा—"आर्य, आस्थानागार में बन्धुवर अखण्डदेव पधारे हैं ।"

गणसंवाहक के लिए जैसे इस समय इस क्या, किसी भी संवाद में कोई नवीनता शेष नहीं रह गई थी । फिर भी उसे सुन उनके मुख पर हर्ष और रोष का, साथ ही आश्चर्य का भाव छा रहा । किन्तु प्रकट में न तो वह उसे कक्ष में लिवा लाने की बात कह सके और न ही यह कह सके कि वह वापस लौट जाए । केवल पूर्ववत दृष्टि किए बाहर की ओर ही देखते रहे । परन्तु संदेशवाहक आज इस समय एक नहीं, कई संवाद एक साथ लाया था । गणसंवाहक की, जिधर वह खड़ा था, पीठ थी; फिर भी वह इस बार अपना मस्तक अत्यन्त नत कर, इतना नत कि उसने अपने जीवन में इससे पूर्व कदाचित ही किया होगा, विनयातिरेक के स्वर में बोला—"आर्य, मुझे आज रात्रि तक का अवकाश देने की कृपा करें; मुझे एक महत्त्वपूर्ण कार्य है ।"

वैशाली की वर्तमान स्थिति में अपने संदेशवाहक के मुख से महत्त्वपूर्ण कार्य, एवं उसके लिए अवकाश की बात सुन गणसंवाहक जैसे कुछ विस्मित हो उठे । बाहर की ओर से दृष्टि हटा, वह उसकी ओर मुख कर बोले—"आयुष्मान कपिल, आज वैशाली में तुम्हें कोई महत्त्वपूर्ण कार्य है ! भला, वह क्या कार्य है ?"

अपने वृद्ध स्वामी के मुख से यह सुन वह लेशमात्र को भी आतंकित नहीं हुआ । हाँ, कुछ संकोच का सा अनुभव अवश्य कर उठा । तो भी उसे उत्तर देना था । अपनी दृष्टि ऊपर उठाए बिना ही बोला—"आर्यवर, मुझे आशीर्वाद दें ।"

गणसंवाहक ने साश्चर्य पूछा—"सो किस बात के लिए आयुष्मान ?"

संदेशवाहक कपिल सर्वथा अविचलित रह उत्तर में बोला—"आर्यवर, आज रात्रि बेला में राजा चेटक के प्रासाद में एक सामूहिक विवाहोत्सव है, और उसमें मुझे भी सम्मिलित होना है ।"

"तुम्हें भी सम्मिलित होना है ? किसके साथ ?" गणसंवाहक के मुख पर एक साथ ही आश्चर्य और आवेश का भाव छा उठा । संदेशवाहक कपिल ने इस बार जैसे साहस कर अपनी दृष्टि तनिक ऊपर उठाई । फिर नत मस्तक हो बोला—"आर्य-वर, देवी छाया के साथ···और आर्य, बन्धुवर अखण्डदेव भी तो ।"

कपिल के संवाद का एक-एक शब्द जैसे गणसवाहक पर वज्र प्रहार कर उठा । भारी उत्तेजना से उनका मुख तमतमा गया । नेत्र आग्नेय हो उठे । आवेश से कण्ठ-स्वर दृढ़ हो उठा । क्रोध से कंपकंपाते हुए बोले—"अरे ओ मातुंग पुत्र, क्या तुझे भी यही करना था ?"

परन्तु संदेशवाहक यह समझने में असमर्थ रहा कि गणसंवाहक ने यह बात स्वयं उसके लिए अथवा अपने ही पुत्र अखण्डदेव के लिए कही है । अतः वह उत्तर में मौन रहा । मौन रहे-रहे ही क्रोधाभिभूत गणसंवाहक के मुख से निकलती प्रताड़नाओं को सुनता हुआ वह कक्ष से बाहर हो लिया । गणसंवाहक कहते रह गये—"मेरा पुत्र, सामन्त भंजदेव का पुत्र—अखण्डदेव—एक ऐसे विवाह मंण्डप में, जहाँ एक अज्ञात

कुल युवक का पाणिग्रहण होगा, अपना भी पाणिग्रहण करायगा ! एकदम असम्भव ! एक सामन्त पुत्र और वह एक अज्ञात कुल युवक के साथ बैठेगा; वहाँ—जहाँ एक दासी कन्या भी बैठेगी।" फिर, वह जैसे इसी की रट लगाते रह गए !

उधर, नगरद्वार के पास न जाने कब से खड़ी मंजरिका अंततः क्षुब्ध हो उठी। अर्घ्य सामग्रियों से सज्जित रजत-आधार अर्ध-ऊर्ध्व हाथ पर टिकाए एक वही वहाँ नहीं खड़ी थी, वरन् सामन्त-पुत्री चारुस्मिता, महाश्रेष्ठी-प्रपौत्री रत्न कमल और न जाने कितनी अन्य श्रेष्ठी एवं सामन्त-पुत्रियाँ इस समय वहाँ उपस्थित थीं। देवी रोहिणी भी अब तक वहाँ आ पहुँची थी। अतः मंजरिका क्षुब्ध होकर भी प्रकट में कुछ न कह सकी। बस मन-ही-मन कुछ कह कर रह गई। उसका कण्ठ भी स्वाभाविक गति से अन्य अनेक कण्ठों से प्रस्फुटित होते मंगल गान में सहयोग देता रहा। यदा-कदा उनके इस मंगल गान को प्रकम्पित करता पृष्ठ भाग में लहराते जन-समुदाय के मध्य से उल्लसित, उच्च कण्ठ-स्वर में जयघोष भी फूट निकलता। उसे सुन मुख्य राजपथ के तोरण-बन्दनवारो का रूप और प्रखर हो उठता। सहसा, राजपथों के दोनों ओर खड़े वृक्षों की विशाल शाखा-प्रशाखाओं पर निर्मित मचानों से वादक-मण्डलियों का सुमधुर स्वर लहराता फूट निकला और उसके फलस्वरूप जैसे समूची महानगरी में ही उत्साह का सचार हो उठा।

परन्तु नगर द्वार की दूसरी ओर, बाहर, इस समय एक दूसरा ही दृश्य उपस्थित था। गजराज सेचनक आरूढ़ मगध-कुमारों की देह न केवल आपाद शीर्ष धूलि-धूसरित थी, बल्कि अबाध गति से दौड़ते आने के कारण उनके शरीर से स्वेद-जल भी प्रवाहित था, जिससे उनके वस्त्र अंग-प्रत्यंग से बुरी तरह चिपट उठे थे। मुख पर यात्रा-श्रम की क्लान्ति व्याप्त थी तथा कण्ठ बुरी तरह शुष्क हो उठा था। राजगृह से पलायन के समय यद्यपि उन्होने वैशाली को ही लक्ष्य बनाया था। पर इस समय उन्हें देख कुछ ऐसा लग रहा था, जैसे लक्ष्य पर पहुँचने के पश्चात् भी उन्हें कोई विशेष प्रसन्नता नही हुई। वे अभी भी, स्पष्टतः, उदास-मन तथा उचाट-चित्त दीख रहे थे तथा तत्क्षण उन्हें देख केवल यही प्रतीत हो रहा था कि पराजय की खिन्नता जैसे साकार रूप में वहाँ आ उपस्थित हुई हो। द्वार के उस ओर नगर के अन्तर में उत्साह का जो संचार था, उसकी ओर से वे केवल उदासीन ही प्रतीत हुए और सम्भवतः इसी उदासीनता के कारण दोनों राजकुमार परस्पर निकट बैठे रहने के पश्चात् भी केवल मौन हुए बैठे रहे।

अन्त में यह मौन भग किया विहल्ल ने। वह खिन्न हुआ सा बोला—"बन्धुवर !"

अपने अनुज के इस सम्बोधन पर हल्ल ने उत्तर में हाँ-हूँ कुछ भी न कहा। बस, मौन भाव से उसकी ओर देख कर रह गया। विहल्ल इस क्षण हल्ल के मुख की भारी उदासी को देख सिहर-सा उठा। परन्तु अगले क्षण ही अपने को संयत कर उसने जो कछ कहना चाहा था, उसे ही कहने के अभिप्राय से बोला—"क्यों बधुवर, वैशाली आकर हमने क्या भूल नहीं की ? जिस संघर्ष को पीठ दिखाकर हम राजगृह से भाग उठे थे, क्या अब वह ही यहाँ भी प्रस्तुत न होगा ? नगर द्वार के उस ओर से

हमारे स्वागत निमित्त आता यह सुमधुर कण्ठ स्वर न जाने कब रणभेरी में परिणत हो जाये, अब हमारे यहाँ आने से यह किसी प्रकार भी तो असम्भव नहीं रह गया। कुमार कोणिक वैशाली पर अवश्य ही आक्रमण करके रहेगा और वैशालिक भी उसका सामना किए बिना न रहेंगे। और उसका परिणाम ... ? बंधुवर यह तो युद्ध सन्मुख है।"

विहल्ल क्या कहने वाला था, हल्ल उसे वास्तव में पहले ही जान गया था। तो भी वह उसका उत्तर देने मे जैसे असमर्थ रहा। वह उसका भला क्या उत्तर दे, यह सोचते-सोचते उसकी उदास मुखमुद्रा गंभीर हो उठी।

वह मन ही मन सोचता रहा—'विपत्ति का आना अपने आप में एक दुर्भाग्य है, परन्तु यदि इस विपत्ति में कोई अनुज भी समभागी बन जाए तो वह निश्चय ही और भी बड़ा दुर्भाग्य है।' परन्तु अपने अन्तर के इस भाव को प्रगट किए बिना ही वह सहज ढंग में बोला—"आयुष्मान्, फिर इसके अतिरिक्त और कोई विकल्प भी तो नही था।"

राजा को बन्दी बना लिए जाने की बात वह उसे अब भी बताने का साहस न कर सका।

"क्यों नही था, बन्धुवर ?" विहल्ल तत्परता से बोला—"क्या हम तथागत के संघ में प्रश्रय नही पा सकते थे ? आखिर मनुष्य के लिए वही तो आज एक ऐसा निवेश है जहाँ सभी विकार अपना अन्तिम आश्रय पाते हैं।"

हल्ल अनुज की इस बात को सुन हल्का-सा एक ठहाका दे हंस पड़ा। बोला—"आयुष्मान्, बेचारा सघ तो स्वयं ही इस समय सघर्षरत है। महत्त्वाकांक्षी देवदत्त हिंसा का मार्ग ग्रहण कर बलात् बुद्धत्व प्राप्त करने के लिए उतारू है। देखो तो, यह भी कैसी विडम्बना है ? धर्म का उच्चासन भी भला कहीं बलात् प्राप्त किया जा सकता है ? फिर धर्म और राजनीति में अन्तर ही क्या रह गया ?

और यह कहते हुए उसके मुख से, मानो किसी भारी पराजय पर खिन्नता का अनुभव कर, बरबस एक साँस बाहर निकल गई और फिर, जब उसके फलस्वरूप मन का भार कुछ हल्का हो गया तो वह बोला—"आयुष्मान्, यह तो सर्वत्र अंधकार ही अंधकार है और यदि इस अंधकार पर विजय पा उसे आलोकित करना है तो उसके लिए संघर्ष अनिवार्य है। यह एक चिरंतन सत्य है। इस सत्य का चरितार्थ रूप ही तो तपस्या है और उससे विमुख होना पलायन है।"

विहल्ल ने तत्परता से परन्तु सहज रूप में प्रश्न किया—"तो फिर बन्धुवर, हमने राजगृह में ही रह यह संघर्ष क्यों नही किया ?"

हल्ल ने भी उसी तत्परता से उत्तर देते हुए कहा—"आयुष्मान, हम कर सकते थे, अवश्य कर सकते थे, परन्तु हमने जान-बूझ कर ऐसा नही किया। क्यों ? क्योंकि यह एक विवेकपूर्ण सिद्धान्त है कि मानवीय विकारों को उसके पहले उठान में कदापि न छेड़ा जाए, अन्यथा वे और अधिक उग्र हो उठते हैं।"

"और फिर चाहे वे अपने पहले ही उठान में सब कुछ नष्ट विनष्ट क्यों न कर दें ?" विहल्ल ने जैसे तर्क प्रस्तुत किया।

हल्ल ने कहा—"परन्तु आयुष्मान्, तनिक यह भी तो कल्पना करो कि यदि प्रतिरोध होता तो फिर क्या होता ? राजगृह में जो कुछ अब हुआ है उससे कई गुना अधिक रक्तपात हुआ होता और इस रक्तपात में सर्वाधिक क्षति निरीह प्रजा की होती; उस प्रजा की, जिसके कल्याण के लिए ही यह राज्य की व्यवस्था है । उसी प्रजा के श्रम पर तो हमारा यह राज-प्रासाद खड़ा है और उसी के बलिदानों पर हमारे वैभव का यह साम्राज्य टिका है । फिर भी, यदि हम उसके प्रति निष्ठावान न रह सकें तो तुम्हीं बताओ, फिर भला हमसे अधिक घिनौना और कौन हो सकता है ?"

विहल्ल को अपने अग्रज की यह बात सर्वथा निरर्थक प्रतीत हुई । उसे स्पष्ट ही आभास हुआ कि इन सभी बातों के पीछे निश्चय ही कोई गंभीर रहस्य छिपा है, जिसे उससे अब तक छिपाया जा रहा है । तनिक सोच वह फिर कहने लगा—"परन्तु बन्धुवर, जिस रक्तपात को टालने के अभिप्राय से हम यहाँ आए हैं क्या उसकी पुनरावृत्ति अब यहाँ नहीं होगी ? कुमार कारिणक अपनी वाहिनियों को ले यदि इस समय इधर ही की ओर अग्रसर हो तो इसमें क्या आश्चर्य है ।"

विहल्ल की यह बात सुन हल्ल को लगा, जैसे उसके मुख से अनायास ही कोई ज्वलंत तथ्य निकल गया है । वह कुछ सहम-सा गया । तो भी प्रकट में सर्वथा संयत रह, बोला—"आयुष्मान्, राजनीति के गतिमान क्रम में सब कुछ हो सकता है । यह तो प्राय: निश्चित है कि रक्तपात होगा, पर वह राजगृह वाले रक्तपात से कुछ भिन्न होगा । कुछ भी हो, युद्ध खुले प्रांगण मे ही शोभा देता है ।"

यह कह हल्ल तनिक रुक जैसे कुछ सोचता-सा रहा । फिर बोला—"आयुष्मान्, फिर शक्ति की शक्ति ही से तो टक्कर होगी ।"

"और संभवत: इस टक्कर मे एक स्वतन्त्र राष्ट्र केवल दास बन कर रह जाए । फिर, क्या यह प्रश्रयदाता राष्ट्र के प्रति विश्वासघात नहीं हुआ ?" यह कहते हुए विहल्ल ने अपनी दृष्टि उठा हल्ल की ओर देखा । विहल्ल के इस तर्क ने हल्ल को जैसे दुविधा में डाल दिया । वह उसका निराकरण करने के प्रयास स्वरूप बोला—"आयुष्मान्, विश्वास रखो यह तो राजनीति के सुस्थापित दोष हैं, जिन्हें परम्पराओं की संज्ञा दे सहज रूप में स्वीकार कर लिया गया है, अन्यथा तर्क का कहीं भी अन्त न होता और क्रिया सूत्रपात से वंचित रह जाती । अतएव परम्परा को ही तथ्य रूप में स्वीकार कर संतोष की साँस लेना श्रेयस्कर है । और वह परम्परा यही है जिसे हमने इस समय अपनाया है ।"

हल्ल के अन्तिम वाक्य में विश्वास की दृढ़ता प्रतीत हुई । अत: विहल्ल इस बार कुछ मौन रह गया; परन्तु वह अभी बिलकुल निरुत्तर नहीं हुआ था, यह उसके मुख-भाव से स्पष्ट दीख रहा था । जैसे, कोई अन्य तर्क प्रस्तुत करने को वह अपना कण्ठ-स्वर साध, विचारों को शब्दों मे बाँधने का प्रयास ही कर रहा था कि इसी मध्य उसकी दृष्टि सहसा पीछे छूटे मार्ग की ओर घूम गई । उसने देखा, कुछ अश्व तीव्र गति से दौड़ते हुए इधर ही की ओर आ रहे हैं । उन्हे देख, वह चौंक उठा । उसके मुख की रही-सही आभा भी पूर्णत: निस्तेज हो उठी । वह निश्चय ही घबरा उठा था । भर्राए कण्ठ स्वर में बोला—"लो बन्धुवर, जिस संकट की आशंका थी, अब वह सम्मुख

ही प्रस्तुत है।" और फिर नेत्र संकेत से उसने हल्ल का ध्यान उस ओर आकृष्ट करने का प्रयास किया। हल्ल ने भी जैसे सावधान हो, उधर की ओर देखा। वृक्षों के झुरमुट में से कई अश्व अनुक्रम से बाहर निकल तीव्र गति से नगर की ओर दौड़ते चले आ रहे थे। परन्तु वे अभी पर्याप्त दूर थे।

द्वार-शीर्ष पर खड़े सुरक्षा-प्रधान आचार्य शिष्य की सशंक दृष्टि भी इस समय तक उस ओर घूम चुकी थी और इन अश्वों को आते देख रक्षा-प्राचीर पर खड़े अन्य सैनिक भी पहले से अधिक सावधान हो उठे थे। उन्होंने अपने शस्त्रों को सम्भाल लिया।

इसी मध्य द्वार के इस ओर नगरभाग में मुख्य राजपथ पर एक भद्र वाहन द्रुत गति से दौडता आता दिखाई दिया, और वह जन-समूह के निकट पहुँच खड़ा हो गया। उसके पीछे भागते आ रहे अन्य वाहन भी सहसा जहाँ के तहाँ खड़े हो गए। अग्रगन्ता वाहन पर इस समय एक श्वेत पताका फहरा रही थी, अतः उसे देख किसी को भी यह समझने में विलम्ब न लगा कि उसमें कौन आया था। वाहन के रुकते ही उसमें से सर्वथा साधारण परन्तु लालित्यपूर्ण परिधान में देवी शिष्या नीचे उतर ली। देवी शिष्या को सम्मुख देख, जन समूह में जैसे भारी हलचल-सी मच गई। उत्साह के आवेग में सभी उसी ओर भाग लिए। देवी शिष्या का मार्ग अवरुद्ध हो उठा।

देवी शिष्या को इस प्रकार भारी भीड़ से घिरा देख आचार्य शिष्य कुछ झल्ला-सा गया पर मन ही मन उसे एक सुखद अनुभूति भी हो रही। तो भी, वह इस समय सगर्व गण-पुरुषों को व्यवस्था के लिए ललकार उठा। उधर, द्वार के समीप खड़ी कल कन्याएं तथा नववधुएं भी जैसे देवी शिष्या को देखने को आतुर हो उठीं। प्रतीक्षा में सभी की दृष्टि उस ओर केन्द्रित हो गई। यदि नहीं हुई तो केवल एक की, और वह स्वयं कुमारी मजरिका थी। उसके शीर्ष पर इस समय एक स्वर्ण कलश रखा था। उस ओर सर्वथा उपेक्षा का भाव दिखा, वह ध्यानस्थ हुई केवल उस ओर ही देखती रही, जिधर इस समय आचार्य शिष्य खडा था और इस सारे दृश्य को देख भारी गर्व का अनुभव कर रहा था। अन्ततः, उसके इस गर्व का मंजरिका की क्षुब्ध दृष्टि से साक्षात्कार हो रहा। वह कुछ खिसिया-सा गया। परन्तु अगले क्षण ही आचार्य शिष्य ने अपनी दृष्टि उठा उधर की ओर देखा, जिधर से कि अश्व प्रायः पूर्ववत गति के साथ सावेग दौड़ते चले आ रहे थे। उन्हें इस प्रकार आते देख वह दुविधा-ग्रस्त हो उठा।

और फिर उसके नेत्रों के सम्मुख महानगरी की सारी अन्तः स्थिति साकार रूप ग्रहण कर आ उपस्थित हुई। परन्तु उसे लगा, वह जिस समस्या विशेष पर जितना अधिकाधिक सोचता जा रहा है, वह भी उसी परिमाण में उलझती चली जा रही है। वैशाली का आन्तरिक कलह और विशेषकर गणसंवाहक का विरोध कब क्या रूप ग्रहण कर, अन्ततः विकट परिस्थिति उत्पन्न कर दे ; यह चिन्ता उसे इस समय अन्दर ही अन्दर खाए जा रही थी। वह भली भाँति जानता था कि देवी शिष्या को मागध कुमारों के स्वागत निमित्त आमन्त्रित कर उसने स्वयं ही स्थिति को और भी अधिक विषम बना लिया है, परन्तु इस सब कुछ का पूर्वाभास होते हुए भी वह न जाने क्यों इसका लोभ संवरण नहीं कर सका। क्यों? उसका अन्तर ही उसे इस प्रश्न का उत्तर दे उठा। परन्तु

उस उत्तर के साथ ही उसके अन्तर में एक अन्य प्रश्न उठ खड़ा हुआ : प्रत्यक्ष में मंजरिका और अन्तर में देवी शिष्या : क्या यह दोनों ही के प्रति विश्वासघात नहीं हुआ ? अपने से बोला—'ध्वजधर, यह तो सचमुच निम्नतम श्रेणी का विश्वासघात हुआ। यह सोचते हुए उसका हृदय जैसे भारी आत्मग्लानि का-सा अनुभव कर उठा। परन्तु, इसी क्षण जैसे कोई अन्तर में उसे सावधान कर कह उठा—"ध्वजधर, यह समय वैयक्तिक बातों पर सोचने का नहीं। देखता नहीं, वैशाली पर इस समय विपत्ति के काले मेघ छाए हुए हैं।" जैसे ऊपर सचमुच मेघ छाए हुए हों, उन्हें देखने के लिए उसकी दृष्टि बलात आकाश की ओर उठ गई। उसे लगा कि सूर्य की प्रचंड, दग्ध रश्मियाँ मानों असख्य जिह्वाओं में परिणत हो, चटकारें लेती हुई नाच रही हैं, वैसे ही जिस प्रकार प्रहारोद्यत रक्त-पिपासु खड्ग चमचमाते हैं। युद्ध-विभीषका की आशंका साकार रूप ग्रहण कर उसके नेत्रों के सम्मुख आ उपस्थित हुई, जिसे देख वह एक बारगी आपाद शीर्ष सिहर उठा। किन्तु दूसरे ही क्षण विवेक का सहारा ले, अपने को संयत करने का प्रयास करते हुए उसने दोनो ओर के दृश्यों पर विहंगम दृष्टि डाली। अश्व इस समय तक झुरमुट को फाँद मुख्य मार्ग पर आ चुके थे। उधर, गण पुरुषो के प्रयास स्वरूप नागरिक गण देवी शिष्या का अवरुद्ध मार्ग प्रशस्त कर पीछे हट, पंक्तिबद्ध खड़े हो चुके थे।

फिर भी, आचार्य शिष्य जनता को सावधान कर उठा। वैशालिकों को सावधान करता हुआ वह कह उठा—"भद्रजनों, वैशाली के लिए इस समय एक-एक क्षण मूल्यवान है।" और, उसका यह आह्वान पर्याप्त समय तक प्रतिध्वनित होता, नागरिकों के कानों में गूँजता रहा।

देवी शिष्या इस समय अपनी वादक मण्डली से घिरी सहज संकोच भाव से आगे की ओर अग्रसर थी। किन्तु, उसके चलने की गति धीमी थी। उसे इस प्रकार मन्द गति से चलते देख आचार्य शिष्य कुछ खीझ-सा गया, किन्तु साथ ही दत्तचित दृष्टि से उधर की ओर देखता भी रहा। यह देख मंजरिका के मन में आया—'शीर्ष के इस कलश को यहीं फेंक क्यों न मैं प्रासाद की ओर भाग लूं।" परन्तु अब तक देवी शिष्या उसके अत्यन्त निकट आ पहुँची थी। देवी शिष्या स्वभाव से संकोच शील थी तथा मितभाषिणी भी। तो भी इस अवसर पर जो उसका दायित्व था, जैसे वह उसे नहीं भूली। मंजरिका के अत्यन्त समीप पहुँच उसने सर्वथा सहज ढग तथा मृदुल स्वर में कहा—"देवी मंजरिका, तुम्हें बधाई है।"

यह कह, जैसे आन्तरिक प्रसन्नता से उसका मुख दीप्त हो उठा। मंजरिका ने उसकी ओर से यह तनिक भी आशा नहीं की थी। अतः वह दुविधा-सी में पड गई। सोचती रही कि देवी शिष्या ने क्या सचमुच उसे प्रसादित किया है अथवा उस पर उसका व्यंग प्रहार हुआ है। अतः वह तत्काल यह निर्णय न कर सकी कि उसका क्या उत्तर दे। परन्तु किसी निर्णय पर पहुँचने के पूर्व ही जैसे उसके मुख से स्वाभाविक गति में निकल गया—"देवी शिष्या, तम्हें भी तुम्हारे सौभाग्य पर बधाई है।"

देवी शिष्या ने नेत्रकोरों से उसकी ओर देखा; उसके मनोभाव को वह समझ चुकी थी, तो भी प्रकट में वह केवल तटस्थ भाव दिखा कर रह गई। वास्तव में वह

कहना चाहती थी—"श्रेष्ठी-पुत्री, ईर्ष्या प्रेम के पुनीत स्वरूप पर भारी कलंक है ; संकीर्णता उसका उपहास है ; बलिदान उसका अलंकार है। और यदि, वह सौहार्द का सृजन कर सके तो यही उसका सबसे बड़ा पुरस्कार है।"

किन्तु यह कहने के लिए उद्यत होकर भी वह मौन ही रही। बस, द्वार की ओर बढ़ ली। मंजरिका ने इस पर जैसे अपने को परास्त हुआ अनुभव किया और उसी की कोई अनुभूति उसे अन्दर ही अन्दर कंचोटती रह गई। चारुस्मिता उसके निकट ही खड़ी थी। मजरिका के अन्तर का यह मनोभाव उससे छिपा नही रह सका। परन्तु उसने भी इस समय कहा कुछ नहीं; केवल सरोष उसकी ओर नेत्रों को तरेर कर ही बस कर गई।

आचार्य शिष्य ने भी इस दृष्य को देखा; परन्तु दूर से ही। तो भी, उसके नेत्र मुस्करा-से उठे। 'देवी शिष्या ने मंजरिका से भला क्या कहा होगा, और यदि कुछ कहा है तो क्यों कहा है, क्यों क्या, उसे कुछ कहने का भी अधिकार नही हैं;' वह यह सभी कुछ सोचता-सा रह गया। वह सोचने लगा—'देवी शिष्या ने उसे निश्चय ही बधाई दी होगी, बधाई देते समय वह-मन-ही मन न जाने कितनी प्रसन्न हुई होगी, अवश्य ही मेरे भाग्य को सराहा होगा; कौन जाने, मंजरिका के भाग्य को ही सराहा हो, और जब उसने मंजरिका के भाग्य को सराहा होगा तो भला उसने अपने ही सम्बन्ध में क्या सोचा होगा, सोचा भी अथवा नही, भला कौन क्या कह सकता है? और यदि सोचा है तो भला क्या सोचा होगा, कदाचित वह खिन्न भी हो उठी हो। और ध्वजधर, यदि वह सचमुच खिन्न हो उठी होगी तो तू समझ, तुझे तेरे इस जीवन का सबसे बडा पुरस्कार मिल चुका है।' यह बात कल्पना में आतेते ही आचार्य शिष्य जैसे एक भारी मनस्तोष की साँस ले उठा। उसे लगा, द्वार के समीप कुलकन्याओं का यह पूरा समुदाय जैसे एक पुष्प-दल के समान है, और उसमें देवी शिष्या का निश्चय ही कोई विशिष्ट स्थान है। फिर मन-ही-मन बोला—'और उनके मध्य उसे देख मैं, न जाने क्यों. गौरवान्वित हुआ सा अनुभव कर उठता हूँ।'

और, वह इस समय इसकी ओर दत्तचित्त दृष्टि से केवल इसी बहाने देखता रहा कि देखो कब वह अपने निर्दिष्ट स्थान पर पहुँचती है। वह वहाँ पहुँचे कि मैं भी द्वार कपाटों को खोलने का आदेश दे दूँ, और फिर नागरिको को सावधान करता हुआ तूर्य, निनाद कर उठे। फिर, जो कुछ भी होगा, देखा जाएगा, जो कुछ होगा, देवी शिष्या की उपस्थिति में ही तो हो रहेगा; उसे देखते-देखते इस वैशाली के लिए, एक उच्च आदर्श के लिए यदि प्राण भी···।"

सहसा, जन समुदाय के पृष्ठ भाग से उठा एक उच्च स्वर समूचे निकट क्षेत्र पर छा गया। श्रेष्ठी भितविदक मानों अत्यन्त गम्भीर भाव से अपनी पूरी शक्ति लगा आह्वान करता हुआ कह उठा—"व्रात्य कुल भूषणो, सावधान! अरे, सावधान हो,! तनिक उधर क्षितिज की ओर भी देख लो।"

यह कह वह तनिक रुक गया। किन्तु अगले क्षण ही उसका कण्ठ स्वर जैसे व्यंग करता-सा कह उठा—"क्यों भद्रजनो, क्या कुछ भी नहीं दीख रहा; अच्छा तो फिर तुम शीघ्र ही कुछ देख लोगे।"

और, यह कह वह उच्च ठहाका दे, हँस उठा। उसकी हँसी में निश्चय ही एक रहस्यपूर्ण, आतंकित करती-सी गम्भीरता थी, जो सहज ही में सर्वत्र छा गई। उसका कण्ठ स्वर, कण्ठ स्वर में से ध्वनित शब्द और फिर उसकी हँसी का वह ठहाका नागरिकों के कानो में गूँजता रहा और वह न जाने कब तक गूँजता रहता कि सहसा नगर के मध्य मण्डल में कहीं किसी काँस्य घड़ियाल पर अनर्गल प्रहार हो उठे। उसे सुन श्रेष्ठी भित्तविदक फिर एक उच्च ठहाका दे, हँस उठा।

समूचे वातारण में गम्भीर सन्नाटा-सा छा गया।

श्रेष्ठी भित्तविदक के विक्षिप्त प्राय कण्ठ स्वर और काँस्य घडियाल के भीषण निनाद को सुन सभी नागरिक आतंकित हो उठे। सब ही की तो मुख आभा निस्तेज हो गई। आशका भरी, सहमी दृष्टि से वे द्वार-शीर्ष पर खड़े आचार्य शिष्य की ओर देख उठे। वह इस समय नगर द्वार की ओर बढते आ रहे अश्वों को देख रहा था। सहसा उधर की ओर से दृष्टि फेर उसने अपने निकट खड़े शस्त्रधारी गणपुरुषों को कुछ सकेत दिया। और उसके उस संकेत पर, एक-एक कर कई गणपुरुष देखते-देखते ही तत्परता से रज्जुओ के सहारे प्राचीर से बाहर की ओर कूद पड़े। नगर द्वार तो अभी भी बन्द था ही। उधर, घड़ियाल पर प्रहारो का क्रम भी यथावत् गतिमान था। रज्जुओं के सहारे सैनिको को बाहर, नीचे की ओर कुदाने के पश्चात् आचार्य शिष्य जैसे तत्काल आगे कुछ भी सोचने मे असमर्थ रहा। बस, असहाय दृष्टि से वह द्वार के समीप खड़ी एक नहीं अनेक कन्याओं की ओर देख सका। उसने देखा, वे सभी इस समय त्रस्त हरणियों की भाँति एक दूसरे की ओर देख-देख भयभीत हुई जा रही थीं। फिर उसकी दृष्टि अकस्मात क्रमश: मजरिका और देवी शिष्या पर जा टिकी। मंजरिका के मुख पर जैसे भारी निराशा का भाव व्याप्त था, और देवी शिष्या की दृष्टि उसी की ओर ऊपर, नगर-द्वार के शीर्ष पर केन्द्रित थी। किन्तु उसके मुख पर इस समय भी तटस्थ भाव व्याप्त था। यह देख, आचार्य शिष्य जैसे खीझ उठा। सोचने लगा कि यह कोई कोमलाँगी है अथवा पाषाण मूर्त्ति? परन्तु दूसरे ही क्षण उसे देखकर मानों उसके अन्तर की व्यग्रता लज्जित हो रही। वह मन-ही-मन 'धन्य-धन्य' कह उठा और साथ ही उसके हृदय मे उत्साह का सचार हो उठा, और फिर निकट मे ही खडे अनिरुद्ध को वह कोई आदेश दे, सोपान पर से सावेग उतरता अपने अश्व की ओर बढ लिया।

काँस्य घडियाल की अविराम टकारो पर आचार्य शिष्य के सुडौल अश्व की पद चापे गूंज उठी।

उन्हें सुन, उदास नागरिकों के मुख पर फिर उत्साह का भाव त्वरित हो उठा। पर, श्रेष्ठी भित्तविदक की वह विक्षिप्त हंसी अब तक जैसे सचेष्ट हो बुरी तरह सहम, उसी के वक्ष से चिमट उठी।

गणसवाहक सामन्त भजदेव का रौद्र रूप इस समय जैसे अपनी पराकाष्ठा पर पहुँच चुका था। दाएं हाथ से अपनी पूरी शक्ति के साथ घडियाल पर अनगिनत प्रहार करते रहने के कारण उनके केश बिखर उठे थे तथा श्रम से वस्त्र स्वेद-सिक्त हो गए। वह काँस्य घडियाल पर प्रहार करते जा रहे थे तथा उसी के साथ साथ उच्च, अनर्गल, गम्भीर, परन्तु विक्षिप्त प्राय कण्ठ स्वर में कहते जा रहे थे—"मैं गणसंवाहक हूँ;

वैशाली की सर्वोच्च नियामक संख्या गणसंथागार का मैं पूर्णाधिकार सम्पन्न अधिपति हूँ। मैं किसी के प्रति उत्तरदायी नही, वरन् स्वयं राजा चेटक मेरे प्रति उत्तरदायी है। अरे मेरे प्रति न सही सथागार के प्रति तो है ही। फिर भी मेरी यह उपेक्षा क्यों?"

यह कह, उनका गम्भीर स्वर जैसे विश्राम की इच्छा से कुछ हल्का हुआ। परन्तु दूसरे ही क्षण अन्तर मं फिर सावेग उठी किसी अन्य हिलोर के साथ वह पुनः दृढ़ हो उठा। वह उच्च स्वर में कहने लगे—"गणसंस्थागार के अधिकारों की रक्षा करना मेरा कर्त्तव्य है, केवल मेरा। राजा चेटक यदि चाहे तो भी वह कदापि अधिनायक नहीं बन सकता। गणसथागार उसे स्वेच्छाचारी बनने का अधिकार कभी नहीं दे सकता। अन्यथा, या तो वह स्वयं नही रहेगा, या फिर मैं नहीं रहूँगा, संथागार नहीं रहेगा, और जब गणसथागार ही नही रहेगा तो फिर यह शासन भी नहीं रहेगा, किसी की कोई भी सत्ता नही रहेगी, यहाँ तक कि यह वैशाली भी नही रहेगी। जब उसका गणसंथागार ही नहीं रहेगा तो फिर भला वह ही कैसे रहेगी और जब वह नहीं रहेगी तो कुछ भी नहीं रहेगा, सब कुछ मिट जाएगा, मैं मिट जाऊँगा, चेटक मिट जाएगा; अरे ओ सुनो, परन्तु वैशाली की पुनीत परम्पराएं नहीं मिट सकती, सामन्त भंजदेव उन्हें कदापि न मिटने देगा, नही मिटने देगा, बिलकुल ही तो नहीं मिटने देगा; और यदि वे मिटीं भी तो उनसे पहले स्वयं भंजदेव मिट रहेगा, और वह स्वय मिटने से पहले सब को, उन सभी को जिन्होने गणसंथागार के अधिकार को चुनौती दी है, मिटाकर छोड़ेगा।"

सहसा, उनका कण्ठ स्वर जैसे थककर अवरुद्ध हो उठा। वह विश्राम की एक साँस लिया चाहते थे; पर साँस तनिक सा सहारा पाते ही बुरी तरह फूल उठा। फूलती साँस, और उस से भी अधिक फूलते वक्ष के साथ उन्होंने अपने पैरो पर गिरे उत्तरीय को सावेश कंधे पर पटका, मस्तक पर बहती स्वेद जल धार को सावेग तर्जनी अंगुली से पोंछ नीचे की ओर झटका, और फिर विक्षिप्त प्राय दृष्टि से प्रांगण में खड़े जन समुदाय की ओर देखा। किन्तु उनकी दृष्टि जैसे बलात् उधर से उचट सम्मुख ही खड़े एक युवक पर आ टिकी। उसे देख पहले तो वह जैसे स्तब्ध हो गए, परन्तु दूसरे ही क्षण क्रोधावेश के कारण उनके नेत्र आग्नेय हो उठे; मुख तम-तमा उठा। मेघ-गर्जन सदृश कड़कते कण्ठ स्वर में बोल उठे—"अरे ओ अखण्ड, तू यहाँ? अरे आज तू यहाँ गणसंवाहक के प्रासाद में? मैं पूछता हूँ किसने कहा है तुझे यहाँ आने को? जा—अब तेरा यहाँ कुछ नही, जो था, वह कभी का मिट चुका है"। यह कह उनके कण्ठ स्वर में सहसा विक्षोभ का सा भाव उभर आया। तनिक रुक वह फिर सावेश बोले—"अखण्ड, मैं कहता हूँ, तू हट जा मेरे नेत्रों के सामने से, अभी—तुरन्त, अन्यथा—यह समूची वैशाली यहाँ खड़ी आज कोई और ही दृश्य देखेगी।"

परन्तु वृद्ध पिता की वह प्रताड़ना जैसे निष्फल रही। अखण्डदेव यथा स्थान ही निश्चल, अडिग खडा रहा। उसके इस दुस्साहस को देख गणसंवाहक जैसे और भी अधिक क्रोधाभिभूत हो उठे। पुनः कड़कते स्वर में बोले—"अखण्ड सुना नहीं क्या तूने? मैंने कहा, हट जा मेरे नेत्रों के सामने से, नहीं तो अभी कुछ अनिष्ट हो रहेगा। अरे, मैंने तो न जाने कब से यही समझ लिया है, मेरे कोई पुत्र ही नहीं था, और यदि था भी तो वह कभी का मर चुका है।"

गणसंवाहक के उत्तेजित मुख पर, जैसे सहसा पीडा का-सा भाव उभर आया; जो उनके एक मात्र पुत्र को मानों हिला-सा गया। इस बार जैसे साहस कर उसने अपने नेत्र-पलक ऊपर उठाए, पर वे अधिक देर तक टिके न रह सके। दृष्टि नत होते ही उसका शीर्ष भी जैसे अवनत हो रहा। नत मस्तक किए हुए ही वह अत्यन्त विनम्र स्वर में बोला—"पूज्यपाद! मैं इस समय गण सेवा में हूँ और सुरक्षा प्रधान आचार्य शिष्य ने गणसंवाहक की रक्षार्थ मुझे इसी प्रासाद पर नियुक्त किया है।"

अखण्ड देव के मुख से यह सुन गणसंवाहक का क्रोधावेश एवं विक्षोभ जैसे स्वयं ही, सहसा आश्चर्य में परिणत हो उठा। उनके नेत्र विस्फारित हो रहे तथा स्वतः नम्र हुए कण्ठ स्वर में पूछने लगे—"अखण्डदेव, तुम्हारे मुख से यह जो कुछ मैं सुन रहा हूँ क्या वह सत्य है, अथवा यह भी तुम्हारा कोई प्रपंच है?"

"श्रद्धास्पद, विनीत सेवक ने जो कुछ कहा है वह अक्षरशः सत्य ही है। यह भी सत्य है कि मेरी महत्त्वाकाँक्षा पूर्ववत है, परन्तु आचार्य शिष्य ने अपने अकाट्य तर्कों से उसके स्वरूप को अवश्य बदल दिया है।" यह कहते हुए उसने अपनी दृष्टि उठा वृद्ध पिता की ओर देखा। उनका फूलता श्वास इस समय तक जैसे सामान्य अवस्था में आ चुका था। तनिक जिज्ञासा का मा भाव प्रकट करते हुए वह बोले—"सो कैसे, आयु-मान्?"

इस बार पिता के मुख से आयुष्मान का सम्बोधन सुन अखण्ड का हृदय आत्मीयता का स्पर्श कर पुलकित हुए बिना न रहा। श्रद्धाभाव से अपना मस्तक पूर्व से भी अधिक नत कर वह अति विनम्र स्वर में कुछ कहने को उद्यत ही हुआ था कि इसी मध्य आचार्य शिष्य का अश्व द्रुत गति से दौड़ता हुआ वहाँ आ पहुंचा। और, आचार्य शिष्य उसकी पीठ से कूद सावेग गणसंवाहक की ही ओर बढ़ लिया। निकट जा उसने वयोवृद्ध सामन्त का अभिवादन भी किया। फिर अखण्डदेव की ओर तनिक देख नत मस्तक हो खड़ा हो गया। गणसवाहक ने प्रांगण में खडे श्रेष्ठी व सामन्त जनों की ओर जैसे साश्चर्य देखा और फिर उन्होने अपनी दृष्टि आचार्य शिष्य के मुख पर केन्द्रित कर दी। उसे देख उनका मुख भाव जैसे एक क्षण में ही परिवर्तित हो उठा। प्रांगण में खड़े जन-समुदाय की ओर देखते रह वह न जाने क्या सोच, सावेग आचार्य शिष्य की ओर बढ़ लिए। उसके सम्मुख जा, दृढ़ कण्ठ स्वर में बोले—"जानते हो आयुष्मान, तुम इस समय बंदी प्राय अवस्था में हो?"

गणसवाहक के मुख से यह सुन प्रांगण में खड़े सभी सामन्त एवं श्रेष्ठी एक स्वर में तो उनका जयजयकार कर उठे। किन्तु निकट में खड़े सभी भृत्यजन आतंकित हुए सहम उठे। आचार्य शिष्य भी जैसे मन-ही-मन सोचने लगा,—'अखण्डदेव ने यह कहीं विश्वासघात तो नहीं किया?' और फिर उसने संदिग्ध दृष्टि से उसकी ओर देखा; फिर सामन्त भंजदेव की ओर। बोला कुछ नहीं। गणसंवाहक पुनः जैसे क्रोधावेश के से दृढ़ स्वर में पूछ उठे—"अरे ओ अबोध बालक, मौन क्यों है, तू उत्तर क्यों नहीं देता?"

आचार्य शिष्य को इस बार निश्चय ही जैसे साश्चर्य, भारी संदेह हो उठा। फिर भी प्रगट में उसने अपने को, प्रयास कर, सर्वथा अविचलित रखा। पदाचित

गंभीर एव संयत स्वर में वह बोला—"आर्य, यदि मैं आपके इस प्रश्न का उत्तर देता तो उसका स्पष्ट ही यह अर्थ होता कि आपको मुझे बंदी बनाने का अधिकार प्राप्त है। किन्तु वैशाली में इस समय यह अधिकार केवल एक का ही है, और जिसे वह अधिकार प्राप्त है वह स्वयं मैं हूँ।"

आचार्य शिष्य के इस उत्तर से वह वातावरण सावेश गंभीर हो उठा। प्रत्युत्तर में गणसवाहक ने किंचित व्यंग्य के से कर्कश स्वर मे कहा—"और तू फिर भी अपने अधिकार का उपयोग नही कर रहा।"

यह सुन, आचार्य शिष्य के मुख पर स्पष्ट ही क्रोध का भाव उभर आया। दृष्टि दृढ कर वह बोला—"यह बताना आर्य का कार्य नही; वह तो मेरा दायित्व है और इस सम्बन्ध में कोई भी निर्णय करना केवल मेरा एकाधिकार है; यहाँ तक कि स्वयं गणाध्यक्ष भी उसमें हस्तक्षेप नही कर सकते।"

श्रेष्ठी एवं सामन्त जनों ने यह आचार्य शिष्य की केवल उद्दंडता समझी। अतः वे सभी उत्तेजित हो उठे। आचार्य शिष्य की ओर तीखी दृष्टि से देखते हुए उन सभी ने तो अपने खड्ग ऊपर उठा लिए। अन्तिम पक्ति में खडे महाश्रेष्ठी मणिरत्न बोल उठे—'मूर्ख बालक, राजा चेटक भले ही हस्तक्षेप न कर सकें, परन्तु श्रद्धास्पद सामन्त भंजदेव तो कर ही सकते हैं। जानता नही, वह गणसंवाहक हैं—संघ की सर्वोच्च नियामक संस्था गणसथागार के अधिष्ठाता।"

महाश्रेष्ठी क्रोधावेश मे आगे अभी कुछ और कहा चाहते थे कि इसी मध्य गणसंवाहक ने इंगित से उन्हें रोक दिया। तत्पश्चात् गणसंवाहक कुछ कहने को उद्यत ही हुए थे कि आचार्य शिष्य प्रत्युतर मे बोल उठा—"महाश्रेष्ठिन्, वह अधिष्ठता थे पर अब नही हैं।"

"सो कैसे ?" गणसंवाहक ने तनिक आश्चर्य का सा भाव प्रकट करते हुए पूछा।

आचार्य शिष्य तत्परता से बोला—"आर्यवर, वैशाली में इस समय वाह्य आक्रमण के संकट को देखते हुए आपात स्थिति घोपित है, और उसकी घोषणा शासनाध्यक्ष के नाते स्वय राजा चेटक ने की है। प्रवेणी पुस्तक ने उनको यह अधिकार प्रदान किया है। और, गणसवाहक के नाते आर्य का भी यह प्रमुख कर्त्तव्य है कि वह निष्ठापूर्वक आपात नियमो का पालन करे।"

"और, यदि न करूँ तो ?" गणसंवाहक ने आचार्य शिष्य की ओर सीधी दृष्टि करते हुए मानों उत्सुकता से पूछा। आचार्य शिष्य ने नत मस्तक हो विनीत स्वर में कहा—"आर्य, नियामक संस्था के प्रमुख होने के नाते आप ऐसा भी करेंगे, इसमें मुझे संदेह है।"

आचार्य शिष्य के मुख से यह सुन गणसंवाहक के मुख पर जैसे हर्ष का सा भाव झलक आया तथा नेत्र दीप्त हो उठे। सोल्लास हाथ बढ़ा, उन्होंने आचार्य शिष्य की पीठ थपथपाते हुए कहा—"आचार्य शिष्य, तुम्हारा यह संदेह उचित ही है।"

आचार्य शिष्य भी गद्गद् हो उठा ; श्रद्धातिरेक से वह नीचे झुक गया।

गणसंवाहक भी गद्गद् हो उठे। वह आचार्य शिष्य को अपने वक्ष की ओर

खींचते हुए बोले—"ओ चेटक के दत्तक पुत्र, तूने मेरे ऊपर जो उपकार किया है उसे तो मैं आमरण नहीं भूल सकूँगा।" और, यह कहते हुए उन्होंने अखण्डदेव की ओर देखा। अखण्डदेव का हृदय भी भाव-विभोर हो उठा; नेत्र सजल हो गए। तथापि वह मन-ही-मन लज्जा का-सा अनुभव करता हुआ नत मस्तक हो गया, तथा तत्पश्चात चरण स्पर्शोद्यत हो पश्चात्ताप के से बोझिल कण्ठ स्वर में बोला—"पितृवर, मैं अपने जघन्य अपराध के लिए क्षमा चाहता हूँ।"

गणसंवाहक के नेत्रों से स्नेह की जलधारा फूट निकली और कण्ठ स्वर बिखर सा गया। उसे किसी प्रकार संयत करने का प्रयास करते हुए बोले—"आयुष्मान अखण्ड-देव, तुमने अन्ततः वैशाली के स्वर्णिम इतिहास को कलंक से बचा ही लिया। मैं इसके लिए हृदय से आभारी हूँ। परन्तु यह समय अब इस तरह बिताने का नहीं। हमें शीघ्र ही अपने कर्त्तव्य का निर्धारण करना होगा। तुम यहीं रहकर आचार्य शिष्य की सहायता करोगे और मुझे तुरन्त ही आयुष्मान सिंह की सहायतार्थ गंगातट की ओर प्रस्थान करना होगा।"

वृद्ध गणसंवाहक के इस प्रस्ताव पर आचार्य शिष्य तथा अखण्डदेव दोनों ही कुछ कहने को उद्यत हुए। परन्तु उन्हीं की मन की बात को सर्व प्रथम सदेश वाहक कपिल कहने में सफल रहा। बोला—"श्रद्धास्पद, आपने तो यावज्जीवन ही वज्जिसंघ सीमांत की रक्षा की है, अतः अब आपको विश्राम की आवश्यकता है। क्या आपको हम तरुणों पर विश्वास नहीं?"

'विश्वास नहीं ? यह किसने कहा कि विश्वास नहीं। विश्वास क्यों नहीं आयु-ष्मान, परन्तु अभी तो तुम्हारे खेलने खाने के दिन हैं। आज संध्या ही तो तुम्हारा दासी ......ओ हो क्षमा करना......आयुष्मती छाया से विवाह है। जानते हो, इस नाते तुम मेरे क्या हुए ? भला क्या कोई विवेकशील पुरुष अपने सद्य जामाता को........ युद्ध......की......वि......भी......षिका...

गण संवाहक का वाणी प्रवाह सेवक सेविकाओं के मुख से, सहसा, उच्चारित जय-जयकार के मध्य विलीन हो गया। और सन्देश-वाहक कपिल तो हर्षातिरेक में सुध-बुध खो, पुकार उठा—"महाराज।"

वह, बस आगे कुछ नहीं कह सका।

परन्तुगणसंवाहक का कण्ठ स्वर पुनः संयत हो रहा। वह बोले—"मेरे उस दिन के अपराध को यदि आयुष्मती छाया और तुम, दोनों ही, केवल दोनों ही नहीं, वरन् दास वर्ग समेत सारा वैशाली समाज क्षमा कर सके तो मैं समझूँगा मुझे गण-सेवा का यथोचित पुरस्कार मिल गया है।" और फिर सहसा अपनी दृष्टि आचार्य शिष्य की ओर घुमा तथा उसके अत्यन्त निकट जा बोले—"आयुष्मान, तुम केवल गण मुकुट राजा चेटक के ही नहीं, वरन् सारे वैशाली समाज के दत्तक पुत्र हो।" यह कह वह सहसा रुके और फिर कुछ सोचते हुए से बोले—"फिर देवी आम्रपाली की शिष्या ने ही भला क्या दोष किया है ? आष्युमानो क्या वह वैशाली की दत्तक पुत्री बनने के योग्य नहीं ? योग्य ही नहीं बल्कि अधिकारिणी भी है।"

गणसंवाहक का कण्ठ भर आया और नेत्र सजल हो उठे।

वह आर्द्र कण्ठ स्वर में पुनः बोले—"आयुष्मान, मेरे लिए अब यह सम्भव नह कि मैं उसके पास जाऊँ, समय जो नहीं रह गया। पर उससे क्या ? पुत्रवर, तुम उस इतना तो कह ही सकते हो, क्यों इतना तो कह ही दोगे कि सामन्त भंजदेव...नहीं-नह ...विक्षिप्त भंजदेव, नहीं आचार्य शिष्य, सामन्त भंजदेव को ही, उस सामन्त को, जि अपना खोया पुत्र आज अनायास वापस मिल गया है, क्षमा कर देना। उससे कहना.. पुत्री, आयुष्मती वैशाली में दास वर्ग की मुक्ति की तुम गौरवमयी प्रतीक हो। क्य दास और क्या स्वामी, मानव-मानव के बीच में यह एक व्यर्थ ही की तो दीवार है औ वह दीवार भला क्या किसी गणराज्य में, उस गण राज्य में जहाँ सभी समान हों, क्य किसी प्रकार शोभा दे सकती है।"

अपने कर्णधार गणसंवाहक के मुख से यह सुन सभी सामन्त एवं श्रेष्ठी ज भौंचक्के से उनकी ओर देखते रह गए ; सोचते रहे कि वह आज अवश्य ही विक्षिप्त हो उठे हैं, परन्तु जैसे अभी उनमें प्रतीक्षा का धैर्य शेष था।

किन्तु, इसी मध्य गणसंवाहक ने सहसा अपना हाथ बढा आचार्य शिष्य के हाथ में लटकता खड्ग छीन लिया। आचार्य शिष्य केवल देखता रह गया। उसे लगा, जैसे उसके पग नीचे की भूमि खिसक गई हो। श्रेष्ठी एवं सामन्त जनों के मुखों पर हर्ष क प्रगाढ़ भाव छा उठा, वे उल्लसित कण्ठ स्वर में उनका जय जयकार कर उठे और गण संवाहक एक जोर का ठहाका दे हंस पड़े, हंसते रहे, हंसते हुए ही उनका हाथ भी उ रहा, आगे भी बढ़ लिया। उनकी उस समय की मुखाकृति को देख सभी भृत्य ज भयभीत हो उठे। परन्तु अगले क्षण ही वे उत्तेजित हुए से कृत सकल्प हो उठे कपिल सावेश चिल्ला उठा—"यह विश्वासघात है।"

उधर सामन्त कार्तिकेय कड़कते हुए जैसे आह्वान कर उठे—"अरे, देखते क्य हो, पहले इसी मातंग पुत्र को पकड़ लो।'

गणसंवाहक और भी जोर का ठहाका दे हँस पड़े। किन्तु अगले क्षण ही उनर्क मुख मुद्रा अतीव गम्भीर हो उठी। अपना खड्ग सामन्त कार्तिकेय की ओर करते हु वह बोले—"आयुष्मान, तुम भूल कर रहे हो।"

और यह कह वह सम्मुख खड़े अश्व की ओर सावेग दौड, मानों अपने को उछा लते हुए उसकी पीठ पर जा बैठे। फिर सभी की ओर दृष्टि कर वह बोले—"आयु ष्मानो, केवल तुम ही नहीं, तुम्हारे साथ मैं भी भूल कर रहा था। अरे ओ मूर्खो, एकत तो वैशाली का सुहाग है, गणसंस्थागार उसका भव्य प्रासाद है, एक ऐसा प्रासाद वि जिसमें कोई राजा नहीं, और सभी राजा हैं, स्वामी और भृत्य के भेद को वह कदापि सहन नहीं कर सकता।" और फिर, उन्होंने अश्व को एड़ लगा दी। अश्व इंगित पाते ही दौड़ उठा। उनके अश्व को उस प्रकार सावेग दौड़ते देख सभी एक स्वर में, उच्च स्वर में, जितने भी जोर से वे कह सकते थे, पुकार उठे—"लेकिन, आर्य ?"

किन्तु वयोवृद्ध गणसंवाहक ने पीछे मुड़ कर भी नहीं देखा। नगरद्वार इस समय तक खुल ही चुका था उसे फाँद उनका अश्व पूर्व से भी अधिक तीव्र गति से गंगा तट की ओर जाने वाले मार्ग पर मुड़ लिया। वहाँ अब कोई नहीं था, यहाँ तक वि उनके विचार भी नहीं। हाँ, उनके मुख पर एक भाव अवश्य था और उस भाव वे

साथ अदम्य उत्साह भी।

गणसंवाहक के प्रासाद से निकल आचार्य शिष्य जब सामन्तपुत्र अखण्डदेव तथा सन्देशवाहक कपिल के साथ मुख्य राजपथ पर आया तो नगर द्वार की ओर से द्रुत गति से दौड़ते आ रहे दो अश्वारोही सहसा उसके पास पहुँच, ठहर गए। उनके मुख के भाव को देख कुछ ऐसा प्रतीत हुआ ; जैसे वे कोई सन्देश लेकर आए हैं तथा उसके निवेदन के लिए अत्यधिक आतुर हैं। आचार्य शिष्य उनकी इस भाव-मुद्रा को देख कुछ चिन्तित हो उठा, परन्तु दूसरे ही क्षण सवाद विशेष को सुन उसका मख प्रसन्नता से कमल की भाँति खिल गया। साश्चर्य बोला—"क्या कहा, वे रिपु-अश्व नहीं, श्रेष्ठीपुत्र कप्पिन के सार्थ के अग्रगता अश्व थे!"

आचार्य शिष्य हर्षातिरेक मे जोर से पुकार उठा—"देवी शिष्या, ओ कल्याणमयी देवी शिष्या, तुम्हारी उपासना सफल हो गई।"

तत्पश्चात् आचार्य शिष्य ने अपने अश्व की वल्गा ढीली कर, उसे पूरे वेग से छोड़ दिया। अश्व ने भी जैसे देवी शिष्या के पास ही जाकर साँस लिया। परन्तु न जाने क्यों देवी शिष्या को देख आचार्य शिष्य के सम्मुख, सहसा, पूर्व का कोई भी तो एक चित्र उभर आया। उसकी मुख मुद्रा खिन्न हो उठी और हृदय जैसे आर्तनाद कर उठा। ऊर्ध्व बाहु हो उसने सहायता के लिए याचना के से दैन्य स्वर में कहा—"महाप्रभो आचार्य, मेरी रक्षा करो।" उसका कण्ठ शुष्क हो गया और मुख पर भारी पराजय का सा भाव छा उठा।

सभी लोग विस्मित हुए से उसकी ओर देखते रह गए।

परन्तु, देवी शिष्या अविचलित ही रही। उसने नेत्र पलक उठा तनिक ऊपर देखा। उसकी दृष्टि आचार्य शिष्य के मुख पर स्थिर हो गई। आचार्य शिष्य के ओष्ठों पर फैली शुष्कता को देख उसका हृदय जैसे तरल हो उठा तथा मस्तक गर्व से उन्नत हो रहा ; कपोल रक्तिम हो गए तथा फिर लज्जा से नेत्र पलक स्वतः नीचे गिर गए।

आचार्य शिष्य यह देख कुछ खो सा गया। अपने को आश्वस्त हुआ अनुभव कर वह सन्तोष की साँस ले उठा, और फिर मृदुल कण्ठ स्वर में बोला—"देवी शिष्या, आपकी उपासना सफल हुई। उसके लिए बधाई है।"

देवी शिष्या ने उत्तर में अपने नेत्र तनिक ऊपर उठा, कहा—'परन्तु आर्य, आपके प्रोत्साहन के अभाव में तो वह उपासना अपूर्ण ही रहती। भविष्य में भी मै आपका सहारा लेती रहूँ, केवल यही एक कामना है।"

मंजरिका खिन्न मन से यह सब कुछ देख रही थी। जो कुछ वह देख रही थी, उससे जैसे वह सब कुछ देखा नहीं जा रहा था, परन्तु विवशता से वह अपनी दृष्टि भी नहीं हटा पा रही थी। आचार्य शिष्य को उसकी यह खिन्न अवस्था जैसे असह्य हो उठी। किन्तु अगले क्षण ही उसके मन में हो आया—'कुमारी मंजरिका से क्षमा ही माँग लूँ; कुछ आश्वासन भी दे दूँ; वचनबद्ध भी हो रहूँ।' परन्तु वह जो कुछ सोच रहा था उस पर संयम भी नहीं हो पा रहा था। भावावेग में बोला—"देवी मंजरिका।"

किन्तु, मंजरिका मौन ही बनी रही। हाँ, ऊपर उठे नेत्र-पलक सरोष कुछ अवश्य कह उठे। आचार्य शिष्य ने इस बार मृदुल कण्ठ स्वर में कहा—"शुभे

मंजरिके ।"

पर, मंजरिका इस बार भी मौन ही रही ; हाँ नेत्र अवश्य रुआँसे हो उठे ।

आचार्य शिष्य उसकी ओर देखता रह गया । अन्त में, जैसे सचेष्ट हो, उसकी बाहुओ को पकड, धीमे से बोला—"देवी मजरिका, देवी शिष्या मेरी आराध्य देवी है; उसकी कृपा कोर के बिना मेरा जीवन सूना है । क्यों प्रिये, क्या तुम अपने आराध्य की आराध्या को नमस्कार नही कर सकतीं ?"

मंजरिका के मन मे हुआ, कह दे—'नहीं—आचार्य शिष्य, नहीं—भला यह कैसे सम्भव है ? यह तो मेरे अधिकार का हनन है ।'

किन्तु, जब यही बात वह प्रकट में कहने का उद्यत हुई तो उसके ओष्ठ कोर फैल रहे । नेत्रों ने निष्पलक हो आचार्य शिष्य की ओर देखा भी, और फिर, उसका मस्तक बलात देवी शिष्या के सम्मुख नत हो रहा।

सहसा, देवी शिष्या का उठा हाथ मंजरिका के सिर पर जा टिका । उसके ओष्ठ भी फडफड़ा गए । एक स्वाँस बाहर छोड, वह जैसे तटस्थ भाव से, सयत कण्ठ स्वर में बोली—"देवी, तुम्हारा अधिकार सुरक्षित रहे ; दाम्पत्य जीवन सुखी रहे; ऐसी मगल कामना मै करती रहूँ, भला इससे बढकर मेरा और क्या सौभाग्य होगा ?"

और इसी मध्य, सारा गगन अनुक्रम से अनेक जयघोषों से गूंज उठा । इन जय· घोषो के मध्य सेचनक आरूढ हल्ल-विहल्ल भारी जन समूह के साथ मुख्य राजपथ पर आगे बढ़े जा रहे थे । वे बढ़े अवश्य जा रहे थे, परन्तु उनका मन उन्हें जैसे पीछे की ओर खीच रहा था। अन्ततः विहल्ल धीमे से बोला—"बन्धुवर, महात्मा बुद्ध ने इस नगरी का बहुत कुछ उद्धार किया है, तो फिर क्या उनके सघ मे हमारा भी उद्धार नही हो सकता ?"

वास्तव मे, विहल्ल ने जयघोषों की इस तुमुल ध्वनि के मध्य भी किसी के शान्त कण्ठ स्वर को सुन लिया था । श्रेष्ठी भित्तविदक इस समय नगर की ओर लौटती सघन भीड के मध्य सर्वथा साम्य गति से नगर द्वार की ओर जाता हुआ, अपने शान्त कण्ठ स्वर मे 'बुद्धं शरण गच्छामि, धम्मं शरणं गच्छामि, सघ शरण गच्छामि' का उच्चारण करता हुआ आगे बढ़ रहा था ।

उत्साहोच्छ्वास के इस निरापद वातावरण को देख उसके जी में एक बारगी आया भी था कि वह पुनः अपने भव्य प्रासाद की ओर लौट ले, परन्तु फिर वह सोचने लगा—'जिसके बन्धनो से मुक्त हो मैं एक बार निकल ही चुका, तो फिर अब भला उसमें वापस क्या लौटना ।'

इसी मध्य सामन्त कार्तिकेय, रुद्रदत्त और वीरभद्र के अश्व भी अनुक्रम से उस भीड को फाँदते, नगर द्वार को पार कर उसी पथ पर सावेग दौड़ लिए, जिधर केवल कुछ समय पूर्व ही वयोवृद्ध गणसंवाहक सामन्त भजदेव का अश्व दौड़ता हुआ गया था।

सन्देश वाहक कपिल इस समय उल्लसित था, और उससे भी अधिक उल्लसित उसकी छाया थी । परन्तु न जाने क्या ध्यान मे आते ही छाया के मुख पर सहसा भारी नैराश्य छा गया और वह रुआँसी हो गई । उसका अपने मन पर भी नियन्त्रण नहीं रह सका। उसके ओष्ठ फड़फड़ा उठे । कपिल के वक्ष पर अपना सिर टिका वह

रो उठी। अन्त में किसी प्रकार अपने को सम्हाल, वह सप्रयास बोली—"मेरे आराध्य, क्या स्वामी सचमुच गए ?"

छाया के मन की इस दुविधा को देख निकट ही में खड़ा अखण्डदेव तत्परता से बोल उठा—"बहिन छाया, स्वामी नहीं पितृवर कहो ; हाँ, वह गए।"

छाया कुछ और कहा चाहती थी कि इसी मध्य कपिल उसे अपने वक्ष से और समेटता, उसकी पीठ पर हाथ फेर, बोल उठा—"देवी निराश न हो, आशा ही जीवन है और निराशा मृत्यु ; हम सभी जी सकें, इसीलिए तो पितृवर गंगातट की ओर गए है। और देखो, जब वह वहाँ से लौटेंगे तो उल्काचेल से हम सभी के लिए सुवासपूर्ण कदली फल भी लाएँगे।"

पच्चीस

और, इन सभी बातों को शनैः-शनैः कई वर्ष बीत गए।

गण महानगरी का सारा कार्य-व्यापार सर्वथा अबाध गति से प्रवाहित होता हुआ, जैसे चरमोत्कर्ष की दिशा मे अग्रसर था। और, सदानीरा के शांत प्रवाह की मंद-मंद कल-कल पूर्ण ध्वनि को सुनती हुई, यूँ, इस समय भी उसके तट से सटी एक बस्ती खड़ी थी। किन्तु, अब उसका स्वरूप सर्वथा भिन्न था। यहाँ कभी जीर्ण-शीर्ण झोपड़ों में निरीह दास रहा करते थे। परन्तु अब? अब वहाँ झोपड़ों के स्थान पर भव्य अट्टालिकाएं दीख रही थी, जो उदात्त भाव से सदानीरा के व्यस्त प्रवाह को निहारती-सी प्रतीत होती। यूँ, दास वहाँ अब भी विद्यमान थे, परन्तु उनका स्वरूप भी स्पष्ट ही बदल चुका था। आज तो सदानीरा के स्वच्छन्द प्रवाह पर उनका स्वयं आभ्यंतर वैशालिकों के समान ही अधिकार था, और उसके प्रवाह पर विभिन्न पण्य पदार्थों से लदी उनकी विशाल नौकाएं उसी प्रकार आती-जाती दिखाई देती, जैसे कभी महाश्रेष्ठी मणिरत्न अथवा श्रेष्ठी भित्तविदक की व्यापार-व्यस्त नौकाएं दीखा करती थी। श्रेष्ठीपुत्र कप्पिन के सार्थों की भाँति अब उनके सार्थ भी विभिन्न दिशाओं मे अभियान व्यस्त रहते। वे सभी व्यापार मे लग गए थे, सो ऐसी बात नहीं। कुछ ने यदि कृषि को अपने उद्यम के रूप मे अपनाया था तो कुछ ने अन्य व्यवसायों को। इस प्रकार इस बस्ती का अब जो स्वरूप बन आया था, वह मुख्य वैशाली की बाह्यतम् प्राचीर से पर्याप्त दूर हो कर भी उसका न केवल अभिन्न अंग, वरन् गौरव बन, मुखरित हो उठा था। उसके अन्तर मे और बाहर—चहुं ओर—उत्साह का संचार एवं सघन गतिविधियों का भीना-भीना संगीत गुंजायमान था।

और एक दिन, इसी बस्ती से कुछ दूर, एक आम्रकुंज में से क्षितिज पर फूटती, भोर की प्रथम किरण के साथ सहसा किसी कोकिलकण्ठी का सरस स्वर गूँज उठा। आते-जाते नागरिकों ने जब उसे सुना तो वे भाव विभोर हो उठे। कौतूहल से उन सभी के पग जैसे स्वतः उस दिशा मे बढ लिए। उन्होंने देखा, एक साध्वी अपने अन्तर के भावों में आकण्ठ डूबी, तन-मन की सब सुध-बुध खोए कोई भी तो भक्ति गीत गा रही है। एकत्र जन आनंदोच्छ्वास की तन्मयता से उसे सुनने में व्यस्त हो उठे।

शनैः-शनैः आगतुकों की भीड़ भी सघन होती चली।

अंततः उस कोकिल कण्ठी का गीत समाप्त हुआ। किन्तु समाप्ति के पश्चात् भी वह पर्याप्त समय तक उपांत के शांत वातावरण में मानो गूँजता-सा रहा। उपस्थित जन सर्वथा मौन रह अभिभूत दृष्टि से उसकी ओर देखते रहे, और प्रतीक्षा करते रहे कि वह संभवतः अब कोई दूसरा गीत गाए। परन्तु उसने तत्काल कोई अन्य गीत

नहीं छेड़ा, और न ही श्रोतागण उससे कोई अनुरोध कर सके। भला, किसी सती साध्वी, वैराग्य-पथ गामिनी से ऐसा अनुरोध किया भी कैसे जाता ?

अन्त में जब देवी साध्वी के आह्लाद मुदित नेत्र खुले तो उसने उचटती दृष्टि से अपने चारों ओर खड़े जन समुदाय की ओर देखा। और फिर, अपनी मुट्ठी को खोल हथेली पर रखी किसी वस्तु विशेष की ओर निहारा। उसे निहार, उसकी मुख आभा पूर्व से भी अधिक दीप्त हो उठी।

और इस सारी अवधि सभी एकत्र-जन विमुग्ध भाव से उसकी ओर एकटक देखते रहे; जैसे, वे उसे पहचानने का प्रयास कर रहे थे।

सहसा उस साध्वी का सरस कण्ठ स्वर फिर उपात के उस शान्त वातावरण में गूँज उठा।

उधर, नगर द्वार को अनुक्रम से फाद अभी-अभी कतिपय धनुर्धारी अश्वारोही बाहर आए थे। महावन की ओर द्रुत गति से दौड़ते जा रहे इन आखेटकों के कानों में जब यह ध्वनि गूँजी, तो उनके हाथों की ढीली वलगाए जैसे बलात् पीछे की ओर खिच उठीं। उनके अश्व भी जहाँ के तहाँ खड़े हो गये। आरोही आखेटक मंत्रमुग्ध हुए से उस सरस गीत को सुनने मे व्यस्त हो उठे। कुछ क्षणों तक तो वे विमुग्ध दृष्टि से एक दूसरे की ओर ही देखते रहे; तत्पश्चात् उत्साहावेग मे एक के मुख से मानो हठात् निकल गया—"बन्धुवर ध्वज, यह तो निश्चय ही देवी आम्रपाली का कण्ठ-स्वर प्रतीत होता है।"

जैसा कि बहुधा देखने में आता है; अपने ही मन की कोई बात किसी अन्य के मुख से कही सुन कोई दूसरा अत्यधिक उल्लसित हो, उछल पडता है; वैसी ही दशा अन्य अश्वारोहियों की इस समय थी। मजरिका उत्साह के आवेग म बोल उठी—"बन्धुवर अखण्ड, और बस यही बात मै भी कहने वाली थी।" साथ ही, चारुस्मिता भी सोल्लास कह उठी—"विश्वास नही करोगे सामन्त पुत्र, और यही बात—न जाने कैसे—मैं कहने से चूक गई।"

तत्पश्चात्, उन सभी के अश्व सवेग उसी ओर दौड़ लिए। समूचा प्रान्तर अश्वों की पद चापों से गूँज उठा। किन्तु उनसे साध्वी की तन्मयता में जैसे कोई व्यवधान उपस्थित नही हुआ। देवी आम्रपाली के गीत का क्या आशय था, आम्रकुज मे प्रविष्ट होते ही उन सभी को जैसे यह स्पष्ट हो गया। जब वे अश्वो को कुँज के सिरे पर ही छोड पैदल उस ओर चले तो गीत का आशय और भी अधिक स्पष्ट होता चला। देवी आम्रपाली भाव-रस मे आकण्ठ डूबी, कण्ठ माधुर्य से कह रही थी—"तथागत, यही तो था वह स्थान ? यही तो कभी तुम्हारे दिव्य रूप के दर्शन कर मैं वैराग्य की ओर अभिमुख हुई थी और पाया था जीवन का अभूत प्रकाश। शास्ता, सभी कहते हैं कि अब तुम इस लोक मे नहीं रहे, और महा निर्वाण को प्राप्त हुए हो। पर, शास्ता इससे क्या ? तुम्हारी छवि तो मेरे नयनों मे अभी भी बसी हुई है। तुम अमर हो, तुम अमर हो गए।" यह कहते हुए देवी आम्रपाली का दायां हाथ सहसा ऊपर उठ गया। उसमें एक छोटी-सी कुदाल थी। फिर अपने बाएं हाथ की मुट्ठी को खोल उसमें रखे किसी पदार्थ विशेष को देख वह पुलकित कण्ठ स्वर में पुनः बोल उठी—"महाप्रभु,

तुम्हारा यह अवशेष मेरी नहीं अपितु समूची वैशाली की, केवल वैशाली की ही नहीं भगवन्, वरन् वह तो सारे विश्व की पुनीत धरोहर है। पर शास्ता, जन साधारण की स्मृति अति अल्प-कालिक है, वे कहीं तुम्हें भूल न जाएं इसी से मैं उसे यहीं प्रतिष्ठापित कर अपने स्वप्नो का एक भव्य स्तूप बनाऊँगी।"

उपस्थित जन-समुदाय देवी आम्रपाली के इस निश्चय को सुन हर्षित हो उठा। भावातिरेक में उनके कण्ठों से निकला तथागत् का और फिर देवी आम्रपाली का जयजयकार सारे प्रान्तर में गूंज गया। और इसी बीच, देवी आम्रपाली के हाथ की कुदाल ने एक स्थान पर आघात किया। मिट्टी के कण मानों विहँसते से इधर-उधर दूर तक छिटक गये। तब देवी आम्रपाली को लगा, जैसे स्वयं शास्ता की दिव्य देह अनगिनत आलोक किरणों के साथ माता वसुधरा के वक्ष से उभर वहाँ प्रतिष्ठापित होने को आ प्रकट हुई है। हाथ की कुदाल छोड़ वह कुछ क्षणों तक तो ध्यानस्थ हुई नेत्रों के सम्मुख प्रस्तुत झाँकी को देखती रही; तत्पश्चात् कर-बद्ध हो नत मस्तक से, सपरिक्रमा, नमस्कार करती हुई बोली—"महाप्रभु!"

फिर, वह आगे कुछ न बोल सकी। भावातिरेक से उसका कण्ठ भर आया। नेत्रों से आनंदातिरेक की जलधार फूट निकली। और फिर मिट्टी के छिटके कणों को इस प्रकार समेटने लगी, जैसे कोई अपनी टूटी माला के मुक्ताओं को तत्परता से बीनने लगती है।

वैशालिकों ने न जाने कितने दिनों, दिनों क्या वर्षों बाद देवी आम्रपाली को देखा था। वह अभी भी जैसे उनके मानस पटल पर विराजमान थी, और हृदय मे आत्मीयता का सहज भाव सचारित था। उसे इस भाव विभोर दशा में देख, वे भी प्राय: वैसे हो रहे।

अंततः, देवी आम्रपाली ने अपने कण्ठ को संयत कर कहा—"सौम्य नागरिको और सौम्याओ, यह मेरे हाथ में दुर्लभ दर्शन तथागत के अवशेष रूप में उनका एक दाँत है। मेरी अभिलाषा है कि उस महाभाग के इस अवशेष को एक स्वर्ण मंजूषा में रख यहाँ इसी स्थान पर प्रतिष्ठापित कर एक भव्य स्तूप का निर्माण कराया जाय। और, इस स्तूप का निर्माण केवल उन्हीं के हाथों हो जो शास्ता के सिद्धान्तों में श्रद्धा रखते हों। वे स्वयं ही आगे बढ़ इस महान् अनुष्ठान में योग दान करें; इससे वैशालिकों का लाभ ही होगा, हानि नहीं।"

यह सुन सभी नागरिक उल्लसित हो एक स्वर में कह उठे—"देवी यह तो सचमुच हम सभी वैशालिकों का सौभाग्य है।"

इसी समय सुरक्षा प्रधान आचार्य शिष्य उत्साह के आवेग में भीड़ को पार कर उनके सम्मुख जा पहुँचा। नत मस्तक हो, बोला—"देवी, आप स्वर्ण मंजूषा के लिए आज्ञा करें; उसका पालन कर मैं अपने आपको उपकृत हुआ अनुभव करूँगा।"

इतने वर्ष बीत जाने के पश्चात् भी देवी आम्रपाली ने जैसे बिना किसी कठिनाई के उसे पहचान लिया। बोली—"आयुष्मान्, वैशाली में सब कोई सकुशल तो हैं न?"

आचार्य शिष्य ने पुनः अपना मस्तक नत कर सविनय कहा—"हाँ देवी, कला-

पीठिका की अधिष्ठात्री देवी शिष्या समेत सभी सकुशल हैं। देवी, राजा चेटक तो अब नहीं रहे। और अब, स्थानापन्न गणाध्यक्ष बन्धुवर सेनापति सिंह के शासन मे भी सभी नागरिक पूर्ववत सुख शान्ति का अनुभव कर रहे हैं। फिर, विनिश्चय अमात्य आचार्य वर्षकार की न्याय प्रियता का क्या कहना ? सर्वत्र उनकी न्याय-व्यवस्था की केवल प्रशंसा ही प्रशंसा है।"

देवी आम्रपाली अन्तिम वाक्य को सुन जैसे सहम-सी गई। तथापि प्रकट में उसकी कोई चर्चा न कर पूछने लगी—"और क्यों आयुष्मान, आर्य भजदेव तो स्वस्थ हैं न ?"

आचार्य शिष्य ने इस प्रश्न के उत्तर में कुछ देर तक तो मौन रखा, फिर कुछ व्यथित कण्ठ से बोला—"देवी, उन्हे तो वीर गति को प्राप्त हुए अब कई वर्ष बीत चुके। कुमार कोणिक की वाहिनियों का सामना करते हुए देवी उन्होंने अपने जीवन को उत्सर्ग कर दिया। देवी, वह अमर हो गए हैं।"

तब देवी आम्रपाली बोली—"वैशाली तू सचमुच धन्य है।"

और फिर उस आम्रकुंज की सघनता मे कुछ समय तक जैसे किसी की पावन स्मृति स्वरूप मौन छाया रहा।

अन्ततः उस मौन को भंग किया देवी आम्रपाली ने; वह कहने लगी—"सौम्य-जनो, यही तो इस जगत का व्यापार है, कोई आता है, कोई जाता है। यह नश्वर देह यदि जन्मी है तो उसकी मृत्यु भी अवश्य होगी। केवल तथागत नहीं मरता, वह अमर है।" और फिर अपने हाथ मे कुदाल ले वह उसी स्थान को खोदने में व्यस्त हो गई। वह इस समय तक वृद्धा हो चुकी थी। तथापि उसका मुख निस्तेज नहीं हुआ था। उसके नेत्र जैसे अन्तर के आलोक से ज्योतित थे। कुदाल चलाते-चलाते उसने सभी उपस्थित जनों पर एक बार को उचटती सी दृष्टि डाली। उसकी इस दृष्टि को देख, सभी को कुछ ऐसा लगा जैसे उसमें कोई प्रश्न स्थिर हो आया हो। आचार्य शिष्य तो जैसे स्पष्ट ही देवी के मन में उठी जिज्ञासा को समझ गया। वह स्पष्ट ही यह समझ गया कि विनिश्चय अमात्य वर्षकार की वैशाली में उपस्थिति से देवी सन्तुष्ट नहीं है। परन्तु साथ ही वह सद्धर्माचरण रत होने के कारण अपना कोई मंतव्य प्रकट करने में असमर्थता का भी अनुभव कर रही है।

वह कुछ क्षणों तक ध्यानस्थ हुआ सा खडा रह देवी आम्रपाली की ओर देखता रहा। फिर बोला—'यदि देवी की आज्ञा हो तो स्वर्ण मजूषा की तत्काल कुछ व्यवस्था की जाए। और देवी, वैशालिकों की आकांक्षा है कि स्तूप का शिलान्यास समारोह हो।"

किन्तु देवी आम्रपाली के तटस्थ मन पर संभवतः अभी भी वर्षकार वाली बात टिकी हुई थी, अतएव वह कुछ बोझिल था। फलस्वरूप हाथों की गति कुछ शिथिल हो गई। फिर सहसा उसके हाथ की चलती कुदाल भी रुक रही। दृष्टि को नत रखे ही वह बोली—"आयुष्मान्, तथागत की दृष्टि में वैशाली का बल एकता मे था। वह एकता तो यथावत अखण्ड है न ?"

आचार्य शिष्य ने नत मस्तक हो सविनय कहा—"हाँ देवी, महाप्रभु की कृपा

से वह सुरक्षित ही समझो।"

देवी आम्रपाली ने फिर अपनी बोझिल दृष्टि आचार्य शिष्य के मुख पर केन्द्रित कर कहा—"आयुष्मान, इस आत्म-विश्वास को भला तुम क्या कहोगे ?"

आचार्य शिष्य कुछ सोचता हुआ सा बोला—"देवी, सम्भवतः वह प्रमाद हो, अतः एक दुर्बलता ही हुई। तथापि अभी इसे चिन्ता का विषय नहीं कहा जा सकता।"

यह सुनकर भी देवी आम्रपाली जैसे आश्वस्त नहीं हो सकी। परन्तु प्रकट में वह बोली—"आयुष्मान्, स्तूप का शिलान्यास आज ही और अभी होना है। उसका निर्माण कार्य मैं अपने नेत्रों से देखा चाहती हूँ; अतः यदि वह अहर्निश भी चले तो कोई चिन्ता नहीं, उससे मुझे अति प्रसन्नता ही होगी।"

आचार्य शिष्य ने उत्तर में कहा—"देवी, वह हो जाएगा। आप इस ओर से पूर्णतः आश्वस्त रहें। देवी, अब तो आप स्वर्ण मंजूषा के लिए कोई आदेश करें तो उसकी व्यवस्था की जाए।"

देवी आम्रपाली ने क्षणेक सोच, कहा—"यह निर्णय तो आयुष्मान, मैं तुम ही पर छोड़े देती हूँ। जो भी तुम्हारे निकटतम हो, मेरा तात्पर्य है आयुष्मान, कि जो तुम्हारे निकट सर्वाधिक प्रिय हो मुझे उसी की मंजूषा चाहिए।"

यह सुन आचार्य शिष्य मानो किसी दुविधा में पड़ गया। उसे लगा, जैसे देवी आम्रपाली ने यह स्वर्ण मंजूषा नहीं माँगी वरन् उसकी कोई कठिन परीक्षा लेनी चाही है। सभी की दृष्टि इस क्षण आचार्य शिष्य के मुख पर केन्द्रित हो रही। मंजरिका, चारु-स्मिता तथा सामन्त अखण्ड देव सभी उत्सुकता से उसकी ओर देखते रहे, कि देखो, वह कौन सौभाग्यशाली है। कुछ सोच, आचार्य शिष्य बोला—"सुरक्षा प्रधान के नाते देवी मेरी दृष्टि में सभी समान रूप से प्रिय हैं, और पत्नी रूप में देवी मंजरिका को पाकर मैं अपने को धन्य हुआ समझता हूँ। और, देवी रोहिणी पर भला कौन गर्व नहीं करेगा ? तथापि देवी, वैशाली में देवी शिष्या का स्थान विशिष्ट है। देवी, कला-अधिष्ठात्री रूप में उन्हें सभी का तो स्नेह और सम्मान समान रूप से प्राप्त है।"

यह सुन सभी हर्षित हो उठे, यहाँ तक कि मंजरिका भी। पता नहीं वह आज इस क्षण क्यों अपने स्वाभाविक विद्वेष का अनुभव न कर सकी। देवी आम्रपाली ने भी मौन रह, अनुमोदन में केवल हर्ष भाव प्रकट कर दिया।

आचार्य शिष्य अब वहाँ खड़ा नहीं रह सका। उत्साह आवेग में सभी को सम्बो-धित कर वह बोला—"सौम्यजनो, मैं देवी शिष्या से स्वर्ण मंजूषा लेकर अभी उप-स्थित होता हूँ, तब तक आप अन्य व्यवस्था करें।"

और फिर वह तत्परता में अश्व की ओर जैसे दौड़-सा लिया। उसके आरूढ़ होते ही अश्व भी वायु वेग से नगर की ओर दौड़ उठा। किन्तु मुख्य द्वार पर उपस्थित एक दृश्य विशेष को देख उसके हाथ की वल्गा जैसे बलात् पीछे की ओर खिंच गई।

उधर, इस समय नगर के मुख्य द्वार पर नागरिकों की विशाल भीड़ विनिश्चय अमात्य वर्षकार को जैसे घेरे खड़ी थी। वे सभी वहाँ क्यों खड़े थे, आचार्य शिष्य दूर से कुछ भी समझने में असमर्थ रहा। पर फिर भी न जाने क्यों उसके अन्तर में देवी आम्रपाली का वह संकेत अवश्य सजीव हो उठा, जो केवल कुछ समय पूर्व ही

उसने दिया था। वह अपने से पूछ उठा—'क्या यह देवी आम्रपाली का सचमुच कोई स्पष्ट संकेत था ?' वह, जैसे यूँ ही, सोचने लगा—'तो क्या राजगृह में अजातशत्रु का अपने वयोवृद्ध महामात्य वर्षकार पर भरी राजसभा में प्रहार करना केवल किसी प्रपंच की भूमिका मात्र थी ? और उस सभा में आचार्य वर्षकार द्वारा वैशालिकों का पक्ष लिया जाना क्या उसका कोई नीति कौशल था ?' यह सब कुछ वास्तव में क्या था, क्या न था, सोचते-सोचते उसका अश्व भीड के सर्वथा सन्निकट पहुँच, रुक गया। आचार्य शिष्य के वहाँ आ पहुँचने पर सभी उपस्थित नागरिकों ने कुछ ऐसा भाव दिखाया जैसे वे उस समय उसी की प्रतीक्षा मे खड़े थे। और, आचार्य वर्षकार ने भी उसे देख जैसे संतोष की साँस ली। कुछ समय पूर्व उनके मुख पर जो चिंता का सा भाव छाया हुआ था, वह सहसा लुप्त हो गया। हाँ, नेत्रों में जैसे सावेश एक प्रश्न-सा अवश्य उभर आया।

सहसा आचार्य शिष्य की दृष्टि भीड के मध्य पडी चार शय्याओं पर जा पडी। उनमे से प्रत्येक शय्या पर एक-एक युवक का रक्त रंजित शव पडा था। यह अप्रत्याशित दृश्य देख आचार्य शिष्य चौंक उठा। उसकी मग्न आभा भी सहसा मलिन हो गई।

नगर मे यद्यपि सुरक्षा प्रधान का पद अत्यत महत्त्वपूर्ण था, पर वह विनिश्चय अमात्य के ही अधीन था। अत: आचार्य शिष्य ने नत मस्तक हो, उनका अभिवादन किया। फिर शवो की ओर तनिक दृष्टि डाल, व्यग्र कण्ठ स्वर मे पूछ उठा—"आर्यवर, यह क्या हुआ ?"

सुरक्षा प्रधान का यह प्रश्न, जैसे विनिश्चय अमात्य को असह्य प्रतीत हुआ। वह स्पष्ट ही क्रोधित हो उठे। उत्तेजना से उनकी भ्रू-रेखाएँ तन गईं। पदाधिकार के दृढ स्वर मे वह सावेश बोले—"यह प्रश्न सुरक्षा प्रधान के मुख से तो शोभा नही देता। स्वयं सिंह सेनापति भी विनिश्चय अमात्य से यह प्रश्न नहीं कर सकते। विनिश्चय अमात्य के नाते मै स्वय तुमसे यह पूछना चाहता हूँ कि सुरक्षा प्रधान की क्या यही नगर व्यवस्था है ? एक रात्रि में चार-चार युवको की हत्या हो जाए और सुरक्षा प्रधान को इतने दिन चढे तक भी यह विदित न हो, यदि यह आयुष्मान का प्रमाद नही तो भला और क्या है ?"

स्वर्गीय गणाध्यक्ष राजा चेटक के दत्तक पुत्र एव सुप्रतिष्ठित सुरक्षा प्रधान को इस प्रकार सार्वजनिक रूप से प्रताडित करना कोई कम साहस की बात नही थी। सभी उपस्थित जन जानते थे कि इन हत्याओं मे आचार्य शिष्य का कोई प्रत्यक्ष दोष नही, और यदि है तो केवल इतना ही कि उसके कार्य काल मे यह सब कुछ हुआ है। परन्तु उसको इस प्रकार प्रताड़ित किया जाना किसी को भी जैसे रुचिकर नही लगा। पर आचार्य शिष्य ने जैसे यह सब कुछ सुना ही नही। उसने लेश मात्र को भी तो अपने को अपमानित हुआ अनुभव नही किया। हाँ, एक बार दृष्टि ऊपर उठा विनिश्चय अमात्य की ओर अवश्य देखा। उसकी दृष्टि में इस समय आत्म-विश्वास झलक रहा था; आत्म-विश्वास के साथ थोड़ा-थोडा आक्रोश का भाव भी। वह किंचित मौन के पश्चात् अपने स्वाभाविक सधे कण्ठ स्वर में बोला—"आर्य आश्वस्त रहे, हत्या करने वालों की अवश्य ही खोज कर ली जाएगी।"

"परन्तु कब तक ?" विनिश्चय ग्रमात्य ने ग्रपने पूर्ववत दृढ़ स्वर में प्रश्न किया। ग्राचार्य शिष्य ने इस बार भी सर्वथा ग्रविचलित रह, कहा—"ग्रपराधियों की खोज करना मेरी विशेष चिन्ता है ग्रार्य, परन्तु उससे भी ग्रधिक चिन्ता मुझे उस प्रयोजन का पता लगाने की है जो इस योजनाबद्ध काण्ड में स्पष्ट प्रतीत हो रहा है।"

विनिश्चय ग्रमात्य ने पहले तो साश्चर्य सुरक्षा प्रधान की ग्रोर देखा, फिर पूछने लगे—"सुरक्षा प्रधान, भला यह तुमने कैसे जाना कि यह योजनाबद्ध काण्ड है।"

"वह इस प्रकार ग्रार्य, कि ये चारों शव केवल एक साथ ही नही पड़े हैं वरन् इनकी एक ही समय में हत्या भी की गई प्रतीत होती है। ग्रौर, सभी पर एक ही जैसा प्रहार किया गया है। शरीर के केवल एक ही भाग पर हुए इस प्रहार से तो मेरा यह मत ग्रौर भी ग्रधिक पुष्ट हुग्रा प्रतीत होता है।"

विनिश्चय ग्रमात्य वर्षकार ने इस बार पूर्व से भी ग्रधिक ग्राश्चर्य का भाव दिखा, पूछा—"ग्रौर ग्रायुष्मान, तुमने यह कैसे जाना कि सभी की एक ही समय मे हत्या हुई है ?"

ग्राचार्य शिष्य बोला—"समय ग्राने पर ग्रार्य की सेवा में सभी कुछ निवेदन कर दिया जाएगा, परन्तु मैं इस समय नगर का सामान्य जीवन चाहता हूँ। ग्रौर मैं उसकी उचित व्यवस्था भी करूंगा।"

"परन्तु यह कैसे सम्भव है ? क्या सुरक्षा प्रधान यह नहीं समझते कि नगर में जब इतनी ग्रराजकता हो कि एक रात मे चार-चार युवकों की हत्या हो जाए, तो फिर क्या नागरिक भला विचलित भी न होंगे ? यह तो सर्वथा ग्रसम्भव है।"

इस पर ग्राचार्य शिष्य नत मस्तक हो, परन्तु ग्रात्मविश्वास की दृढ़ता के साथ बोला—"ग्रसम्भव इस में कुछ भी नहीं ग्रार्य, फिर ये मृतक वैशालिक भी तो नहीं।"

ग्राचार्य शिष्य ने जैसे यह कोई महत्त्वपूर्ण रहस्योद्घाटन किया। विनिश्चय ग्रमात्य उसे सुन चकित रह गए ग्रौर उपस्थित जन विस्फारित दृष्टि से ग्राचार्य शिष्य की ग्रोर देख उठे। विनिश्चय ग्रमात्य ने उसकी ग्रोर देखते हुए प्रश्न किया—"सुरक्षा प्रधान, क्या तुम यह विश्वास के साथ कह सकते हो कि ये मृत युवक वैशालिक ग्रथवा वज्जि नहीं हैं ?"

"हाँ ग्रार्य, यह मैं पूर्ण विश्वास के साथ कह सकता हूँ। ये वैशालिक ग्रथवा वज्जि नहीं हैं इसीलिए यह काण्ड ग्रौर भी रहस्यपूर्ण बन गया है। ग्रतएव, गण सुरक्षा की दृष्टि से इस काण्ड में निहित प्रयोजन का पता लगाना ग्रौर भी महत्त्वपूर्ण हो गया है।"

वास्तव में वहाँ उपस्थित जन-समुदाय मे से किसी का भी ध्यान उस ग्रोर नहीं गया था। ग्रतएव, सभी सुरक्षा प्रधान के इस बुद्धि कौशल की मन-ही-मन सराहना कर उठे।

ग्राचार्य वर्षकार भी सुरक्षा प्रधान के इस बुद्धि कौशल की मन-ही-मन प्रशंसा कर उठे। परन्तु वह वास्तव मे इस समय हतप्रभ ग्रधिक हुए। ग्रपने ही से बोले—'वर्षकार, यह सुरक्षा प्रधान ग्रवश्य ही कोई ब्राह्मण-पुत्र है। यदि वह वैशाली में न हो, मगध साम्राज्य की सेवा में होता तो उसकी यह प्रतिभा ग्रौर भी ग्रधिक विस्तृत ग्राकार-

प्रकार में फैल रहती। किन्तु यह अभागा वैशाली की संकीर्ण सीमाओं में ही अपने को सन्तुष्ट हुआ अनुभव कर रहा है।" प्रकट में वह बोले—"सुरक्षा प्रधान का यदि यही अनुमान है तो निस्सन्देह वैशालिकों के लिए यह और भी अधिक चिन्ता का कारण है। कोई दुरभिसंधि जब तक पल्लवित हो, उससे पूर्व ही उसके बीजांकुर को समूल नष्ट कर देना अनिवार्य है।" यह कह उन्होंने आचार्य शिष्य की ओर जैसे साशय ध्यान से देखा। आचार्य शिष्य ने भी कुछ रहस्यपूर्ण दृष्टि से उनकी ओर देखते हुए कहा—"आर्य, निश्चित रहें, समय आने पर वास्तविकता का रहस्योद्घाटन हो कर ही रहेगा।" यह कह उसने सम्मुख खडे जन समुदाय की ओर देखा और फिर उसे सम्बोधित कर बोला—"सौम्य जनो, वैशाली पर आई इस नव-आपत्ति से आप किंचित् भी न घबराएं, मैंने एक तुच्छ सेवक के रूप में वैशाली की जो कुछ भी सेवा की है, यदि मैं उसके परिणाम स्वरूप वैशालिकों का थोड़ा-सा भी विश्वास प्राप्त करने में सफल हो सका हूँ तो यह निश्चय ही मेरा परम सौभाग्य है। अतः मेरा सभी से निवेदन है कि इस कार्य को आप सर्वथा मेरे ऊपर छोड़, एक दूसरे महान् कार्य में अपना योग प्रदान करें।"

इस पर कुछ नागरिक तत्परता से बोल उठे—"अवश्य-अवश्य सुरक्षा प्रधान, हम अवश्य करेंगे। आप आदेश करें।"

आचार्य शिष्य उपस्थित जनों पर अपनी दृष्टि केन्द्रित कर बोला—"सौम्य नागरिको, नगर के पश्चिमोत्तर उपान्त में इस समय देवी आम्रपाली पधारी हैं।"

देवी आम्रपाली पधारी हैं, यह संवाद सुन जैसे सभी विस्मित हो उठे।

आचार्य शिष्य फिर आगे बोला—"नागरिको, देवी आम्रपाली तथागत के एक अवशेष के साथ अपने आम्रकुज में पधारी हैं। उस अवशेष को आधार-शिला में रख फिर उस पर उन्होंने एक भव्य स्तूप के निर्माण की आकाँक्षा प्रकट की है।"

कुछ नागरिक-गण उल्लास के उच्च कण्ठ स्वर मे बोल उठे—"श्रीमन्, देवी आम्रपाली की यह आकाँक्षा तो हम सभी वैशालिकों का परम सौभाग्य है।"

फिर उनमें से कोई भी वहाँ खड़ा नहीं रह सका। सोत्साह वे सब ही तो उपान्त की ओर दौड़ लिए। तब सुरक्षा प्रधान ने उन्हें टोकते हुए कहा—"सौम्य जनो, इस प्रकार सूने हाथों से वहाँ कोई कार्य सिद्ध न होगा। यदि आप सभी कुदाल लेकर जाएं तो श्रेयस्कर रहेगा। स्तूप का आधार आज ही खोदना है।"

विनिश्चय अमात्य इस परिवर्तित दृश्य को केवल कौतूहल से देखते रह गए। अन्त में बोले—"अच्छा तो सुरक्षा प्रधान, मैं भी अब अपने प्रासाद की ओर प्रस्थान करता हूँ, आप तब तक इन शवों की कुछ व्यवस्था करें।"

आचार्य शिष्य ने भी उत्तर में—"आर्य की जैसी आज्ञा"—कह एक गण पुरुष को संकेत से बुलाया और उसे कुछ निर्देश दे वह स्वयं भी अश्वारूढ़ हो, सवेग देवी शिष्या की अट्टालिका की ओर दौड़ लिया।

छब्बीस

आचार्य वर्षकार को शायद ही कभी यह कल्पना हुई होगी कि आम्रपाली, किसी दिन फिर भी, वैशाली में लौट सकती है। अतः जब उन्होंने उसके पुनरागमन का समाचार सुना तो वह सर्वथा स्तब्ध रह गए। पर उन्होंने पूरे चालीस वर्षों तक मगध की राजनीति में सक्रिय भाग लिया था; साम्राज्य के क्षितिज पर वह इस सारी अवधि ही शुक्र तारे की भाँति देदीप्यमान रहे थे; और इस मध्य न जाने कितने ज्वार आए थे, जिनके सम्मुख वह एक दृढ़ चट्टान की भाँति अडिग खड़े रहे थे। अतः किसी विपत्ति के सामने अपने अन्तर का दुर्बल भाव दिखाना उनका सहज स्वभाव नहीं रह गया था। अन्तर के भावों को अन्तर तक ही सीमित रखना उनके सतत स्वभाव का स्थायी अंग बन चुका था। फिर भी, वह जब उस समाचार को सुन अपने प्रासाद में लौटे तो कुछ ऐसे विचारमग्न हो रहे, जैसे किसी समस्या ने उन्हें अपना समाधान खोज निकालने के लिए बाध्य कर दिया हो। उन्हें लगा, जैसे वैशाली में यह देवी आम्रपाली का नहीं वरन् साकार रूप में किसी दैवी-विपत्ति का आगमन हुआ है। यह देख एक बारगी तो उनका अन्तस्तल प्रकम्पित तक हो उठा। परन्तु उन्होंने अपने अन्तर का यह दुर्बल भाव कक्ष की भित्तियों के सम्मुख तक भी प्रकट नहीं होने दिया। तो भी, जैसे, उनके मुख से बलात एक निश्वास निकल गया, और उसी के साथ उनका अन्तः भाव ध्वनित हो कह उठा—"वर्षकार, दीखता है अब तेरा वैशाली में रहना असंभव है।"

और फिर, उनके मुख पर दुविधा का-सा भाव उभर आया।

तत्पश्चात् उनका विचार-व्यस्त मस्तिष्क कुछ रिक्तता का-सा अनुभव कर उठा; दृष्टि शून्य में उलझ गई, और मुख पर नैराश्य छा गया। अन्ततः ऊब, पीठिका से उठ वह चारिका व्यस्त हो गए। किन्तु उसी के साथ विचारों ने भी जैसे एक नया मोड़ ले लिया। अपने ही को सुनाते हुए बोले—'देवी आम्रपाली के आगमन पर सारा ही नगर उल्लसित है; तो फिर वर्षकार, कोई कारण नहीं कि तू भी सभी वैशालिकों के इस उल्लास में उनके साथ सम्मिलित हो, उसका स्वागत न करे।'

उन्होंने जैसे यह एक निश्चय किया, जिसकी दृढ़ता उनके मुख पर स्पष्ट हो उठी। फिर निश्चय की दृढ़ता पर कोई दुरभिभाव छा रहा और दृष्टि रहस्यपूर्ण हो उठी। किन्तु वह शीघ्र ही एक मुस्कान में परिणत हो गई। ऐसा लगा, जैसे उन्हें अनायास ही कोई सूत्र हाथ लग गया हो। वह अब स्पष्ट ही प्रसन्न चित्त थे। परन्तु किस कारण? वह इस प्रश्न को वहीं छोड़, कक्ष से बाहर निकले और तत्परता से द्वार मंडप में

आ रथारूढ़ हो गए।

सारथी ने भी अपने स्वामी के आदेश पर रथ को देवी आम्रपाली के आम्र-कुंज की ओर बढ़ा दिया। और, अश्व जब प्रासाद की परिधि को लाँघ राजपथ पर आए तो वे भी सरपट दौड़ लिए।

आचार्य वर्षकार के मुख पर असाधारण उल्लास छा उठा। जैसे, आज उनका किसी उदीयमान विचार से अनायास ही समझौता हो गया हो और उनके अन्तर ने अपने सभी दुराग्रहो को त्याग किसी नयी आस्था को जन्म दिया हो। मार्ग में जब एक नागरिक ने उनका अभिवादन किया तो प्रत्युत्तर में उनके मुख का हर्ष भाव द्विगुणित हो उठा। वह सोत्साह उच्च कण्ठ स्वर में कह उठे—"सौम्यजन, वैशाली का यह धर्मनिरपेक्ष स्वभाव तो सचमुच धन्य है। अरे, आज तो मैंने भी उसके मर्म को समझ लिया है।"

फिर, एक दूसरे नागरिक द्वारा प्रस्तुत अभिवादन के उत्तर में वह बोले—'सौम्यजन, देवी आम्रपाली ने निस्सन्देह वैशालिको को एक पुनीत कार्य के लिए आह्वान किया है।'

और फिर, तीसरे से उन्होंने सोल्लास कहा—"सौम्यजन, देवी आम्रपाली ने तो यह जैसे मेरे ही किसी प्रिय स्वप्न को साकार रूप देने का अनुष्ठान किया है। भगवान् तथागत की पावन स्मृति में यदि वैशाली में भी स्तूप न बना तो फिर भला और कहाँ बनेगा?"

वयोवृद्ध आचार्य को इस प्रकार भाव विभोर हुआ देख सभी तो उनकी इस सरलता पर गद्गद हो उठे।

फिर तो अन्य वैशालिको की भाँति वह भी प्रति दिन देवी आम्रपाली के दर्शन के लिए जाने लगे। किन्तु वह जैसे जाते वैसे ही लौट भी आते। देवी आम्रपाली के साथ एक भी शब्द का आदान-प्रदान न हो पाता। देवी आम्रपाली का यह दुराग्रह अथवा उपेक्षा भाव देख उनके अन्तर की दुविधा और प्रबल हो उठी।

कोई एक पक्ष पश्चात्, एक दिन, आम्रकुँज की ओर जाते हुए वह सुरक्षा प्रधान आचार्य शिष्य को सहसा मार्ग ही मे टोक पूछ उठे—'क्यों आयुष्मान, क्या उन अपराधियो का कुछ पता चला?"

आचार्य वर्षकार का यह निस्सन्देह साधिकार प्रश्न था, फिर भी उन्होंने उसे इस समय सर्वथा सहज ढंग मे पूछा था। एक रात मे चार-चार युवकों की, और वह भी वैदेशिको की हत्या का हो जाना किसी प्रकार भी एक सामान्य घटना नही थी। सुरक्षा प्रधान आचार्य शिष्य ने भी उसे कोई साधारण घटना समझ उसकी उपेक्षा नही की थी। वह इस सारी अवधि ही अपराधियों की खोज मे व्यस्त रहा था; एक प्रकार से अपना सारा ध्यान उसी ओर केन्द्रित कर रखा था। इस समय भी उसके मुख पर चिंता का प्रगाढ़ भाव छाया हुआ था। पर, न जाने क्यों, विनिश्चय अमात्य के इस प्रश्न को सुन वह इस समय अपने अन्तर में कुछ उत्तेजित हो उठा। साथ ही उसने जैसे किसी दुराग्रह की कटुता का भी अनुभव किया। तो भी प्रकट में सर्वथा संयत रह उसने पहले तो दृष्टि उठा आचार्य वर्षकार की ओर देखा और फिर नत मस्तक हो बोला—

"आर्यवर, पता अवश्य चला है, परन्तु अभी तक जितना कुछ विदित हो सका है वह अपर्याप्त ही है, और उसके आधार पर केवल इतना ही कहा जा सकता है कि बस सूत्र हाथ लग सका है।"

आचार्य शिष्य के मुख से सूत्र के हाथ लगने की बात सुन विनिश्चय अमात्य को जैसे कुछ आश्चर्य हुआ; सम्भवतः आश्चर्य से भी अधिक दुविधा हुई, परन्तु दुविधा ने जैसे अन्ततः सप्रयास विश्वास का सहारा ले लिया। मानो उनके अन्तर में कुछ भी नहीं हुआ, अतः प्रकट में उत्सुकता दिखा तत्परता से पूछने लगे—"और आयुष्मान, भला वह सूत्र क्या है ?"

आचार्य शिष्य ने इस प्रश्न पर अपनी दृष्टि तनिक ऊपर उठा, कहा—"आर्यवर, सुरक्षा के हित में अभी उसका बताना किसी प्रकार भी उचित नहीं।"

यह सुन आचार्य वर्षकार को इस बार आश्चर्य का अनुभव नहीं हुआ वरन् जैसे उनके किसी दृढ़ आत्म विश्वास का पक्ष सहसा शिथिल हो गया। उनके अन्तर का कोई दुविधा भाव व्यग्रता में परिणत हो उठा। परन्तु प्रकट में उनके मुख से कुछ ऐसा आभास हुआ, जैसे उन्होंने आचार्य शिष्य के इस उत्तर से अपने को अत्यन्त अपमानित हुआ समझा हो। वह सावेश बोले—"परन्तु सुरक्षा प्रधान, विनिश्चय अमात्य के नाते वह सब कुछ जानना मेरा निश्चित अधिकार है।"

इस पर आचार्य शिष्य ने सर्वथा अविचलित रह, साथ ही नत मस्तक हो सविनय कहा—"अवश्य हो सकता है आर्यवर, परन्तु मैं वह अवश्य ही निवेदन करूँ, यह मेरा कर्त्तव्य कदापि नहीं। आर्य, सुरक्षा प्रधान को अभी प्रमाण की आवश्यकता है, और वह इस समय उसी की खोज में है।"

आचार्य वर्षकार के अन्तर में बैठा कोई व्यक्ति यह सुन जैसे एक उच्च ठहाका दे हँस पड़ा। किन्तु बाह्य में उनका आवेश और उग्र हो उठा। उत्तेजना के से स्वर में बोले—'और यदि तुम उसे खोजने में असमर्थ रहे तो ?"

विनिश्चय अमात्य की भ्रू रेखाएं तन गईं। किन्तु, उनके मुख से यह प्रत्यक्ष प्रश्न सुन कर भी आचार्य शिष्य हतोत्साहित नही हुआ। वास्तव में उसने उसमें कुछ चुनौती का सा आभास पाया था। उसकी दृष्टि आचार्य वर्षकार के मुख पर केन्द्रित हो रही। सहज ढंग में बोला—"आर्यवर, जो मेरा कर्त्तव्य है उसे मैं अवश्य करूँगा।"

विनिश्चय अमात्य को सुरक्षा प्रधान का यह उत्तर अस्पष्ट प्रतीत हुआ। वास्तव में, वह प्रत्यक्ष मे जितना सरल प्रतीत हुआ, आचार्य वर्षकार के निकट वह उतना ही रहस्यपूर्ण बन कर रह गया। परन्तु इस समय उसके विश्लेषण का समय नहीं था। अतः वह पुनः सावेश ही, तत्परता से पूछ उठे—"तो फिर क्या अनिश्चित समय तक ही अभियोग का प्रस्तुत किया जाना भी स्थगित रहेगा ?"

सुरक्षा प्रधान मन-ही-मन झल्ला उठा। परन्तु प्रकट में सर्वथा सयत रह बोला—"अनिश्चित समय तक तो नहीं आर्यवर, परन्तु हाँ अभी कुछ और समय अवश्य लगेगा। फिर आर्यवर, घटना भी तो कोई साधारण नही।"

यह कह आचार्य शिष्य ने पुनः अपनी दृष्टि उठा आचार्य वर्षकार के मुख की ओर देखा। जैसे, उसने उनकी मुख-रेखाओं में कुछ पढ़ने का प्रयास किया। आचार्य

वर्षकार ने उसकी इस अध्ययन-व्यस्त दृष्टि को तनिक देखा, किन्तु शीघ्र ही अपने को संयत कर, दृष्टि के प्रति उपेक्षा का सा भाव दिखा वह बोले—'यह मैं भी जानता हूँ आयुष्मान कि घटना सामान्य नहीं है, पर साथ ही हम उसे असामान्य कह न्याय की भी तो उपेक्षा नहीं कर सकते।"

आचार्य शिष्य ने भी अपना मस्तक नत कर सविनय कहा—"आर्यवर, परन्तु यह न्याय के प्रति उपेक्षा तो कदापि नहीं और न ही यह गण पुरुषों का प्रमाद हुआ। सभी तो वास्तविकता की खोज के लिए प्रयत्नशील हैं। क्या न्याय का दायित्व तथ्य का पता लगाना नहीं है?"

"है, अवश्य है आयुष्मान, किन्तु न्याय को विलम्बित करना उसकी अवहेलना के समान ही है, इस तथ्य को ही तुम क्यों भूले जा रहे हो?"

सुरक्षा प्रधान के पास जैसे इसका भी उत्तर था, तो भी वह इस बार कुछ बोला नहीं। वास्तव में, वह यदि आज चाहता तो विनिश्चय अमात्य के मूल प्रश्न का निश्चय ही प्रत्यक्ष उत्तर भी दे सकता था; पर फिर भी वह उसे टाल गया। वैसे ही नहीं, वरन जानबूझ कर उसने ऐसा किया था और उसके पीछे इस समय उसका कोई दृढ़ निश्चय था; और, उसके इस दृढ़ निश्चय की आधार शिला मे कोई भारी दुविधा थी। कदाचित यह वही दुविधा थी, जिसमें वह गत कई दिनों से ग्रस्त था। अतः, जब वह विनिचश्य अमात्य के पास से विदा हुआ तो उसे कुछ क्षणो के लिए मनस्तोष का सा अनुभव हुआ, परन्तु जैसे जैसे उसका अश्व आगे बढ़ा, उसके अन्तर का कोई दुराग्रह भाव भी अधिकाधिक परिमाण में उग्र होता चला। वह इस समय देवी आम्रपाली के स्तूप निर्माण स्थल से लौट देवी शिष्या को अट्टालिका की ओर जा रहा था। परन्तु अब वह अनायास ही सिंह सेनापति के दुर्ग की ओर चल पड़ा।

और जब आचार्य वर्षकार सुरक्षा प्रधान से अलग हुए तो जैसे उन्होंने भी मनस्तोष की साँस ली। वास्तव में आचार्य शिष्य को टोक, उससे उन्होंने जो प्रश्न किया था, उसका एक विशेष प्रयोजन था। आचार्य शिष्य अपराधियो की खोज की दिशा में किस प्रकार प्रयत्नशील है, उनसे यह रहस्य छिपा नही था और न ही उनसे यह छिपा हुआ था कि अब तक के सतत प्रयत्नो के फलस्वरूप वह किस निष्कर्ष पर पहुँचा है। तो भी, वह उसकी पुष्टि कर लेना चाहते थे, और वह केवल इसी के लिए गत कई दिनों से अवसर की खोज में थे। अतः आज उनका रथ आचार्य शिष्य के अश्व के सम्मुख वैसे ही नही आ गया था, वरन् जैसे जान-बूझ कर लाया गया था।

सत्ताईस

आचार्य शिष्य ने उस समय अवश्य मनस्तोष की सांस ली, परन्तु उसके पश्चात् ? उसे लगा, उसके नेत्रों के सम्मुख कोई घटना-क्रम गतिमान हो उठा है, और उसे वह, जैसे निष्क्रिय हुआ सा देख रहा है। वैशाली में देवी आम्रपाली द्वारा स्तूप के निर्माण को उसने केवल एक संयोग ही समझा। परन्तु एक रात्रि मे चार-चार मागधों की हत्या को वह मात्र संयोग समझ कर कैसे रह जाता ? प्रत्यक्ष में इन दोनो ही घटनाओं के मध्य, कम से कम वर्तमान में, परस्पर कोई तारतम्य नहीं था, परन्तु भविष्य के सम्बन्ध में कौन क्या कह सकता है ? 'कोई कुछ भी तो नहीं कह सकता, ठीक है, कोई कुछ कह भी कैसे सकता है ?' वह सोचने लगा—'परन्तु, उधर राजगृह में सम्राट् अजातशत्रु पर्वत शृंखला से बाहर, उष्ण जल धाराओं के पास, नालंदा ग्राम मार्ग पर जो एक नया नगर बनवा रहा है, वह किस बात का द्योतक है ?' फिर जैसे वह अपनी इसी जिज्ञासा के उत्तर में आगे सोचने लगा—'वह इसी बात का तो द्योतक है कि अब उसे पर्वत शृंखला की ओट में घिरे रहने की कोई आवश्यकता नहीं रह गई, और यदि वह बाहर आकर भी रहे तो सर्वथा सुरक्षित ही है। किन्तु उसका प्रधान अमात्य गोपाल तो इससे भी कुछ आगे कह रहा है। वह सम्राट् द्वारा राजगृह के पास ही इस नए नगर के निर्माण से लेशमात्र को भी तो सन्तुष्ट नहीं; वह उसे अपने सम्राट् का एक व्यर्थ का प्रयास समझ रहा है। क्यों ? क्योंकि उसका अनुमान है कि मगध की राजधानी शीघ्र ही पाटलिग्राम मे स्थानान्तरित करनी होगी। उसकी दृष्टि में पाटलिग्राम एक ऐसे स्थान पर अवस्थित है, जहाँ से बढ़ते हुए साम्राज्य का शासन कार्य अधिक सुगमता एवं सुचारु ढंग से चलाया जा सकता है। फिर, पाटलिग्राम के उज्ज्वल भविष्य के सम्बन्ध में स्वयं तथागत ने भी तो एक बार भविष्यवाणी की थी।' तथागत की इसी भविष्यवाणी का ध्यान आते ही उसे एक अन्य बात भी स्मरण हो आई। वह उसे स्मरण कर सोचने लगा—'जब उन्होंने यह बात कही थी तो यही वर्षकार, जो आज यहाँ वैशाली में है, वहाँ एक नया दुर्ग बनवा रहा था; और फिर यही वर्षकार एक दिन तथागत के पास भी गया था; वह गया था भगवान से यह पूछने कि राजा अजातशत्रु वज्जि संघ पर आक्रमण कर, उसे अपने राज्य में मिलाना चाहता है; भगवन्, इसमें कुछ अनुचित तो न होगा ?'

आचार्य शिष्य को वर्षकार के इस धृष्टतापूर्ण प्रश्न पर मन-ही-मन हँसी आ गई। वह अपने से बोला—"भला, कहीं यह प्रश्न भी तथागत से पूछने का था ?"

तब, भगवान् राजगृह में ही गृध्रकूट पर्वत पर रहते थे, और जिस समय

वर्षकार ने उनसे यह प्रश्न किया था, प्रमुख शिष्य आनन्द भी अपने शास्ता के निकट खड़ा उन पर पंखा झल रहा था। तथागत वर्षकार के इस प्रश्न के उत्तर में मौन नहीं रहे, क्योंकि उनके मौन रहने का अवश्य ही यह अर्थ लगाया जाता कि उन्होने अजातशत्रु को आक्रमण की अनुमति दे दी है। किन्तु उन्होंने वर्षकार से सीधे कुछ भी न कह अपने ही प्रमुख शिष्य से पूछा—"क्यों आनन्द, क्या तुमने सुना है कि वज्जीगण बार-बार सभा करते हैं और एकत्र होते हैं ?"

आनन्द ने उत्तर में तथागत से कहा—"जी हाँ भदन्त, मैंने सुना है कि वज्जी बार-बार सभा करते हैं और एकत्र भी होते हैं।"

तथागत—"क्या वज्जी समग्र एकत्र होते हैं, समग्र उठते है और समग्र रूप ही से अपने कार्य करते हैं ?"

इस पर आनन्द ने नत मस्तक हो कहा—"जी हाँ, मैंने ऐसा ही सुना है।"

फिर तथागत ने आगे पूछा—"क्यों आयुष्मान्, वे दूसरों के नियम को तो अपना नियम नहीं कहते—अर्थात् स्वनिर्मित विधान का ही तो पालन करते हैं न; उसे तोड़ते तो नही ?"

आनन्द ने बताया—"जी हाँ भदन्त मैंने सुना है कि वज्जी अपने बनाये विधान के अनुसार ही चलते हैं।"

तथागत ने फिर प्रश्न किया—"क्यों आनन्द, वज्जी अपने वृद्ध राजनीतिज्ञों का मान तो करते हैं न ? और, जो परामर्श वे देते हैं, उसे वे स्वीकार करते हैं न ?"

आनन्द ने नत मस्तक रहे ही कहा—"जी हाँ भदन्त, वज्जी अपने वृद्ध राजनीतिज्ञों का मान रखते हैं और उनके परामर्श को भी स्वीकार करते हैं।"

"और आयुष्मान वे अपने राज्य की विवाहित अथवा अविवाहित स्त्रियों पर अत्याचार तो नहीं करते ?"

"भदन्त मैंने सुना है कि वज्जियों के राज्य में स्त्रियों का आदर ही आदर होता है।"

"और वे अपने नगर के तथा नगर के बाहर के देव-स्थानों का उचित संरक्षण तो करते हैं न ?"

"जी हाँ भन्दत, मैंने सुना है कि वे अपने सभी देव-स्थानों का उचित ध्यान रखते हैं।"

और फिर सबसे अन्त में तथागत ने पूछा—"क्यों आयुष्मान आनन्द, वे अपने राज्य में आए अर्हन्तों की, उनके योग्य ऐसी समुचित व्यवस्था तो रखते हैं न कि उन्हें कोई कष्ट न हो, तथा साथ ही अन्य अर्हन्तों को वहाँ आने के लिए प्रोत्साहन मिले, यह सब सावधानी तो वज्जी रखते हैं न ?"

और इसके उत्तर में भी आनन्द ने पूर्व की भाँति ही कहा—"हाँ भन्ते, वज्जियों के देश में किसी भी अर्हन्त को कोई कष्ट न हो, वे इस बात का पूरा-पूरा ध्यान रखते हैं।"

तब तथागत ने अमात्य वर्षकार से कहा—"हे ब्राह्मण; एक बार वैशाली में रहते समय मैंने गणराज्य के अभ्युदय के इन सात नियमों का वज्जियों को उपदेश

दिया था; और जब तक वज्जी इन नियमों के अनुसार आचरण रखेंगे तब तक उनकी उन्नति ही होगी, अवनति कदापि नहीं।"

इस पर वर्षकार ने नत मस्तक हो कहा था—"हे गौतम, यदि वज्जी इनमें से किसी एक नियम का भी अनुसरण करते रहे तो उनकी उन्नति ही होगी, अवनति कदापि नहीं!"

राजा अजातशत्रु की नगरी में रहते समय तथागत ने वज्जियों के सम्बन्ध में जब यह बात कही थी तो आचार्य शिष्य उस समय यहीं वैशाली में इसी सुरक्षा प्रधान पद पर था, और उसने भी अन्य वैशालिकों की भाँति गर्व का अनुभव किया था। परन्तु आज उसे लगा कि वह किंचित भी तो गर्व की बात नहीं थी, यह तो तथागत ने एक प्रकार से हम सभी को जैसे सावधान किया था।

उसका अश्व इस समय द्रुत गति से गणाध्यक्ष के दुर्ग की ओर दौड़ रहा था। यह बात ध्यान में आते ही वह उसकी पीठ पर और सम्हल कर बैठ गया, और वल्गा को और ढीली छोड़ आगे की बात सोचने लगा। वह सोचने लगा कि यदि तथागत ने हमें सावधान किया था, तो क्या उन्होंने साथ ही वर्षकार को असावधानीवश कुछ संकेत भी नहीं दे दिया था। और, वह संकेत क्या था? वह अश्व की वल्गा को तनिक खींच सोचने लगा—'और आज वही वर्षकार वैशाली में है।' वैशाली में आने से पूर्व एक घटना और भी हुई थी, और वह घटना थी राजगृह में साम्राज्य के सभी ग्रामिकों की सभा, और इसी सभा मे वर्षकार ने वैशालिको का पक्ष लिया था। और उसने, अजातशत्रु के सम्मुख वैशालिकों का कोई पक्ष क्यों लिया? यह प्रश्न सहसा उसके मस्तिष्क में विद्युत वेग से कौंध-सा गया।

आचार्य शिष्य को लगा, जैसे इसी प्रश्न के उत्तर में तो कहीं कोई सूत्र अटका हुआ है। परन्तु, उसका इस हत्याकाण्ड से सम्बन्ध? उसे कुछ भी स्पष्ट समझ में नही आया। हाँ, उसके अन्तर में बैठी कोई धारणा अवश्य और दृढ़ हो रही; सन्देह भी। परन्तु अकेले सन्देह से तो काम नही चलता, उसके लिए प्रमाण चाहिए, और इसी प्रमाण को वह पूरे एक पक्ष से खोज रहा है, खोजते-खोजते हताश भी हो उठा है। और यदि वह प्रमाण न मिला तो क्या यह सन्देह सर्वथा अर्थहीन ही रहेगा, चाहे फिर···' और फिर वह आगे कुछ नही सोच सका। बस उसके मुख का नैराश्य भाव प्रगाढ़ हो उठा। अब तक दुर्ग का द्वार आ चुका था। उसे देख वह फिर सोचने लगा—'जब प्रमाण ही पास नहीं तो फिर बन्धुवर सिंह से क्या कहना शेष रह गया? और क्या पता, प्रमाण के अभाव में वह मेरी बात पर एक ठहाका दे हँस ही पड़ें; और कह उठें, आयुष्मान्, यह तो तुम्हारा आचार्य वर्षकार के प्रति कोई दुराग्रह भाव हुआ, न्याय व्यवस्था मे दुराग्रह के लिए कोई स्थान नहीं, फिर यह एकता को भंग करने का भी प्रयास हुआ, उसी एकता को, जो वज्जियो की और उनके इस जाज्वल्यमान गणराज्य की आधार-भूत शक्ति है और जिस शक्ति की एक दिन, केवल एक दिन ही नही, वरन् अनेक बार स्वयं तथागत ने प्रशंसा की थी।'

आचार्य शिष्य ने जैसे अपनी ही किसी बात पर पुनर्विचार करने के लिए द्वार के सम्मुख अश्व को तनिक रोक लिया। अश्व को रोक, उसे वापस मोड़ने को उद्यत भी

हो उठा, परन्तु फिर दृढ़ता से उसकी वल्गा को पकड़ वह सोचने लगा—"सुरक्षा प्रधान का दायित्व है कि मुझे कोई निश्चित निर्णय करना ही होगा, चाहे फिर उस निर्णय के परिणाम कुछ भी क्यों न हों, या फिर...... ।"

या फिर के आगे भी उसने कुछ सोचा, और वह सोचते ही जैसे उसे कोई बड़ा अवलम्ब मिल गया । अश्व फिर द्रुत गति से दुर्ग के अन्दर की ओर दौड़ लिया । द्वार मण्डप में अश्व को छोड़, सोपान पर उसने पैर रखा ही था कि पीछे, वाटिका की ओर से कोई उसे पुकार उठा । उसने मुड़कर उधर की ओर देखा तो वह जैसे खीझ कर रह गया । मन-ही-मन बोला—'यह तो प्रमाद है ; अरे ध्वजधर, सभी ने सोच लिया है, जैसे इस गणराज्य की सुरक्षा का दायित्व केवल तेरे ही कंधों पर है, और शेष सभी ने बस मुझे यह कार्य सौंप, मानो अवकाश ले लिया है ।'

सम्मुख वाटिका में इस समय केवल सिंह दम्पत्ति ही नहीं वरन् महापौर श्रेणिय-रत्न भी अपनी पत्नी देवी रत्न कमल के साथ वहाँ उपस्थित थे, और उनका एक चार वर्षीय बालक रोहिताश्व तितलियों को पकड़ने के उद्देश्य से सारी सुध-बुध खो उनके पीछे-पीछे भाग रहा था । परन्तु उनके सन्निकट पहुँच कर भी वह उन्हें पकड़ नहीं पा रहा था । और, उसके इस दृश्य को देख देवी रत्नकमल तथा देवी रोहिणी दोनों ही सहज विनोद भाव से हँस रही थीं । किन्तु, आचार्य शिष्य को आया देख अब सभी का ध्यान उस ओर आकृष्ट हो रहा ।

सिंह सेनापति तो ध्वजधर को आया देख इस समय जैसे अत्यन्त प्रसन्न हो उठे । उल्लसित कण्ठ स्वर में बोले—"आओ आयुष्मान, आओ ! हम तो सचमुच अभी तुम्हारा ही स्मरण कर रहे थे ।" यह कहते हुए वह तनिक रुके, फिर बोले—"आयुष्मान्, आज देवी आम्रपाली के स्तूप को देख, मैं तो चकित रह गया ! एक पक्ष की अवधि भला होती ही क्या है, परन्तु इस अल्प काल में भी उसके निर्माण कार्य ने जो प्रगति की है, वह निस्सन्देह प्रशसनीय है ।"

आचार्य शिष्य जैसे कहने के लिए कह उठा—"बन्धुवर, यह सब वैशालिकों का उत्साह ही तो है ।"

"और, देवी आम्रपाली की लगन भी तो देखो ।" महापौर श्रेणियरत्न भी अपना मंतव्य प्रकट कर उठे ।

आचार्य शिष्य महापौर की ही बात को आगे बढ़ाते हुए कुछ कहा चाहता था कि इसी मध्य सिंह सेनापति फिर बोल उठे—"परन्तु मुझे इस सबसे अधिक आश्चर्य तो देवी आम्रपाली की इस बात पर है कि जितना उनका कभी नृत्य पर अधिकार हुआ करता था, उतना ही वैराग्य पर भी हुआ ; और फिर अब इस स्तूप निर्माण में तो उन्होंने स्थापत्य कला के विशेष ज्ञान का भी परिचय दे दिया है ।"

अब तक देवी रोहिणी और देवी रत्न कमल भी वहीं पहुँच चुकी थीं । दोनों ही अत्यधिक प्रसन्न थीं । देवी रोहिणी ने अपनी मुस्कराती दृष्टि आचार्य शिष्य की ओर फेर, परिवाद के से कण्ठ स्वर में कहा—"वह तो जो कुछ है सो है ही, पर बन्धुवर यह तो बताओ कि आज इधर कहाँ आ भटके ? क्यों बन्धुवर ध्वज, कहीं मार्ग तो नहीं भूल गए ?"

अभी देवी रोहिणी अपनी बात पूरी भी नहीं कर पायी थी कि देवी रत्न कमल भी उतावली में उमगती हुई सी कह उठी—"देवी, यह स्वयं तो हमें भूल गए ही, सो तो इतने आश्चर्य की बात नहीं, परन्तु देवी मंजरिका को भी तो देखो न. वह तो हम सभी को कुछ ऐसी भूल गईं, जैसे उनका हम से कभी कोई सम्बन्ध ही नहीं रहा।"

अपने अग्रज गुरुबन्धु की उपस्थिति में दोनों के मुख से यह आत्मीयतापूर्ण उलहाना सुन आचार्य शिष्य भारी संकोच का अनुभव कर उठा ; वह उत्तर में कुछ भी न कह सका। हाँ, संकोच बोझिल दृष्टि से एक बारगी उसने उनकी ओर देखने का अवश्य प्रयास किया; पर उसकी मुख मुद्रा फिर व्यस्त हो उठी। वास्तव में वह गणाध्यक्ष के दुर्ग में बन्धुवर सिंह से आज वैशाली की किसी ज्वलंत समस्या पर बहुत कुछ कहने आया था। पर उसने जब यहाँ सर्वथा दूसरा ही वातावरण देखा तो उसके अन्तर का सारा उत्साह जैसे फीका पड गया। उसका संकोच भाव और भी अधिक प्रगाढ हो उठा। परन्तु गणाध्यक्ष सिंह ने अब तक उसके मुख पर छाई चिन्ता की झाँई को स्पष्ट रूप में देख लिया था। उन्होंने देखा कि वह इस समय केवल चिन्ता ग्रस्त ही नही वरन् कुछ उत्तेजित भी है। अतः सिंह सेनापति ने कुछ चिन्तामिश्रित उत्सुकता से पूछा—"क्यो आयुष्मान, आज तुम इतने उदास क्यो दीख रहे हो ?"

यह प्रश्न सुन आचार्य शिष्य की खिन्नता जैसे कोई सहारा पा बिखर-सी गई। सप्रयास मुस्कान के साथ बोला—"नहीं बन्धुवर, उदास तो नही, परन्तु हाँ चिन्तित अवश्य हूँ।"

यह कह, वह क्षणेक रुका। फिर जैसे अपने अन्तर की सारी शक्ति लगा वह सिंह की ओर मानों असहाय दृष्टि से देखते हुए कह उठा—"पूज्यपाद, मैं सुरक्षा प्रधान के पद से मुक्त हुआ चाहता हूँ।"

उसके मुख से अकस्मात् यह सुन न केवल सिंह सेनापति, वरन सभी तो स्तब्ध रह गए। सभी के मुख निस्तेज हो उठे।

देवी रोहिणी अपने पितृ-शिष्य को इस प्रकार भावावेश में देख पहले तो कुछ चिन्तित हुई, परन्तु अगले क्षण ही वह उसके इस भावावेश पर हंसे बिना भी न रही। किन्तु सिंह सेनापति ने तभी उसे नेत्र इंगित से सावधान कर रोक दिया। फिर ध्वज-धर की ओर दृष्टि केन्द्रित कर आत्मीयता के से कण्ठ स्वर में पूछा—"क्यों आयुष्मान, ऐसा सहसा क्या हो गया, जो इतने उत्तेजित हो उठे ?"

ध्वजधर का मुख इस समय भावावेश से रक्तिम हो उठा था। मन की कोई बात असावधानीवश मुख से बाहर निकल न जाए, अतः एक भारी साँस अन्दर वक्ष में समेटते हुए वह बोझिल कण्ठ से बोला—"बन्धुवर, कारण तो कोई स्पष्ट नहीं, बस अब मन ऊब गया है।"

और फिर यह कहते हुए वह सावेश ही अश्व की ओर बढ़ लिया; फिर तत्प-रता से उस पर आरूढ़ हो, उसे अपने प्रासाद की ओर दौड़ा दिया। सभी हतप्रभ हुए से उसकी ओर देखते रह गए। उन्हें लगा, जैसे आचार्य शिष्य नहीं बल्कि वे स्वय ही किसी भारी दुविधा में फंस गए हों।

आचार्य शिष्य का अश्व अपने ही प्रासाद की ओर प्रस्थित हुआ था। किन्तु

मध्य मार्ग में वह अपने स्वामी का वल्गा-संकेत पा देवी शिष्या की अट्टालिका की ओर बढ़ लिया। द्रुतगति से दौड़ता हुआ वह देखते-देखते ही उसके सम्मुख जा पहुँचा; किन्तु वहाँ केवल क्षणेक रुक, फिर उसी गति से वापस भी लौट लिया। शबुक ने इस दृश्य को देखा तो वह भौचक्का-सा रह गया।

आचार्य शिष्य के अश्व को गए अभी कुछ क्षण ही बीते होंगे कि प्रायः उसी गत्यावेग से दौड़ता हुआ एक अन्य अश्व वहाँ आ पहुँचा। देवी रोहिणी ने अश्वपीठ पर बैठे हुए ही पूछा—'क्यों शबुक, बन्धुवर ध्वज क्या इधर आए थे?"

शंबुक अभी उसका उत्तर दे ही रहा था कि देवी रोहिणी अगला प्रश्न कर बैठीं। पूछने लगीं—"क्यो, देवी शिष्या तो यही हैं न?"

शबुक असमजस में पड गया। वह सोचने लगा, पहले कौन से प्रश्न का उत्तर दूं। अन्ततः वह नत मस्तक हो बोला—"हाँ, देवी! वह यहीं हैं।

इस पर देवी रोहिणी ने तनिक मुस्कराते हुए पूछा—"क्यो शंबुक, क्या मैं अन्दर जा सकती हूँ?"

शंबुक को लगा, जैसे देवी रोहिणी ने यह प्रश्न कर अप्रत्यक्ष में उस पर कटाक्ष किया है। परन्तु साथ ही उसने यह भी अनुभव किया कि उसमें तिक्तता जैसी तो कोई बात नही थी; वरन सहज ढंग में पूछा था। वह मस्तक नत कर बोला—"देवी, अपने इस तुच्छ सेवक से भला यह भी कोई पूछने की बात है? देवी शिष्या आपके दर्शन कर क्या कम प्रसन्न होगी; और देवी, फिर स्वामिनी के लिए इससे बढकर भला और क्या सौभाग्य होगा?"

इसी मध्य, देवी रोहिणी सवेग अपने अश्व से नीचे कूद चुकी थीं। वल्गा शंबुक की ओर बढाती हुई बोलीं—"शंबुक, एक अत्यन्त आवश्यक कार्य निकल आया था, इसी से चली आयी।"

और फिर वह अन्दर की ओर जैसे दौड-सी लीं।

आचार्य शिष्य ने सिह सेनापति के सम्मुख पदत्याग की इच्छा प्रकट कर सोचा था—'चलो, एक भारी दुविधा से अनायास ही छुटकारा मिल गया।' परन्तु वह ऐसा केवल एक बार ही सोच सका, क्योंकि अगले क्षण ही वह भारी आत्मग्लानि का अनुभव कर उठा। वह अपने ही पर व्यंग कर कह उठा—'ध्वजधर, बन्धुवर ने और फिर इस वैशाली ने जो तेरे ऊपर उपकार किए थे, उन सभी का तू आज उन्हें अच्छा पुरस्कार दे आया।'

जब वह प्रासाद में लौटा तो मंजरिका उसकी मनोदशा को देख चकित-सी हो उठी; साथ ही चिंतित भी हो रही। उसके ओष्ठ शुष्क हो उठे। कातर प्राय स्वर में पूछने लगी—"क्यों स्वामी, ऐसा क्या हो गया?"

किन्तु आचार्य शिष्य ने जैसे यह सब कुछ सुना ही नही; बस मौन रहे ही वह शयन कक्ष की ओर बढता रहा। मजरिका भी पीछे-पीछे चलती रही। उसे कुछ भी पूछने का साहस नहीं हो पा रहा था, फिर भी जैसे बलात् उसका व्यग्र कण्ठ स्वतः पूछ उठा—"क्यों स्वामी, क्या आज किसी से कोई अरुचिकर विवाद हो गया है?"

आचार्य शिष्य के मन में आया कि कह दूँ, किसी से क्या अरुचिकर संवाद होता; यहाँ वैशाली मे मेरा अरुचिकर संवाद सुनने वाला ऐसा बैठा ही कौन है ? वास्तव में मुझे तो अपने ही से अरुचि हो गयी है । परन्तु उसे लगा, जैसे उसकी जिह्वा बस जड़ होकर रह गयी हैं, और अंग-प्रत्यग शिथिल हो उठे हैं । परन्तु साथ ही, मस्तिष्क इतने सब कुछ के पश्चात् भी जैसे विश्राम नहीं लिया चाहता, उल्टे उसकी सक्रियता और सघन हो उठी है । वह शय्या पर लेट, मंजरिका से बोला—"देवी, मुझे इस समय एकान्त चाहिए ।"

किन्तु यह उसने कहा था । पर, मंजरिका ने जो कुछ देखा था, उसे देख उसके लिए वहाँ से जाना जैसे असम्भव हो गया ।

स्वामी के मस्तक पर उभरे मोटे स्वेद कणों को देख वह घबरा-सी उठी । उन्हें अपने उत्तरीय के आँचल से पोंछते हुए बोली—"स्वामी, देख रही हूँ कि तुम कितने ही दिनो से कुछ खोए-खोए से रहते हो, आखिर वह दुविधा मैं भी तो जानूँ, या फिर मैं इतनी हतभाग हूँ कि मुझे वह जानने का भी अधिकार नही रह गया है ।"

आचार्य शिष्य अभी भी दुविधा में ग्रस्त था । उन्मनता से बोला—"देवी, भला अधिकार क्यों नहीं; परन्तु सभी बातें बताने योग्य हों, सो भी तो सम्भव नहीं ।"

यह कह आचार्य शिष्य ने दूसरी ओर करवट बदल ली; साथ ही उसका शुष्क कण्ठ फिर अनुनय के स्वर मे कह उठा—"देवी क्षमा करो, मुझे इस समय बस एकान्त मे रहने दो ।"

किन्तु मंजरिका पुनः यह सुनकर भी वही बैठी रही । केवल बैठी ही नहीं रही, वरन् उसके मस्तक पर अपना करतल रख साथ ही कह भी उठी—"स्वामी दुविधा को प्रकट कर देने से मन का बहुत कुछ भार हल्का हो रहता है, फिर वैशाली मे तो सभी प्रकार की समस्याओ में परामर्श की परम्परा है । या फिर यूं कह दो, मैं उसके योग्य नही ।"

आचार्य शिष्य को यह मंजरिका का अनधिकार हस्तक्षेप लगा । अतः वह कुछ झल्ला उठा । लेटे-लेटे ही पैरो को और लम्बे फैला, करवट को गहरी कर बोला—"श्रेष्ठी-पुत्री, हर समय तुम्हें तो बस एक ही कार्य रह गया है, और वह है अपने अधिकारों की दुहाई देना ।"

मंजरिका ने यह सुन अपने को कुछ अपमानित हुआ अनुभव किया । किन्तु स्वामी को इस समय किसी गम्भीर समस्या में उलझा हुआ समझ वह चुप कर गई । और फिर, जैसे मन-ही-मन अनुमानों का सहारा ले कारणों पर विचार करने लगी । प्रत्यक्ष ही, हत्याकाण्ड भी एक कारण था; 'परन्तु', वह सोचने लगी—'वह उस दिन से केवल व्यस्त रहे थे, व्यग्र नही हुए थे, तो फिर इस व्यग्रता का कारण ?' सहसा उसे स्मरण हो आया—'श्रेष्ठीपुत्र कपिन पश्चिमोत्तर देशों में व्यापार कर अभी वैशाली लौटा है ।' किन्तु, साथ ही वह फिर आगे सोचने लगी—'सो तो कोई नयी बात नहीं, वह सदा ही इस प्रकार जाता है, और लौटता भी है, और आचार्य शिष्य उसको सकुशल लौटे देख, प्रसन्न भी हुए हैं । अतः इस बार ही ऐसी कौनसी बात हो गई ? हाँ, हुई है, अवश्य हुई है ।" जैसे, मजरिका को सहसा कोई सूत्र हाथ लग गया हो,

वह प्रसन्न हो उठी ।" केवल गत संध्या ही तो श्रेष्ठीपुत्र कप्पिन ने संध्या समाज में देवी शिष्या को एक बहुमूल्य मुक्ताहार भेंट किया था; वह मन-ही-मन बोली—"अवश्य ही स्वामी को यह असह्य हो उठा है ।"

और फिर उसके पश्चात् वह पर्याप्त समय तक उसी प्रकार शय्या पर बैठी रही । आचार्य शिष्य भी यथापूर्व करवट लिए पडा रहा । अन्त में मंजरिका अपने ही से कहने लगी—'यदि यही कारण है, तो भी मुझे वह अवश्य जानना चाहिए, और स्वामी को भी उसे बताने में कोई झिझक नहीं होनी चाहिए ।' आचार्य शिष्य को झिझोड़ते हुए वह पूछ उठी—"स्वामी कैसा भी कारण क्यों न हो; वह आपको बताना ही होगा । और यदि मैं आपकी इस मनोव्यथा तक को भी नहीं जान सकती, तो फिर मुझे और मेरे इस जीवन को धिक्कार है ।" यह वह वह जैसे भावोद्वेग से फफक उठी, नेत्रों से अश्रु कण निकल, कपोलों पर ढुलक गए । आचार्य शिष्य को यह सब कुछ अत्यन्त अरुचिकर प्रतीत हुआ, और वह पूर्व से भी अधिक झल्ला उठा । आवेश में बहुत कुछ कहने को भी उद्यत हो गया, परन्तु साथ ही मंजरिका के लिए यह सब कुछ स्वाभाविक समझ, मौन ही रह गया । वास्तव में उसके सम्मुख इस समय जो कुछ भी समस्या उपस्थित थी, उसने जैसे उसके सारे ही विवेक को जकड रखा था । उसका सारा ध्यान, समग्र चेतना केवल उसी समस्या का समाधान करने में जुटी हुई थी, किन्तु अपनी सारी शक्ति लगाकर भी वह किसी निष्कर्ष पर नहीं पहुँच पा रहा था । साथ ही वह बन्धुवर सिंह के सम्मुख पद-मुक्त होने का जो प्रस्ताव कर बैठा था, उसकी आत्मग्लानि पृथक् से उसे सता रही थी । सोचने लगा —"आज तो मैं यह जीवन की कदाचित सबसे भयकर भूल, केवल भूल ही नही वरन् कृतघ्नतापूर्ण कार्य कर बैठा, और जो कुछ कहने गया था, वह सब कुछ रखा ही रह गया । ध्वजधर, यह सुरक्षा प्रधान का दायित्व भार है, उसका निर्वाह कोई बाल-क्रीडा तो नहीं ।" किन्तु इसी बात पर उसे भारी मनस्तोष भी हो रहा, अपने से कहने लगा—'ध्वजधर, यह भी अच्छा ही हुआ । क्या पता, मेरी ही किसी बात को लेकर शासक वर्ग का एकता में फूट का सूत्रपात हो रहता, और फिर उसका सारा कलंक मेरे माथे पर लगता ।'

बाहर निकलते एक निःश्वास के साथ उसने करवट बदलने का-सा प्रयास किया । किन्तु इस मध्य भी उसका मस्तिष्क विचारों से जकड़ा रहा । वह अपने से फिर कह उठा—'और यदि न कहूँ तो उसमें भी तो वैशाली का अहित है, क्या पता उसका वि···ना···' वैशाली के विनाश की बात मस्तिष्क में आने मात्र से आचार्य शिष्य काँप-सा उठा । वह अपने में और उद्विग्न हो रहा । मंजरिका ने उसके कन्धे का स्पर्श किया तो उसका करतल तत्परता से उचट, माथे पर जा पहुँचा । उसे लगा, जैसे स्वामी को ताप हो गया हो । मंजरिका घबरा उठी । बोली—"स्वामी, यह तो तुम्हें···।"

परन्तु इसी मध्य आचार्य शिष्य आश्वासन के से सहज कण्ठ स्वर मे बोल उठा—नहीं श्रेष्ठी पुत्री, कुछ नहीं, तुम्हें तो व्यर्थ का भ्रम हो गया है । मैं तो पूर्णतः स्वस्थ हूँ ।"

मंजरिका ने इस बार बलात आचार्य शिष्य के मुख को अपनी ओर फेर लिया । उसे देख वह भयभीत हो उठी । उसे लगा, जैसे आचार्य शिष्य का सारा मुख लाल हो

उठा है । मंजरिका को भी जैसे इस बार कुछ सक्षोभ आवेश आ गया, बोली—"स्वामी, आप मुझ से निश्चय ही कुछ छिपा रहे हैं, जो किसी प्रकार भी शोभाजनक नही । आपके लिए नहीं स्वामी, मेरे लिए ।"

आचार्य शिष्य ने क्लान्त प्राय कण्ठ स्वर में कहा—"यह देवी का भ्रम है, और यदि कुछ छिपा ही रहा हूँ तो वह मेरे दायित्व का अंग है ।"

मंजरिका तत्परता से बोल उठी—"और मेरे प्रति अविश्वास । सच बताओ आचार्य शिष्य, यदि देवा शिष्या ने इसका शतांश भी अनुरोध किया होता तो क्या आप इसी बात को उससे इस प्रकार गोपनीय रखते ?"

मंजरिका जैसे यह आवेश वश कह उठी । तत्पश्चात्, वह शय्या पर बैठी न रह सकी, और वहाँ से उठ निकट ही में खडी हो गई ।

आचार्य शिष्य की दृष्टि भी इस बार ऊपर उठे बिना न रही । अन्तर में उसने कुछ भी अनुभव किया हो, पर, प्रकट में वह केवल विहँसते नेत्रों ने मंजरिका की ओर देख सका । वे कुछ क्षणों तक मंजरिका की ओर इस प्रकार देखते रहे, जैसे उससे कोई महत्त्वपूर्ण प्रश्न पूछ रहे हों । किन्तु मजरिका ने जो कुछ कहा था, उस पर उसने इस समय न तो पश्चात्ताप का, और न ही आत्मग्लानि का, और न ही लज्जा का अनुभव किया; वरन् उसे हुआ जैसे आज उसने यह सब कुछ कह अपने मन के भार को उतार फेंका है । आचार्य शिष्य अभी भी शय्या पर लेटा था । उसने मुस्कराते नेत्रों से मंजरिका की ओर देखा, फिर उसे अपने निकट आने का सकेत भी किया । परन्तु मजरिका यथा स्थान ही खड़ी रही, जैसे उसने अपने स्वामी के इस सुपरिचित इंगित को समझा ही नहीं । अन्त में आचार्य शिष्य मानों पराजय की विवशता से उठ खडा हुआ । किन्तु उसके मुख पर इस समय भी मुस्कान खेल रही थी । मंजरिका की भुजाओं को हाथ मे पकड़ सर्वथा सहज ढंग में बोला—"देवी ! इस जीवन में मैं तुम्हें पाकर सचमुच धन्य हो गया हूँ ।"

आचार्य शिष्य कदाचित् अभी आगे और कुछ कहा चाहता था कि इसी मध्य मंजरिका सावेश बोल उठी—"आचार्य शिष्य, आपने मुझ पर यह निश्चय ही व्यंग किया है ।"

यह कह, मंजरिका के कपोल पहले से भी अधिक रक्तिम हो उठे । उसे इस दशा में देख आचार्य शिष्य को लगा, जैसे उसके सम्मुख इस क्षण कोई प्रौढ़ महिला नही, वरत् एक ऐसी अबोध बाला खडी है, जिसका हृदय सहसा विद्रोह कर उठा है । यह देख, आचार्य शिष्य का मन भी व्यथित हो उठा, साथ ही खिन्न भी, परन्तु इन दोनों के मध्य कही उसका स्वाभाविक गांभीर्य भी अटक रहा । और, इस सारी अवधि उसके मुख पर आत्मीयता पूर्ण मुस्कान खेलती रही । किन्तु जब वह बोला, तो उसका कण्ठ स्वर कुछ कुछ भारी प्रतीत हुआ । कहने लगा—"तो देवी ने इसे व्यग समझा है ?"

मंजरिका दृढ़ता से कह उठी—"हाँ आचार्य शिष्य, मैंने उसे व्यंग ही समझा है; और जो समझा है, वह अनुचित भी नहीं ।"

आचार्य शिष्य मंजरिका के इस आवेश और उसकी इस दृढ़ता को देख पहले

तो हँस पड़ा, परन्तु दूसरे ही क्षण, उसकी मुख मुद्रा सहसा गम्भीर हो उठी। पूछने लगा—"तो क्या श्रेष्ठीपुत्री यह भी समझती है कि मैंने जो कुछ कहा है, उसमें मैंने अपने को भी धोखा दिया है ?"

मंजरिका अपने स्वामी के इस प्रश्न से तनिक भी विचलित नहीं हुई। पूर्ववत् आवेश और साथ ही आत्म विश्वास की दृढ़ता के साथ बोली—"हाँ आचार्य शिष्य, मैं ऐसा ही समझती हूँ, और मेरा वैसा समझना सर्वथा स्वाभाविक भी है।"

आचार्य शिष्य उसकी भुजाओं को छोड़ गवाक्ष की ओर बढ़ लिया। गवाक्ष छिद्रों में से अन्यमनस्क दृष्टि से बाहर की ओर देखता हुआ-सा बोला—"श्रेष्ठीपुत्री, सम्भव है, तुम्हीं ठीक कहती हो और तुम्हारे कहे अनुसार मैंने अपने को ही धोखा दिया हो। किन्तु इसका कारण ? सम्बन्ध की दृष्टि से तुम मेरी आत्मीया हो, पत्नी रूप में तुम्हारा समर्पण पाकर मेरा सर्वस्व गर्व का अनुभव कर तुम्हारे सम्मुख नत मस्तक हुआ है। मेरे मन ने कदाचित कभी अनजाने में भी ऐसी आकांक्षा नहीं की होगी कि जीवन में तुम्हारे अतिरिक्त कोई अन्य···" यह कह वह क्षणिक रुका; फिर बोला—'मुझे इस जीवन में जो कुछ मिलना था, बस तुम्हीं में मिल गया है। फिर भी, हाँ, एक बात अवश्य है देवी, देवी शिष्या के अभाव की मैं एक क्षण को भी कल्पना नहीं कर सकता। मानो, यह मेरा दूसरा सौभाग्य है। यह मैंने तुमसे न पहले ही कभी छिपाया था, और न ही अब छिपाने का कोई प्रयास कर रहा हूँ। वास्तव मे वह अब कोई रहस्य भी नहीं रह गया; तो भी वह जैसे एक बड़ा रहस्य हो, जिसे जितना स्पष्ट रूप में कहो वह उतने ही अधिक परिमाण मे रहस्य पूर्ण होता चलता है।"

मजरिका बोली—"तो फिर क्या यह सब कुछ मेरे एक पत्नी के आधारभूत अधिकार पर कुठाराघात नहीं हुआ ?"

आचार्य शिष्य तत्परता से बोल उठा—"नही, कदापि नहीं देवी, यदि मैंने एक क्षण को भी ऐसा अनुभव किया होता तो निश्चय मानो देवी शिष्या कभी की मेरे मन से निकल गई होती। शुभे, विश्वास करो देवी शिष्या ने हमारे मध्य कदाचित् ही कभी ऐसा व्यवधान उपस्थित किया होगा; वरन् अधिकाधिक उत्साह ही प्रदान किया है।"

मजरिका बोली—"व्यवधान प्रस्तुत न किया हो, ऐसा आप अनुभव कर सकते हैं, परन्तु मैं तो उसका स्पष्ट प्रभाव देख रही हूँ।"

"सो कैसे ?" आचार्य शिष्य ने उत्सुकता से पूछा।

मंजरिका इसका उत्तर देने को उद्यत हुई ही थी कि इसी मध्य संदेशवाहक ने आकर जैसे सोल्लास बताया—"आर्य, आज तो प्रासाद में कल्याणमयी देवी-शिष्या पधारी है।"

यह सुन दोनों ही विस्मत हो उठ। हतप्रभ हो उन्होने एक-दूसरे की ओर देखा। किन्तु अगले क्षण ही मंजरिका के मुख पर व्यंग की मुस्कान खेल गई। तो भी आचार्य शिष्य ने संदेशवाहक की ओर देखते हुए सर्वथा प्रकृतिस्थ कण्ठ स्वर में कहा—"आयुष्मान्, उन्हें यहीं लिवा लाओ।"

संदेशवाहक के चले जाने के पश्चात् मंजरिका के मुख पर एक चपल मुस्कान

खेल उठी। वह आचार्य शिष्य की ओर देखती हुई बोली—"क्यों आचार्य शिष्य और यदि मैं संदेशवाहक से कह देती कि जाओ, देवी शिष्या से लौट जाने को कह दो, तो भला तब क्या होता ?"

यह सुन आचार्य शिष्य के मुख पर भी एक चपल मुस्कान खेल उठी। बोला—"इतना सोचकर भी अन्ततः तुम क्या कहतीं, वह तुम मुझे बताओ, इसकी आवश्यकता नहीं !"

इस पर मंजरिका ने तनिक हँसते हुए कहा—"आप कितने अंतर्यामी हैं, सो तो मैं भी भली भाँति जानती हूँ। पर इतना तो सोचा होता कि देवी शिष्या आज प्रथम बार ही हमारे आवास पर पधारी है, तो फिर क्या यह किसी प्रकार उचित है कि सदेश-वाहक को ही उन्हें यहाँ लिवा लाने का आदेश कर, हम यहीं खड़े रह उनकी प्रतीक्षा करें ?"

आचार्य शिष्य मंजरिका की ओर देखते हुए बोला—"हाँ, उचित तो नहीं देवी, पर भय जो लगता था।"

"सो किससे आचार्य शिष्य ?" मंजरिका ने तत्परता से पूछा।

आचार्य शिष्य उत्तर में मंजरिका को ओर देख, केवल हँस पड़ा। मंजरिका भी उसकी ओर देखते हुए, कक्ष से बाहर निकल गई और फिर जैसे उत्साह के आवेग में आस्थानागर की ओर दौड़-सी ली।

इस मध्य देवी शिष्या संदेशवाहक के साथ कक्ष की ओर चल पड़ी थी। मज-रिका ने उसे देख पहले तो नत मस्तक हो उसका अभिवादन किया और फिर सोत्साह उसकी ओर बढ़, बोली—"देवी, आज यह हमारा सचमुच परम सौभाग्य है।"

इस पर देवी शिष्या का मुख-सौम्य अन्तर के विनीत भाव से और मुखर हो उठा। संकोच से कपोलों की स्थिर लालिमा पर सिहरन दौड़ गई और कान उल्लास की उष्णता से अरुणिम हो उठे। ओष्ठ कुछ खुले तो शुभ्र दंत-पंक्ति समुस्कान दमक उठी। सविनय, सौम्यभाव से बोली—"देवी, यह आपकी उदारता है, अन्यथा मैं भी किस योग्य हूँ।"

मजरिका उल्लसित हो उठी। अपने उत्तरीय के दोनों पल्ले देवी शिष्या के सम्मुख फैला, फिर उससे मार्ग को बुहारती हुई सी वह सोत्साह मृदुल कण्ठ स्वर से बोली—"देवी, आपकी कला-प्रतिभा के सम्मुख भला कौन नत मस्तक नहीं है। सभी को तो उस पर गर्व है, आपका स्वागत कर मैं तो आज सचमुच धन्य हो गई हूँ। और यह प्रासाद ? देवी वह तो आज आपकी चरण धूलि से सचमुच मुखरित हो उठा है।"

देवी शिष्या इस पर पूर्व से भी अधिक संकोच का अनुभव कर उठी। कहने लगी—"श्रेष्ठीपुत्री, आपकी इस आतिथ्य-भावना के सम्मुख मैं नत मस्तक हूँ।" यह कह वह तनिक रुकी। उसके मुख पर सहसा चिंता का सा भाव उभर आया। व्यग्र हुई सी पूछने लगी—"क्यों देवी, आचार्य शिष्य स्वस्थ तो हैं न ?"

मंजरिका ने नत मस्तक हो कहा—"देवी, सो तो सब नगर चैत्यों की कृपा है।"

आचार्य शिष्य ने कभी यह कल्पना भी नहीं की थी कि देवी शिष्या किसी दिन

उसके आवास पर भी आ सकती है, अतः उसका हृदय हर्षतिरेक से ओतप्रोत हो उठा। परन्तु साथ ही यह भी सोचता रहा कि उसका इस समय यह आगमन हुआ तो कैसे हुआ ? किन्तु निरन्तर सोचते रहने के पश्चात् भी वह यह समझने में सर्वथा असमर्थ रहा। हाँ, उसके मन को यह अवश्य अनुभव हुआ कि कुछ समय पूर्व ही उसके अन्तर में विक्षोभ का जो सागर उमड़ा पड़ रहा था, वह सहसा शांत हो गया है।

और मंजरिका के साथ जब देवी शिष्या ने कक्ष में प्रवेश किया तो संकोचवश उसके नेत्र पलक ऊपर ही न उठ सके। उसे हुआ, जैसे उसकी वाणी जड़ हो गई है; उसी देवी शिष्या के सम्मुख जड़ हो गई है, जिसकी प्रतिच्छवि को अपने नेत्रों के सम्मुख संजो उसने एकात में न जाने क्या क्या कहा है और उससे न जाने क्या कुछ मांगा है। उसके सजीव रूप के सम्मख ही भला उसने कब अपने अंतः भाव को छिपाया था। उसके आगमन पर वह इस समय सगर्व गद्गद् था, तो भी प्रकट में वह संकोच का अनुभव कर सका; जैसे किसी चिरपरिचित से अनायास ही, संयोगवश, चिर-आकांक्षित साक्षात्कार हो गया हो। देवी शिष्या यूं उसके नेत्रो के सम्मुख ही बैठी थी, परन्तु उसकी दृष्टि उसके अन्तर पर विराजमान उसी की प्रतिच्छवि को निहार रही थी। वह मन-ही-मन कहने लगा—'भला मैं भी कितना मूर्ख हूँ। जिसके सम्मुख सदा ही मैं बोलता रहा हूँ, आज उसी को देखकर मैं मौन हो उठा हूँ।' सहसा उसके मुख से ध्वनित हो उठा—"देखो तो, यह भी कैसी विचित्र पहेली है।"

यह सुन देवी शिष्या और मंजरिका दोनों ही कुछ चौंक-सी गई। दोनों ही के मुख से एक साथ निकल ही तो गया—"सो कौन सी पहेली, आचार्य शिष्य ?"

आचार्य शिष्य की जैसे तद्रा टूटी; वह सकपका-सा गया। मानों सचेष्ट होता हुआ सा बोला—"कुछ नहीं, कुछ नहीं देवियो !' और फिर जैसे अपनी ही किसी दुर्बलता पर वह लज्जित हो रहा। उन दोनों की दृष्टि-छाया में बैठना उसे असम्भव-सा प्रतीत होने लगा। मन को हुआ, कहीं भाग चले, किसी ऐसे स्थान को भाग चले जहाँ वैशाली के प्रति मोह की धुंधली, क्षीण रेखा तक भी न हो और न ही हो दायित्व का यह गुरु भार !

मंजरिका पुनः अपने स्वामी की यह मनःस्थिति देख खिन्न मन से दृष्टि नत किए बैठी रही। मन-ही-मन सोचती रही—'आज स्वामी के सम्मुख निश्चय ही कोई जटिल समस्या है, तभी तो, देवी शिष्या को सन्मुख देखकर भी वह स्वस्थ न हो सके। देवी शिष्या भी मौन ही रह नेत्र कोरों से उसके मुख पर छाई अतः] दुविधा की झाँई का अवलोकन करती रही। आचार्य शिष्य का दुविधा भाव इस समय तक और भी अधिक प्रगाढ़ हो उठा था। उसे हुआ, जैसे उसकी सारी चेतना ही तो विक्षिप्त हो गई है। साथ ही, विचारों के आवेग में वह एक बारगी आपाद शीर्ष सिहर-सा गया और उसका मन मानों विवशता से आर्तनाद कर उठा। उसके नेत्र भी जैसे किसी अतः वेदना का स्पर्श कर उठे। वह बोझिल कण्ठ स्वर में बोला—"देवी, भला कभी आपने उदारता को अभिशाप बनते देखा है; न देखा हो तो अब वैशाली में देख लो।"

और फिर, उसके दुविधा-ग्रस्त मुख पर त्वरित गति से क्रमशः विक्षोभ एवं घृणा का सा भाव उभर आया। मंजरिका और देवी शिष्या दोनों को यह सब कुछ

अत्यंत रहस्यपूर्ण लगा। किन्तु, साथ ही दोनों को हुआ, जैसे अब कोई रहस्य उनके सम्मुख उद्‌घाटित होने को है। अतः वे कुछ सम्हल कर बैठ गई, और उत्सुक दृष्टि से आचार्य शिष्य की ओर देखने लगीं। आचार्य शिष्य के मुख पर अब तुम चिंता की गाढ़ी रेखाओं ने स्थान ले लिया था। उन्हें देख देवी शिष्या को लगा, जैसे आज उसका मन अपने सारे संयम को तोड़, आचार्य शिष्य के निकट सटकर बैठ जाने को उद्यत हो उठा है। मानों वह पूछने को उद्यत हो उठा है—"क्यों आचार्य शिष्य, भला ऐसी वह कौन सी समस्या है, जिसके समाधान के प्रयास ने तुम्हें इस परिमाण में उद्वेलित किया है।"

उसके अन्तर में न जाने कब से सुसप्त आत्मीयता का भाव मानों स्पष्ट रूप में जाग उठा, और जैसे वह संकोच के विरुद्ध विद्रोह कर उठा हो, ऐसा विद्रोह कि जिसका उसने अब तक कभी भी अनुभव नहीं किया था, और यदि किया भी था तो उसे भविष्य की सुखद कल्पना के सहारे भुला दिया था। उसे लगा, जैसे आज उसे मंजरिका की उपस्थिति अखर रही हो। परन्तु, साथ ही उसका मन पश्चाताप का सा अनुभव कर बुरी तरह से प्रकंपित भी हो उठा। उसे लगा, जैसे कोई उसकी सुअर्जित सान्त्वना आज अनायास ही खण्डित होने को मचल उठी हो।

मंजरिका को भी हुआ, जैसे वह वहाँ इस समय केवल बाधा रूप में उपस्थित है। उसे यह अपनी अनधिकार चेष्टा प्रतीत हुई। अपने ही से बोली—'पर इस समय करूं भी क्या ?' किन्तु उसका मन फिर भी जैसे उसे, स्वामी के कल्याण के लिए, वहाँ से जाने को कहता ही रहा। विवश हो, एक बारगी वह उठ सी भी ली, पर पग साथ न दे सके; ससंकोच बैठी की बैठी ही रह गई; अपने को प्रताडित करती हुई सी।

इसी मध्य सहसा आचार्य शिष्य बोल उठा—"देवियो, निष्कर्ष सम्मुख है, परन्तु प्रमाण उपलब्ध नहीं। तो फिर क्या प्रमाण के अभाव में अनुभूति के आधार पर प्राप्त निष्कर्ष का अपना कोई अस्तित्व नहीं ?"

मंजरिका को हुआ, जैसे स्वामी ने यह तो घुमा फिरा कर उसी के किसी प्रश्न का उत्तर देने का प्रयास किया है; और जो कुछ वह कहना चाहते हैं, स्वयं मुझ ही से कहलवाना चाहते हैं। अतः सावधानीवश मौन ही रही।

किन्तु देवी शिष्या बोल उठी—"आचार्य शिष्य ! सामान्यतः सचमुच उसका कोई अस्तित्व नहीं। पर साथ ही वह उपेक्षा का भी विषय नहीं। उसका निज का भी महत्त्व है। अतएव, विवेकशील सदा ही उसे पृष्ठ भूमि मे रख, सजग दृष्टि से सधैर्य, भविष्य में आवश्यक प्रमाण की खोज करते हैं।"

यह सुन आचार्य शिष्य को हुआ, जैसे वह जिस समाधान की खोज में था, उसे वह मिल गया है। उसके नेत्र ज्योतित हो उठे। उल्लसित कण्ठ स्वर में बोला—"देवी शिष्या आप निस्संदेह ठीक कहती हैं, तथापि, एक बात है.........।'

यह कह, आचार्य शिष्य मध्य ही में रुक रहा।

देवी शिष्या ने सहज भाव से पूछा—"सो कौन-सी आचार्य शिष्य ?"

आचार्य शिष्य अपने मस्तिष्क में उठे प्रश्न पर विचारता-सा जैसे उसे स्पष्ट

शब्दों में बाँधने का प्रयास करने लगा। किन्तु पर्याप्त विचारने के पश्चात् भी जब उसे उपयुक्त भाषा न मिल सकी तो बोला—"निष्कर्ष भ्रम भी तो हो सकता है देवी शिष्या ? फिर वह भ्रम विभेद का कारण बन सकता है और विभेद अंततः विनाश का ?"

देवी शिष्या बोली—"आचार्य शिष्य आप ठीक ही कह रहे हैं। किन्तु जहाँ निष्कर्ष में भ्रम की दुविधा हो वहाँ आचार्य शिष्य निष्ठा का अवलम्ब ले, किसी आत्मीय के सम्मुख उसे प्रकट कर सहज ही में परामर्श का रूप दिया जा सकता है। वैशाली में तो आत्मीय जनों का अभाव नहीं; कम से कम आपके लिए तो बिलकुल भी नहीं।"

आचार्य शिष्य को लगा, जैसे वह जहाँ से चला था, फिर वहीं आ पहुँचा है। किन्तु साथ ही उसे यह भी प्रतीत हुआ, जैसे गुत्थी सुलझती जा रही हो, और यदि न भी सुलझ रही हो तो उसने भ्रम निवारण की दिशा में अवश्य ही कोई महत्त्वपूर्ण संकेत दिया है। केवल संकेत ही नहीं, वह तो स्पष्ट ही आमंत्रण है। वह उत्साहित हो उठा। पर शीघ्र ही उसे जैसे फिर निराशा ने आ घेरा। बोला—"परन्तु देवी शिष्या, परामर्श भी तो वहीं सम्भव है, जहाँ आत्मीयता हो और जब आत्मीयता ही संदिग्ध हो उठे, तब ?"

देवी शिष्या सहज ढंग में मुस्करा उठी, उसी प्रकार जिस भाँति कि वह श्रेष्ठी-पुत्र कप्पिन से मुक्ताहार ग्रहण करते हुए मुस्करा उठी थी। आचार्य शिष्य मन-ही-मन कह उठा—'ध्वजधर, यह मुस्कान प्रपंच है, और आत्मीयता भ्रम है, तेरा जीवन तो सचमुच निस्सार है।' और देवी शिष्या उसी प्रकार मुस्कराती रह, बोल उठी—आचार्य शिष्य, संदेह अकारण भी हो सकता है, अतः उसे मन से निकाल फेंकना ही श्रेयस्कर है। क्यों ? क्योंकि जहाँ वह अपने ही प्रति अविश्वास का भाव ले, दुविधा को जन्म देता है, वहाँ दूसरी ओर गतिरोध का भी प्रमुख कारण बन रहता है, और फिर गतिरोध संकट का सूत्रपात कर उठता है।"

मंजरिका यह सुन मन में न जाने क्यों आतंकित हो उठी। पर आचार्य शिष्य का मन खिल उठा। उसकी दृष्टि बलात् मंजरिका की ओर घूम उसी पर जा टिकी। मंजरिका ने वक्ष में रुकी साँस को जैसे सप्रयास बाहर निकाला, और फिर क्रमशः आचार्य शिष्य एवं देवी शिष्या की ओर देखा। देवी शिष्या के मुख पर उसने लेश-मात्र भी तो किसी दुराग्रह का चिन्ह नहीं पाया। उसे वह सर्वथा निरापद प्रतीत हुआ। वास्तव में, उसका मुख-भाव सौम्यतर हो उठा था।

मंजरिका मन-ही-मन बोली—'जीवन सचमुच एक पहेली है, जिसे जितना सुलझाओ उसमें उतने ही उलझ रहो; और यदि न सुलझाओ तो उसी में उलझ, मुक्ति के लिए कराहते रहो।'

उसके मुख पर जैसे किसी अदृष्ट पराजय की खिन्नता, फीकी मुस्कान का सहारा लेती हुई सी फैल गई।

इसी मध्य आचार्य शिष्य सहसा पूछ उठा—"और कला देवी, भला अनुभूति क्या है ?"

देवी शिष्या पीठिका से उठती हुई बोली—"आचार्य शिष्य, अंतः प्रेरणा ही का दूसरा नाम तो अनुभूति है।"

आचार्य शिष्य तत्परता से पुनः पूछ उठा—"और बाह्य में से कुछ नहीं।"

देवी शिष्या ने प्रस्थान करते हुए, समदृष्टि से पति-पत्नी की ओर देखा। फिर बोली—"आचार्य शिष्य, वह केवल संयोग की बात है; परन्तु जो बाहर है, वह गौण है और जो अन्तर में है, वही मुख्य है।"

अट्ठाईस

आचार्य शिष्य और देवी शिष्या के मध्य के इस प्रश्नोत्तर के प्रवाह में क्या कुछ रहस्य गर्भित था, उसे मंजरिका कुछ समझी भी, और कुछ नही भी। वह तो फिर भी कुछ समझ गयी, पर किसी अन्य के लिए तो वह जैसे सर्वथा समझ से बाहर ही की बात थी। और की बात छोड़ो, स्वयं आचार्य शिष्य ही उसे समझने में असमर्थ रहा। उस दिन संध्या समाज में उसने बाह्य में जो कुछ भी देखा था, उसके अन्तर में कुछ और बात भी हो सकती है, वह, वास्तव में, उसके मस्तिष्क में आई ही नहीं; और न ही श्रेष्ठीपुत्र कप्पिन तब यह समझ सका था कि देवी शिष्या को उपहार स्वरूप मुक्ताहार भेंट कर वह किसी संकट का भी सूत्रपात कर रहा है।

वास्तव में हुआ क्या था? कोई दो वर्ष की लम्बी अवधि के पश्चात् श्रेष्ठीपुत्र कप्पिन जिस दिन वैशाली लौटा था, उस दिन विनिश्चय अमात्य वर्षकार उसकी कुशल क्षेम पूछने उसके आवास पर पहुँचे थे। कुशल क्षेम पूछने के पश्चात् फिर उन्होंने इस बात पर चिंता प्रकट की कि श्रेष्ठीपुत्र जब कभी बाहर जाते हैं तो प्रत्येक बार ही उन्हें निर्धारित अवधि से अधिक समय लग जाता है। फिर, इसी सम्बन्ध में उन्होने अपना यह भी मत प्रकट किया कि वह तो निश्चय ही यक्षेश मणिभद्र का प्रकोप है। इससे पूर्व श्रेष्ठीपुत्र कप्पिन इस बात पर मन-ही-मन हर्षित था कि चलो, दो वर्ष की यह यात्रा सफल हो गयी; क्योकि वह भारी मात्रा में धन अर्जित कर लौटा था, और उसका यह लाभ वैशाली के अन्य किसी भी सार्थवाह द्वारा अर्जित धन राशि से कही अधिक था। किन्तु उसने आचार्य वर्षकार के मुख से जब यह सुना तो वह शकित हो उठा। वह सोचने लगा? दो वर्ष की यह यात्रा भी की, और देखो तो कोई विशेष लाभ भी नहीं हुआ; कही यह सचमुच यक्षेश मणिभद्र का ही प्रकोप न हो। अतः वह आतुरतावश स्थल-यात्रा-देवता के इस प्रकोप को शान्त करने का उपाय भी वयोवृद्ध विनिश्चय अमात्य से पूछ बैठा।

आचार्य वर्षकार कुछ समय तो ध्यानस्थ हुए जैसे उत्तर मे कुछ सोचते से रहे, फिर जैसे उन्हें सहसा कोई बात स्मरण हो आई। पूछने लगे—"क्यों आयुष्मान, भला कभी तुमने यक्षेश मणिभद्र के चैत्य के सम्मुख उपासना भी की है?"

श्रेष्ठीपुत्र कप्पिन बोला—"आर्यवर, मैंने तो कभी नही की, हाँ गण कल्याणी देवी शिष्या ने एक बार मेरे मंगल की कामना से अवश्य की थी?"

इस पर आचार्य वर्षकार जैसे प्रसन्न हो, तत्परता से बोल उठे—"हाँ आयुष्मान, यही तो मैं जानना चाहता था।"

तनिक रुक वह फिर कुछ सोचते से रहे। श्रेष्ठीपुत्र कप्पिन उनके मुख की ओर उत्सुकता से देखता रहा। कुछ सोचने के पश्चात् आचार्य वर्षकार ने फिर पूछा—"और क्यों आयुष्मान, उस उपासना के उपलक्ष्य में तुमने गण कल्याणी को भी कुछ भेंट किया था या नहीं ?"

इस प्रश्न को सुन श्रेष्ठीपुत्र कुछ व्यग्र-सा हो उठा। मुख पर आशंका का भाव सहम-सा गया। बोला—"नहीं तो आर्यवर, और कदाचित् मैं यही भूल कर बैठा हूँ।"

इस पर आचार्य वर्षकार पीठिका से उठ, कप्पिन के और निकट जा, बोला—"आयुष्मान्, केवल भूल ही नहीं, यह तो भयंकर भूल हुई। प्रमाद भी हुआ, क्योंकि देवी शिष्या को वह मंगल कामना किए कुछ भी नहीं तो बारह वर्ष से भी अधिक बीत चुके, और तुमने इस सारी अवधि एक बार भी इस बात की सुध नहीं ली।"

श्रेष्ठीपुत्र यह सुन स्पष्ट ही जैसे भयभीत हो उठा। पूछने लगा—"क्यों आर्यवर, क्या इसका अब कोई उपाय नहीं हो सकता ?"

आचार्य वर्षकार मानों आश्वासनपूर्ण कण्ठ स्वर में तत्परता से बोल उठे—"क्यों नहीं श्रेष्ठीपुत्र, क्यों नहीं ? इस संसार में भला उपायों की भी कोई कमी है, और फिर वैशाली के ये देवता तो स्वभाव से बड़े ही भोले हैं।"

यह कह, आचार्य वर्षकार रुक, जैसे फिर कुछ सोचने में व्यस्त हो उठे। पर, श्रेष्ठीपुत्र कप्पिन का व्यग्र भाव और प्रगाढ़ हो, उपाय जानने के लिए उतावला हो उठा। वह नत मस्तक हो, अत्यन्त दीनता के साथ बोला—"फिर आर्यवर, आप ही कोई उपाय बताएं न ?"

यह सुन, आचार्य वर्षकार की मुख मुद्रा जैसे अत्यन्त व्यस्त हो उठी। कुछ सोचते हुए बोले—"आयुष्मान्, उपाय तो अत्यन्त सरल है, परन्तु उसका पालन भी उतना ही कठिन है।"

कप्पिन तत्परता से बोल उठा—"आर्यवर, चाहे कितना भी कठिन क्यों न हो, उसका अनुष्ठान तो करना ही होगा। आचार्य, मैं वह अवश्य करूंगा।"

श्रेष्ठीपुत्र के मुख पर निश्चय की दृढ़ता छा गयी।

आचार्य वर्षकार ने उसकी ओर देखते हुए कहा—'आयुष्मान, तुम्हें कोई भी तो बहुमूल्य आभूषण देवी शिष्या को भेंट करना होगा।"

कप्पिन प्रसन्न होता तत्परता से बोल उठा—"आर्यवर, यह तो कोई कठिन बात नहीं। क्या मैं एक आभूषण भेंट करने के योग्य भी नहीं ?"

इस पर आचार्य वर्षकार तनिक हँसते हुए बोले—"सो तो मैं भी जानता हूँ आयुष्मान, परन्तु उसकी विधि तनिक कठिन है।"

श्रेष्ठीपुत्र के मुख पर भारी उत्सुकता का भाव उभर आया।

वह सोत्साह पूछ उठा—"वह विधि क्या है, आचार्य ?

आचार्य वर्षकार पुनः पीठिका पर बैठ, उसे मानो समझाते हुए से बोले—"देवी शिष्या को आभूषण भेंट करते समय केवल तुम्हारे मन में ही यह बात रहनी चाहिए कि तुम किस उपलक्ष्य में उसे यह उपहार प्रदान कर रहे हो। दूसरे, उसने चूंकि सार्वजनिक रूप से उपासना की थी, अतः सार्वजनक रूप में ही तुम उसे यह उपहार भेंट

करो, आज ही संध्या समाज में नृत्य के पश्चात् सभी की उपस्थिति में यदि यह शुभ कार्य सम्पन्न हो जाए तो और भी अधिक श्रेयस्कर रहेगा। और आयुष्मान देखो, कोई उसका कारण पूछे, उसके पूर्व ही तुम अपना प्रयोजन भी प्रकट कर दो।"

"किन्तु प्रयोजन रूप में मुझे क्या प्रकट करना होगा, आर्यवर ?" कप्पिन ने पुनः उत्सुकता का भाव दिखाते हुए पूछा।

आचार्य वर्षकार हंसते हुए बोले—"आयुष्मान्, तुम सचमुच कितने भोले हो। भला यह भी कोई पूछने की बात है ? देवी शिष्या एक गण-कल्याणी है और सभी को उस पर आसक्ति-भाव प्रकट करने का समान रूप से अधिकार है; अतः उससे कहना—'देवी, इस सेवक ने दूर दिगंत तक यात्रा की है और एक से एक सुन्दरी देखी है, परन्तु इस आभूषण के लिए कोई भी तो योग्य पात्री नहीं मिली, फिर तुम्हारी कृपा भी तो सदा ही मुझ पर बनी रही है। स्वप्नों में न जाने कितनी बार तुम्हारे इन नृत्यों को देख मैंने आनन्द का अनुभव किया है, और जो आज तक इस प्रकार गोपनीय बना रहा, वह सभी के सम्मुख प्रकट हो सके, इसी से प्रतीक रूप में यह तुच्छ उपहार देवी की सेवा में प्रस्तुत है।'

और उसी दिन, संध्या समाज में जब श्रेष्ठीपुत्र कप्पिन ने देवी शिष्या को उसके प्रथम नृत्य के पश्चात् ही सभी की उपस्थिति में इसी भावोदगार के साथ सोत्साह मुक्ताहार भेंट किया तो समूचे दर्शक समुदाय में हर्ष की लहर दौड़ गई। सभी तो श्रेष्ठीपुत्र का साधुवाद कर उठे। गण-कल्याणी देवी शिष्या ने भी उसे समुस्कान ग्रहण कर उसे अपने नेत्रों एव ओष्ठों से लगाया तथा अंततः उससे अपने कण्ठ को सुशोभित किया। फिर वह अनुग्रह स्वरूप दूसरा नृत्य करती, उसके लिए यह स्वाभाविक ही था। किन्तु, उसके पश्चात् आचार्य शिष्य के लिए जैसे वहाँ बैठे रहना असंभव हो गया। वास्तव में वह श्रेष्ठीपुत्र कप्पिन के भावोद्गार को सुन स्तब्ध हो उठा था और उसकी यह स्तब्धता शीघ्र ही विक्षोभ में परिणत हो उठी थी। तो भी शिष्टतावश वह वहाँ किसी प्रकार बैठा रहा और उसके अगले दिन ही, आज, जब वह गणाध्यक्ष सिंह सेनापति के दुर्ग से लौट देवी शिष्या की अट्टालिका की ओर गया था, तो कदाचित उसका इस सम्बन्ध में उससे कुछ पूछना भी मुख्य प्रयोजन रहा हो। परन्तु फिर द्वार तक जाकर भी वापस क्यों लौट आया ? वह सोचने लगा—'यह सब कुछ पूछना, केवल मेरी संकीर्ण मनोवृत्ति का परिचायक ही तो होगा।'

और आज उसके कुछ समय पश्चात् ही जब स्वयं देवी शिष्या चलकर उसके आवास पर आई तो वह प्रत्यक्ष में उसका कोई स्पष्ट कारण नहीं समझ सका। केवल संकेत में ही जैसे कुछ समझने का प्रयत्न किया। वास्तव में, उसे यही विदित नहीं हो सका कि उसे देवी रोहिणी ने भेजा था। उसने क्यों भेजा था, भला फिर यह प्रश्न ही उसके मस्तिष्क में कैसे उठ पाता ? तो भी वह जैसे कुछ प्रोत्साहित हो उठा। किन्तु, उसके मस्तिष्क पर आचार्य वर्षकार के साथ हुआ वार्तालाप और फिर सिंह सेनापति के सम्मुख कही गई पद-त्याग की बात पूर्ववत ही छाई रही। पहली बात को लेकर यदि वह दुविधा ग्रस्त था तो दूसरी का ध्यान कर वह अधिकाधिक आत्मग्लानि का सा अनुभव कर रहा था।

और आचार्य वर्षकार ने श्रेष्ठीपुत्र कप्पिन से क्या यह सब कुछ किसी विनोद-वश कहलवाया था, या फिर किसी अन्य प्रयोजन से। चूंकि यह बात केवल श्रेष्ठीपुत्र कप्पिन और उन्हीं के मध्य रही, अतः वह भी केवल रहस्य बन कर रह गई, और वह भी एक ऐसी रहस्यपूर्ण कि उसका स्वयं कप्पिन को भी कुछ पता न चल सका। अतः उस रहस्य के सम्बन्ध में यदि किसी को कुछ पता हो सकता था, तो वह स्वयं आचार्य वर्षकार ही थे।

वास्तव में, राज-पुरोहित-कुलोत्पन एवं उदीयमान मगध साम्राज्य के भूतपूर्व महामात्य आचार्य वर्षकार को वैशाली आए इस समय तक कोई तीन वर्ष ही बीते होगे। परन्तु इस अल्पावधि में भी विनिश्चय अमात्य रूप में उन्होंने जिस तत्परता, बुद्धि कौशल एवं उत्कृष्ट न्याय-प्रियता का सहज परिचय दे डाला था, उसके फलस्वरूप वह न केवल शासक वर्ग के अभिन्न अंग बन गये थे, वरन् गण शासन, विशेष रूप में न्याय पीठिका के लिए जैसे अनिवार्य भी बन चुके थे। उनका एवं उनकी न्याय-प्रियता का इस समय सर्वत्र प्रभाव था एवं उनकी दण्ड व्यवस्थाओं के सम्मुख जैसे सभी नत-मस्तक थे। वैशाली में वह केवल एकाकी आए थे, और जिस दिन वह राजगृह से यहाँ पहुँचे थे, उनके मुख पर घोर निराशा का भाव व्याप्त था; मानों मगधराज अजातशत्रु के दुर्व्यवहार ने उनके गौर, प्रखर एवं ओजपूर्ण व्यक्तित्व पर खिन्नता की एक स्थायी छाप छोड दी थी। उनका हृदय भी तब अत्यन्त व्यथित प्रतीत हुआ, और उस समय उनके मुख से जो भी शब्द निकलता, उसे सुन यही प्रतीत होता कि जैसे उनके अन्तर की भारी पीड़ा साकार रूप ग्रहण कर सभी के सम्मुख उपस्थित होने को मचल उठी हो। और, जब कुछ दूरदर्शी वैशालिकों ने उनके प्रति संदेह प्रकट कर उन्हें आश्रय दिये जाने का विरोध किया तो इसे उन्होने सर्वथा स्वाभाविक कह केवल अपने भाग्य का ही दोष बताया। उन्हे वैशाली में रहने की अनुमति दी जाए अथवा नही, वैशाली के गणमान्य व्यक्तियो एवं कर्णधारों में इस प्रसग को लेकर कई दिनों तक तीव्र वाद-विवाद चलता रहा था। उनके आगमन का विरोध करने वालो में स्वयं आचार्य शिष्य तो था ही, सामन्त अखण्ड देव ने भी प्रश्रय दिए जाने का घोर विरोध किया था। सामन्त अखण्डदेव ने तो यहाँ तक कह दिया था—'यदि इस छद्म वेषी को वैशाली में स्थान दिया गया तो मै न केवल महाबलाधिकृत का पद छोड़ दूंगा, वरन् वैशाली से भी चला जाऊंगा।'

परन्तु अंततः आचार्य वर्षकार का निरंतर अनुनय एव स्थिति के स्पष्टीकरण का प्रयास सामन्त अखण्डदेव तथा उनके समर्थकों को भी परिवर्तित करने मे सफल हो गया। और फिर, इसके फलस्वरूप जब गण-शासकों ने उन्हे विनिश्चय अमात्य का गौरवपूर्ण पद प्रदान किया तो उन्होने उस समय कुछ ऐसा भाव प्रकट किया, जैसे वह उन सभी वैशालिकों से सदा-पदा के लिए उपकृत हो उठे हों।

और, सत्तर वर्ष की इस वृद्धावस्था में भी जब केवल अपने पद भार वहन तक सीमित न रह, उन्होने वंशाली मे एक न्याय-विद्यापीठ की भी स्थापना की तो वैशालिक उनकी कार्य क्षमता को देख मुग्ध हो उठे। प्रातः बेला में वह शिष्य रूप में आए वज्जिकमारों को मध्याह्न तक न्याय शास्त्र की दीक्षा देते और फिर न्याय पीठिका की

ओर प्रस्थान कर उठते। ग्रीष्मकाल की मध्याह्न बेला में जब और सभी अपने विश्राम कक्षों में चैन से निद्राव्यस्त होते, वह पीठिका मे बैठे अभियोगों की सुनवाई करते। साथ ही, उन्हें तत्परता से निपटाने का प्रयत्न भी करते। उनकी न्याय तुला से उतरे प्राय: सभी निर्णय अचूक होते। अतएव, दोषी दण्ड पाकर भी उनका आदर किए बिना न रहता; और निर्दोष अपने को दोष-मुक्त हुआ सुन भला हर्षित हुए बिना कैसे रह जाता? अत: ऐसे निरपेक्ष एवं दक्ष विनिश्चय अमात्य का शिष्य बनना प्रत्येक सामन्त एवं श्रेष्ठीपुत्र अपना केवल परम सौभाग्य ही समझता। सभी की उनमें प्रगाढ़ आस्था थी और सभी उनकी कृपा कोर पाने को लालायित थे। अत: छात्रों में एक स्वाभाविक प्रतिस्पर्द्धा थी। ऐसा लगता, जैसे उनकी दृष्टि में चढने के लिए जैसे सभी सामन्त एवं श्रेष्ठीपुत्रों में कोई भीषण संघर्ष छिड़ा हो। आचार्य वर्षकार ने भी कभी उन्हें हतोत्साहित नहीं किया। शिष्यगण एक-से-एक बढ़कर प्रश्न अथवा तर्क खोज-कर लाते, जिज्ञासा रूप में आचार्य पाद के सम्मुख प्रस्तुत करते और वह भी जैसे पूरे मनोयोग से उनकी इस ज्ञान क्षुधा को सन्तुष्ट करने का प्रयत्न करते।

उन्हीं के प्रासाद के पृष्ठ भाग मे एक विशाल वट वृक्ष खड़ा था। उसकी लम्बी शाखा-प्रशाखाओं की सघन छाया में नित्य ही वैशाली के कुछ भी नहीं तो कोई दो सौ कुमार विद्यार्जन के लिए एकत्र होते और आचार्य वर्षकार जब अपने शिष्यों के इस लहलहाते समुदाय पर विहंगम दृष्टि डालते तो उनका वक्ष गर्व से फूल उठता। किन्तु आज जब वह आचार्य शिष्य से वार्ता कर लौटे तो उस समय अपनी इस वृहत शिष्य मण्डली को देख उन्होंने गर्व का अनुभव नही किया, वरन् उनकी रक्त वाहि-नियों में उत्साह का सचार हो उठा, और उनके नेत्र आशा से दीप्त हो उठे। सभी को सम्बोधित कर वह बोले—"आयुष्मानो, प्रतिभावान व्रात्य कुमारो, और···मेरे प्रिय शिष्यो! मुझे आज आप सभी के सम्मुख एक महत्त्वपूर्ण घोषणा करनी है!"

सभी शिष्य उत्सुक दृष्टि से उनकी ओर देख उठे।

आचार्य वर्षकार तनिक रुक फिर बोले—"कुलभूषण कुमारो, मनीषियों की ऐसी धारणा है कि ज्ञान का कोई अन्त नही, वह तो अनन्त है और उसकी गहराई भी अथाह है, तथापि इस अल्पावधि में आप सभी ने अपनी प्रगाढ़ रुचि दिखा न्याय शास्त्र का जो अध्ययन किया है और पूर्ण तन्मयता से उसके गूढ़ मर्म को समझने का प्रयत्न किया है, उसे देख मैं तो सचमुच चकित रह गया हूँ। मगध की राजनगरी में पूरे चालीस वर्ष रहने के पश्चात् भी मुझे जो यश नही मिल सका, वह मुझे यहाँ केवल तीन वर्ष की अवधि में ही प्राप्त हो सका, भला इससे बढ़कर मेरे लिए और क्या सौभाग्य होगा?"

यह कह कर वह फिर तनिक रुक रहे। सभी कुमार उनकी ओर अत्यधिक उत्सुकता से देखते रहे। कारण, उनके आचार्य उनसे क्या कुछ कह रहे थे, वे उसे अभी तक पूर्णत: समझने में असमर्थ थे। आचार्य वर्षकार तनिक विश्राम के पश्चात् फिर बोले—"मेधावी कुमारो, मुझे गर्व है कि इस अकिंचन वृद्ध ब्राह्मण को आप सभी के आचार्यत्व का सौभाग्य मिला, और वैशाली के उदार सामन्तों एवं श्रेष्ठीजनों की उदा-रता की तो मैं जितनी प्रशंसा करूँ, वह थोड़ी ही है। तथागत ने एक दिन जब उन्हें एक साथ समग्र रूप में आते देख अपने प्रमुख शिष्य आनन्द से जो यह कहा था—

'आयुष्मान आनन्द, यदि तूने कभी देवों को एक साथ चलते न देखा हो तो आज इस ओर आते इन लिच्छिवियो के समूह को देख ले, तो उन्होने यह सर्वथा उचित ही बात कही थी। तो, देव-पुत्रो, आज मैं आप सभी से एक निवेदन किया चाहता हूँ और वह निवेदन यह है कि···।

इसी मध्य एक शिष्य सहसा उच्च कण्ठ स्वर में कह उठा—"आर्यवर, निवेदन कह आप हमें लज्जित न करें, हम तो आपके आदेश के आकांक्षी हैं।"

शिष्य की इस बात को सुन आचार्य वर्षकार के भाषण का मुख्य प्रवाह जैसे मध्य ही में रुक गया। उन्होने उस कुमार की ओर देख, कहा—"आयुष्मान सुव्रत, तुम्हारा यह सौजन्य तो निस्सन्देह प्रशंसनीय है, भला यह शील तुमने कहाँ से पाया ?"

कुमार सुव्रत को लगा, आचार्य कदाचित मेरे इस हस्तक्षेप पर क्रुद्ध हो गए हैं, अतः वह भयभीत हो उठा। कतिपय अन्य कुमारो ने भी यह उसका मात्र उतावलापन समझा, अतः वे हँस पड़े। उनकी हँसी देख, कुमार सुव्रत यदि क्षुब्ध हो उठता तो स्वाभाविक ही था। अतः वह आक्रोशपूर्ण दृष्टि से उन हंसते हुए कुमारों की ओर देख उठा, पर बोला कुछ नही। यह दृश्य देख आचार्य वर्षकार भी हंसे बिना नहीं रहे। फिर बोले—"आयुष्मान सुव्रत, कदाचित तुम्हें यह भ्रम हुआ है कि मैं तुम पर कुपित हुआ हूँ। आयुष्मान, तुमने तो वास्तव में ही वह अपने उच्च कुलोचित बात कही थी ?"

आचार्य वर्षकार की यह बात एक अन्य कुमार को जैसे असह्य हो उठी। वह तत्परता से साक्रोश बोल उठा—"आचार्य पाद, सुव्रत को क्या आप एक उच्च कुल जन्मा कुमार कह रहे हैं, वह तो···।"

अभी वह कुमार कुछ कह ही रहा था कि इसी मध्य सुव्रत का एक अनन्य मित्र सावेश बोल उठा—"क्यो मित्र कीर्तिरथ, क्या तुम्हें भी सुव्रत के कुलीन होने पर कोई आपत्ति हो सकती है, यह तो···।"

यह बात आगे बढ ही रही थी कि आचार्य वर्षकार के एक उच्च ठहाके से वह सहसा वहीं रुक रही। तत्पश्चात्, वह बोले—"आयुष्मानो, यह तो सचमुच बड़े हर्ष की बात है कि वैशाली के कुमार अपने कुल गौरव के प्रति इतने सजग हैं। किसी ने यह उचित ही कहा है कि जिसे अपने कुल पर अभिमान न हो, वह नर नर नहीं, वरन् पशु समान है; परन्तु कुमारो, इस वाद-विवाद के लिए यह समय उपयुक्त नहीं। हाँ तो आयुष्मानो, मैं जो कुछ कहना चाहता था, वह कोई दूसरी ही महत्त्वपूर्ण बात थी। वास्तव में मैं अब इतना वृद्ध हो चुका हूँ कि विनिश्चय अमात्य के इस गुरु-दायित्व का निर्वाह करने में असमर्थ हूँ और जब तक मैं इस गौरवपूर्ण पद से अवकाश लूं, मेरी प्रबल इच्छा है कि आप ही में से कोई कुमार इस महत्त्वपूर्ण पद को सुशोभित करे; यह मेरे लिए सौभाग्य का और साथ ही गर्व का विषय होगा, और मैं निश्चय ही अपने को सार्थक हुआ समझूंगा।"

आचार्य वर्षकार की अप्रत्याशित घोषणा केवल कुमारों तक ही सीमित नहीं रह गई, वरन् देखते-देखते नगर के पूरे आकार-प्रकार में फैल उठी। और फिर, बात की बात में अनेक गण-मान्य नागरिकों के रथ उनके प्रासाद की ओर दौड़ लिए।

सामन्त कार्तिकेय इस समय तक पर्याप्त वृद्ध हो चुके थे, और गत कई मास से पांडु रोग से पीडित थे, तो भी वह इस सवाद को सुन अपनी शय्या पर लेटे न रह सके; वह तुरन्त शिविकारूढ़ हो आचार्य वर्षकार के प्रासाद की ओर प्रस्थान कर उठे।

विनिश्चय अमात्य आचार्य वर्षकार के प्रासाद का मुख्य प्रकोष्ठ इस समय एक नहीं अनेक सामान्य एव प्रमुख, प्रौढ तथा वृद्ध नागरिको से युक्त था, और उन सभी ने जब वृद्ध सामन्त को रुग्णावस्था मे वहा आए देखा तो सभी जैसे एक स्वर में बोल उठे—"क्यो आर्य, क्या अब भी आपके मन मे पद से अवकाश ग्रहण करने की कोई इच्छा शेष रह सकेगी ? अब तो आपको अपने इस निर्णय पर पुनर्विचार करना ही होगा।"

इन सभी के अनुरोध को सुन आचार्य वर्षकार जैसे भारी दुविधा मे पड़ गए; बोले कुछ नही। सभी उपस्थितजन इस समय पीठिकाओं पर आसीन थे, और वह उनके सम्मुख विनम्रता की साकार मूर्ति बने खड़े हुए थे। सामन्त कार्तिकेय ने जब उनसे आसन ग्रहण करने का अनुरोध किया तो वह नत मस्तक हो सविनय बोले—"आर्यवर, मेरे लिए आज का यह दिन सभी वैशालिकों के प्रति कृतज्ञता प्रकट करने का दिन है। उनकी सेवा सत्कार के लिए इस सेवक के पास और कुछ तो है नही, अतः उनके सम्मुख नत मस्तक हो खड़े रहना ही मुझे शोभा देता है, आर्यवर ! मुझे इसमें सचमुच अवर्णनीय आनन्द का अनुभव हो रहा है।"

वृद्ध आचार्य के मुख से यह सुन सभी उपस्थित जन अभिभूत कण्ठ से 'धन्य-धन्य' कह उठे। उनके इस सौजन्य की वे सभी मन-ही-मन सराहना करते रह गए। सामन्त कार्तिकेय पीठिका से उठ, मस्तक नवाते हुए बोले—"आर्यवर, आपकी यही तो वह सरलता है, जिसने आपके विरोधियो के हृदयों को भी जीत लिया है। आज वे सभी आपके प्रति कितने कृतज्ञ हैं, अब यह बताने की कोई आवश्यकता नही रह गई।"

आचार्य वर्षकार इस पर जैसे सकोच का अनुभव कर उठे; सप्रयास बोले—"आर्यवर, यह मेरा सौभाग्य ही था कि आप सभी ने मुझ पर उस दिन कृपा की और मै जीवन मे फिर से अपना शीर्ष ऊँचा कर सका, अन्यथा मगधराज ने तो।"

यह कहते-कहते उनका कण्ठ मानो अवरुद्ध-सा हो गया। सामन्त कार्तिकेय बोले—"आर्यवर, अब उसे भुला देना ही अच्छा है। यह सब कुछ कह आप तो हमें सचमुच लज्जित कर रहे हैं। और भला वह आप पर कृपा ही क्या थी, वह तो वैशालिकों ने अपने कर्तव्य का पालन किया था। आर्यवर, इस समय हम सभी का यह अनुरोध है कि आप अभी पद से अवकाश लेने की बात मन में न लाएँ।"

और इस अनुरोध के सम्मुख आचार्य वर्षकार जैसे फिर निरुत्तर हो गए।

उधर, सदेशवाहक कपिल ने जब गणाध्यक्ष सिंह को आचार्य वर्षकार की इस घोषणा का समाचार सुनाया तो वह स्तब्ध रह गए। और गणसवाहक सामन्त मृत्युजय ने जब यह सवाद सुना तो उन्हे तो जैसे अपने कानों पर ही विश्वास नही हो सका। किन्तु सुरक्षा प्रधान आचार्य शिष्य ने जब यह सब कुछ सुना, और साथ ही यह भी कि विनिश्चय अमात्य की इस घोषणा को सुन वैशाली के अनेक गणमान्य नागरिक उनके प्रासाद की ओर भाग लिए हैं, तो वह हंसे बिना नही रहा; अपने पर नहीं वरन् वैशालिकों की अबोधता पर। किस अबोधता पर ? अप्रत्यक्ष में वह अपने ही से

यह प्रश्न पूछ उठा, और फिर शय्या पर लेटे-लेटे ही वह इस प्रश्न पर मानों पूरे मनो योग से सोचता रहा। उसका श्वास फूल उठा तथा कण्ठ सूख गया, ओष्ठ भी शुष्क हो उठे, अतः कुछ जल पीने की इच्छा हुई; वह 'मंजरिका-मंजरिका' पुकार उठा। और जब मंजरिका कक्ष में दौड़ी आई तो बोला—"क्यो देवी शिष्या, क्या तुम कुछ थोड़ा सा प्रमाण नहीं दे सकती ?"

मंजरिका यह सुन पहले तो विस्मित हो उठी, किन्तु अगले क्षण ही एक ठहका दे हंस पड़ी। बोली—"स्वामी वह तो कभी की गई, परन्तु आपने तो मुझे पुकारा था।"

आचार्य शिष्य ने जैसे ध्यान मे उसकी ओर देखा, साथ ही वह अपनी भूल पर भी विचारता रहा। परन्तु उस पर वह इस समय न तो हँसा ही और न लज्जित ही हुआ, वरन् उसकी मुख मुद्रा गंभीर हो उठी, और इस बार जैसे सावधान हो मस्तिष्क पर कुछ जोर देता हुआ सा बोला—"देवी, बड़ी प्यास लगी है।"

उनतीस

एक-एक कर जब सभी प्रकोष्ठ से चले गए, और अंत में विनिश्चय अमात्य वयोवृद्ध सामन्त कार्तिकेय को द्वार मण्डप से विदा कर अपने विश्राम कक्ष में आए तो वह कंधे पर से उत्तरीय उतारते हुए, सहसा एक उच्च ठहाका दे, हँस पडे। उस हँसी के प्रवाह में ही जैसे स्वतः उनके मुख से निकल गया—"मूर्ख कहीं के।"

कुमार सुव्रत न जाने कब से कक्ष के एक कोने में चुपचाप खडा, आचार्य वर्षकार के आने की प्रतीक्षा कर रहा था। उसने जब विनिश्चय अमात्य का ठहाका और उसी के साथ उनके मुख से निकले शब्दों को सुना तो उसने समझा, आचार्य ने उसे देख, उसी के सम्बन्ध में यह सब कुछ कहा है, अतः वह भय से सहम गया। किन्तु जब उसने दबे पाँव कक्ष से भाग निकलने का प्रयास किया तो उसकी पग आहट को सुन आचार्य चौंक उठे; और जब तक वह अपनी किसी भूल पर कुछ सोचें, उससे पूर्व ही उनके सारे गात में एक सिहरन-सी दौड गई। परन्तु दूसरे ही क्षण वह अपने को सम्हाल पहले से भी अधिक उच्च ठहाका दे हँस उठे। साथ ही, सुव्रत को जोर से पुकार, बोले—"क्यों आयुष्मान, अपने आचार्य के आवास मे भला इतने संकोच की क्या आवश्यकता; आ...ओ—इधर आओ, आयुष्मान!"

सुव्रत भी रुक गया, केवल रुक ही नही गया, वरन् वापस लौट, आचार्य के चरणों मे लेट गया, फिर बोला—"आचार्यपाद, आज आपको संभाषण के मध्य टोकने की जो धृष्टता कर बैठा, उस पर मैं सचमुच अत्यंत लज्जा और भारी आत्म-ग्लानि का अनुभव कर रहा हूँ, आर्यवर मैं क्षमा की याचना करता हूँ।"

यह सुन आचार्य वर्षकार के मुख पर एक कुटिल मुस्कान फैल गई, और नेत्रों में एक रहस्यपूर्ण भाव आ अटका। अपने ही मे कहने लगे—'कुमार सुव्रत, तू जैसी क्षमा की याचना करने आया है, वह मुझे बताने की आवश्यकता नही।' परन्तु, साथ ही वह प्रगट में प्रगाढ आत्मीयता का सा भाव दिखाते हुए कह उठे—"आयुष्मान, मैं कुपित हुआ, यह तुम्हारा केवल भ्रम है; तुम्हारे उस शील पर मैं तो सचमुच विमुग्ध हो उठा था। और किसी के मस्तिष्क में तो वह बात आई तक भी नहीं थी। तुम्हारी इस आशु बुद्धि को देख, मेरी तो यही धारणा बन गयी है कि विनिश्चय अमात्य के गौरवपूर्ण पद के योग्य यदि इस वैशाली में कोई है तो वह सुव्रत ही है।"

कुमार सुव्रत को लगा, जैसे उसे उसका अभीष्ट मिल गया। उसका हृदय गुदगुदा उठा तथा सारा अन्तर उल्लासमय हो गया। आचार्य के चरणों पर अपने शीर्ष को रगड़ते हुए गद्गद कण्ठ स्वर से बोला—"आचार्य पाद, यह सब आपके श्री चरणों

की रज का ही प्रताप है, अन्यथा यह अकिंचन भी भला किसी योग्य था ?"

आचार्य वर्षकार ने इस बार उसे ऊपर उठाते हुए कहा—"यह सब तुम्हारा उच्च कुलोचित सौजन्य है आयुष्मान, और तुम्हें यही शोभा भी देता है।"

सुव्रत का मन प्रफुल्लित हो उठा।

उसे गए अभी कुछ समय ही बीता होगा कि संदेशवाहक ने कक्ष में प्रवेश कर निवेदन किया—"आर्य, आस्थानागार में कुमार कीर्तिरथ आया है, और वह आपके दर्शन किया चाहता है।"

इस संवाद को सुन विनिश्चय आमात्य को एक सुखद अनुभूति हो रही। मन-ही-मन उल्लसित हो उठे। परन्तु प्रकट में कुछ उपेक्षा का सा भाव दिखाते हुए बोले—"आयुष्मान सुनन्द, मैंने पद से अवकाश लेने की इच्छा क्या प्रकट की, यह तो अब उससे भी भारी कार्य ऊपर आ पड़ा। कह दो आयुष्मान उससे भी कि वह यहीं आ जाए ... !"

संदेशवाहक के जाने के पश्चात् आचार्य विचार-रिक्त हुए से शय्या पर लेटे रहे। फिर भी एक बात जैसे बलात् उनके मस्तिष्क से आ टकराई। वह उसी पर अभी कुछ सोच ही रहे थे कि कुमार कीर्तिरथ ने कक्ष में प्रवेश किया। उसे देख वह तत्परता से शय्या पर उठ बैठे। साथ ही बोले—"आओ पुत्रवर, आओ ! इस समय तो मैं सचमुच तुम्हारी ही प्रतीक्षा कर रहा था कि संयोग से सदेशवाहक ने तुम्हारे आगमन की सूचना आकर दी; मन प्रसन्न हो उठा !"

कीर्तिरथ नत मस्तक हो सविनय बोला—" आर्यवर, यह मेरा परम सौभाग्य है; आर्य आज्ञा करें !"

यह सुन आचार्य जैसे शय्या पर बैठे न रह सके। उससे नीचे उतर, कीर्तिरथ के समीप आ, उसके कंधे पर अपना हाथ रखते हुए गद्‌गद कण्ठ से बोले—"आयुष्मान, मैं तुम्हारे कुल से कितना उपकृत हुआ हूँ भला यह किसी से छिपा है; और आज तो सामन्त कार्तिकेय ने मुझे जैसे अत्यन्त भारी ऋण के बोझ से ही लाद दिया है, और इस समय मैं पड़ा-पड़ा यही सोच रहा था कि उससे किस प्रकार उऋण हुआ जाए ?"

कुमार कीर्तिरथ का नत मस्तक और नत हो गया। सविनय बोला—"आचार्यपाद, वह तो पितृवर का दायित्व था, आप विनिश्चय अमात्य सदृश महत्त्वपूर्ण पद को श्रीहीन न करें, उनकी यही आकांक्षा है।"

आचार्य कुछ सोचते हुए बोले—"किन्तु आयुष्मान, श्रद्धेय आर्य की यह चिंता व्यर्थ है, क्यों कि वैशाली में इस समय एक से एक योग्य तरुण है और कोई भी इस पद के भार को वहन करने में समर्थ है। आयुष्मान सुव्रत ही को लो न, योग्यता की दृष्टि से भला उसमे क्या कमी है ?"

यह कह आचार्य वर्षकार ने तनिक रुक कीर्तिरथ की ओर देखा। यूँ, कीर्तिरथ और सुव्रत मे परस्पर कोई वैर नहीं था, वरन् मैत्री ही थी। कीर्तिरथ यदि सामन्त कार्तिकेय का पुत्र था तो सुव्रत सामन्त वीरभद्र का। सामन्त वीरभद्र और कार्तिकेय के मध्य की यह मैत्री एक प्रकार से कुल परम्परा का अंग थी, और दोनों कुलों के मध्य यह घनिष्ठ सम्बन्ध न जाने कितनी पीढियों से अनवरत रूप में चला आ रहा

था। सामन्त वीरभद्र का कोई दो वर्ष पूर्व स्वर्गवास हो चुका था, और तब से कुमार सुव्रत की संरक्षकता का भार सामन्त कार्तिकेय के कंधो पर ही था। और, कोई तीन वर्ष पूर्व जब आचार्य वर्षकार राजगृह से तिरस्कृत हो वैशाली में आए थे, तो इन दोनों मित्र-सामन्तो ने ही उनको आश्रय दिये जाने का प्रबल समर्थन किया था। इस कारण से नही कि उनका आचार्य वर्षकार से कभी किसी प्रकार का सम्बन्ध रहा था, वरन् इसलिए कि शरणागत को प्रश्रय देना वैशाली की एक पुनीत परम्परा थी, और उसका पालन अनिवार्य था। इन दोनों कुलों के घनिष्ठ सम्बन्धों की बात आचार्य वर्षकार से भी नहीं छिपी थी। अत. उन्हे आश्चर्य था कि विद्यापीठ में जब उन्होने कुमार सुव्रत के शील की प्रशंसा की थी तो वह कुमार कीर्तिरथ को क्यों न सहन हो सकी, केवल असह्य ही नहीं हुई, वरन् उसने सुव्रत के कुल पर भी कोई व्यंग किया था। वास्तव में कुमार कीर्तिरथ ने उस समय आवेशवश जो कुछ कह दिया था, उसे सुन सुव्रत तो चकित रह ही गया था। स्वय कीर्तिरथ को भी बाद मे अपने पर कोई कम आश्चर्य नही हुआ था। उसे भय हुआ कि कहीं आचार्य किसी प्रसंगवश यह बात उसके पिता से न कह दें, अतः उससे पूर्व ही वह उनसे क्षमा की याचना करने चला आया था। फिर भी, न जाने क्यो, इस समय आचार्य के मुख से सुव्रत की पुनः यह प्रशसा सुन वह उसे सहन न कर सका। आचार्य वर्षकार भी जैसे उसके मन के भाव को ताड गए, बोले—"आयुष्मान्, यूँ तुम ही उससे क्या कम योग्य हो, परन्तु उसमें योग्यता से भी अधिक एक स्वाभाविक गुण है, और वह है महत्त्वाकाक्षा का, फिर वह महत्त्वाकांक्षा को स्पष्ट प्रकट न कर छिपे-छिपे उसको फलीभूत करने की कला में भी दक्ष प्रतीत होता है।"

कुमार कीर्तिरथ ने इस बार अपनी दृष्टि ऊपर उठा, तत्परता के साथ कहा —"किन्तु आर्य, वैशाली में तो महत्त्वाकाँक्षा को एक दुर्गुण समझ, हेय दृष्टि से देखा जाता है।"

आचार्य वर्षकार तनिक हँस, बोले—"देखा जाता है नही वरन् देखा जाता था आयुष्मान, किन्तु तब से तो सदानीरा का न जाने कितना जल गगा की पावनधारा में पहुँच चुका है। आयुष्मान, वैशाली सदा ही से नूतनता की प्रेमी रही है, और वैशालिको ने भी सदैव जो नूतन है, उसका स्वागत कर, उसे अपनाया है। केवल अपनाया ही नही, वरन् नई सामाजिक मान्यताओ को भी जन्म दिया है, और इन सामाजिक मान्यताओं के ही फलस्वरूप यदि एक ओर गणराज्य के स्वरूप का विस्तार हुआ है तो दूसरी ओर उसकी कुछ परम्पराओं में भी परिवर्तन आया है, और इस परिवर्तन की प्रक्रिया मे महत्त्वाकाँक्षा मात्र सजगता बन कर रह गई है। और, सजग होने में तो कोई बुराई नही. आयुष्मान।"

कीर्तिरथ उत्तर में कुछ नहीं कह सका। वह केवल यही सोच कर रह गया कि आचार्य प्रकांड विद्वान है अतः उन्होने जो कुछ सोचा समझा है, वह उचित ही होगा। वह कक्ष से बाहर निकल, जब खुले वातावरण में आया, और उसने महत्त्वाकाँक्षा वाली बात पर सोचा तो उसे भी उसमें कोई दोष नही दीखा, और उसमें जब कोई दोष नहीं दीखा तो वह सोचने लगा—"यदि सुव्रत विनिश्चय अमात्य के पद के लिए महत्त्वाकाँक्षा कर सकता है तो फिर भला मुझ ही में ऐसी क्या कमी है, जो मैं उसे पाने के

लिए इच्छा नहीं कर सकता ?"

अब यदि कहीं कीर्तिरथ को सुव्रत दूर से भी दिखाई दे जाता तो वह उस मार्ग से हट दूसरी दिशा में चल पड़ता। एक दो बार सुव्रत ने चाहा भी कि वह कीर्तिरथ को टोक, उसमे उसके इस व्यवहार का कारण पूछे, और एक बार तो उसने पूछा भी परन्तु कीर्तिरथ ने इस सम्बन्ध मे अपना केवल उपेक्षा भाव ही दिखाया। प्रकट में तो कुछ नही कहा, परन्तु मन-ही-मन अपने से बोला—"यह अवश्य ही इसका कोई नीति-कौशल है, अन्यथा वह मित्रता के लिए इतना उत्सुक कदापि न होता।"

एक दिन क्या हुआ, सुव्रत गोधूलि बेला में अपने अन्य मित्रों के साथ महावन में आखेट कर नगर की ओर लौट रहा था। विनिश्चय अमात्य भी नित्य इस बेला में नगर से निकल पुष्करिणी की ओर घूमने निकल जाया करते थे। परन्तु उस दिन वह पुष्करिणी की ओर न जा कूटागारशाला की दिशा में चल दिए। सुव्रत एवं उसके मित्रों ने वन्य शूकर का आखेट किया था, अतः वे सभी अत्यन्त प्रफुल्ल थे। आचार्य वर्षकार ने जब उन्हें इस प्रकार आते देखा तो वह भी उसी दिशा में चल पड़े। जब वे सभी पास आए तो आचार्य वर्षकार ने उन्हें टोक पूछा—"क्यों कुमारो, आज यह आखेट किस के शौर्य का परिचायक है ?"

सुव्रत समेत सभी कुमार एक स्वर में सोल्लास बोल उठे—"आचार्य पाद हम सभी ने मिलकर इसे मारा है।"

आचार्य वर्षकार इस पर जैसे साश्चर्य बोले—"सभी ने मिलकर केवल एक शूकर का ही आखेट किया, तुम्हें तो आज कई शूकर लाने चाहिए थे।"

यह सुन सभी सोत्साह कह उठे—"अच्छा आचार्य पाद, कल हम कई शूकर लाएंगे, और आपको दिखाएंगे भी।"

आचार्य वर्षकार उनका यह उत्साह देख जैसे अत्यन्त प्रसन्न हो उठे। बोले—"अच्छा तो यह बात है !"

इसके पश्चात् जब वे सभी आगे निकल गए तो आचार्य वर्षकार को जैसे सहसा कुछ स्मरण हो आया। उन्होंने सुव्रत के एक अन्य मित्र जयद्रथ को पुकार, अपनी ओर आने का संकेत किया। जयद्रथ भी सोत्साह उनकी ओर दौड़ लिया। समीप आने पर आचार्य ने उसके कानों के निकट अपना मुंह ला, कुछ कहा। तत्पश्चात्, जब वह सोल्लास कूदता हुआ अपनी मित्र मण्डली में लौटा तो सुव्रत ने उत्सुकता से पूछा—"क्यों मित्र जयद्रथ आचार्य पाद ने तुम से ऐसा क्या कहा, जो इतने प्रसन्न हो उठे।"

जयद्रथ उसी प्रकार उल्लसित रह, बोला—"मित्रवर, आचार्य पाद भला और क्या कहते, यही कह रहे थे कि तुम सभी बड़े बलवान हो।"

पर सुव्रत को जयद्रथ की इस बात पर जैसे कुछ संदेह हुआ। वह सोचने लगा, आचार्य पाद से इसने अवश्य ही यह कहा होगा कि यह शूकर मैंने मारा है और फिर उन्होने उससे कहा होगा—'जयद्रथ तुम सचमुच बड़े बलवान हो।' केवल सुव्रत ने ही ऐसा नहीं सोचा वरन् अन्य कुमारो ने भी यही अनुमान लगाया, परन्तु इस समय किसी ने उससे कुछ कहा नही, बस मन-ही-मन कुछ सोचकर रह गए; सोचा कि जयद्रथ ने अवश्य ही वैशाली के प्रतिकूल आचरण किया है।

तीस

देवी आम्रपाली स्तूप निर्माण के कार्य का प्रगति और उसके प्रति आबाल-वृद्ध वैशा लिकों की प्रगाढ रुचि को देख अत्यन्त प्रसन्न थी; आचार्य शिष्य भी प्रसन्न था परन्तु एक ऐसा दृश्य था, जिसे वह अपनी समस्त शक्ति लगा भूलने का प्रयास कर रह था ।

श्रेष्ठीपुत्र कप्पिन का मुक्ताहार, उसकी वह भाषा और फिर प्रत्युतर मे देव शिष्या की वह मुस्कान; उस सारे दृश्य का वह एक क्षण को भी तो ध्यान नही किय चाहता था, पर जैसे वह स्वयं उसके नेत्रों में उभर, स्थिर हो उठता । और यदि कभ संयोग से वह दृश्य स्वयं उपस्थित होना भूल जाता तो तब आचार्य शिष्य न जाने क्य कुछ खोया हुआ सा अनुभव कर व्याकुल हो उठता। तब वह एकान्त टटोलता-सा, कभ इधर तो कभी उधर जाता, और इस सारी अवधि ही वह केवल यही निश्चय करत रहता कि अब देवी शिष्या की अट्टालिका की ओर कभी भी नही जाऊँगा । पर सध्या समाज का समय जैसे-जैसे निकट आता चलता, तो उसका अश्व जैसे भटकता-स कभी यहाँ तो कभी वहाँ जाता और फिर अन्ततः उसी के द्वार के सम्मुख पहुँच, खड़ हो रहता । फिर, उस द्वार को देख वह मन-ही-मन कहता—'चलो कोई बात नही; आज तो अब आ ही गया, पर कल नही आऊँगा ।' और अगले दिन जब वह कल आता तो वह जैसे अपनी ही किसी दुर्बलता पर मन-ही-मन झल्ला उठता, झल्लाता रहता,और उसी के साथ-साथ उसका अश्व भी अट्टालिका की ओर ही बढता जाता । और अन्ततः जब वह द्वार के सम्मुख पहुँच रहता तो अपनी आज की इस पराजय पर, अथवा अपनी किसी अन्य असमर्थता पर, मन-ही-मन स्वीकारोक्ति की खिन्न हँसी हंस रहता; कभी-कभी एक उच्च ठहाका दे वह अपनी असमर्थता पर हंस भी उठता । किन्तु अगले क्षण ही गम्भीर हो, कहता—'देवी शिष्या, मैं तुम्हे भूल जाऊँ, इसीलिए तुम से घृणा किया चाहता हूँ । क्या तुम अपने से घृणा कराने में मेरी सहायता नही कर सकतीं ?

यह बात मस्तिष्क में आते ही उसे लगता जैसे उसे अनायास ही कोई बड़ सहारा मिल गया । सोचता—'देवी शिष्या से आज बस यही बात तो कहने आया हूँ ।

और इसके उत्तर में देवी शिष्या उसी प्रकार मुस्करा देती, जैसे उस दिन संध्या समाज में वह श्रेष्ठीपुत्र कप्पिन की ओर देख, अनुग्रह का भाव प्रकट करती हुई मुस्करा उठी थी । यह देख, उसका मुख आवश से लाल हो उठता, पर फिर भी वह वापस न लौट, सावेश ही समाज स्थल की ओर बढ़ लेता, यह सोचते हुए कि आज इसी विक्षोभ के साथ उसका नत्य देखना है. जिससे उसे कम से कम यह तो विदित हो जाए

कि कोई, कोई क्यों, मैं ही, स्वयं मैं उसकी किसी बात से इतना क्षुब्ध भी हो सकता हूँ ।"

गणाध्यक्ष सिंह सेनापति को यह भलीभाँति विदित था कि आचार्य शिष्य भावुक है । किसी की भावुकता के सम्बन्ध में कोई किसी अन्य को कुछ स्पष्ट बताए, यह आवश्यक नहीं, परन्तु आचार्य बहुलाश्व ने उसे जिस पत्र के साथ एक दिन वैशाली सिंह सेनापति के पास भेजा था, उसमें उन्होंने अपने शिष्य की इस दुर्बलता का विशेष रूप से उल्लेख किया था । किन्तु साथ ही आचार्य बहुलाश्व ने अपने शिष्य की इस भावुकता को उसकी दुर्बलता नहीं कहा था; उन्होंने लिखा था—"यह तो उसके स्वभाव का मुख्य एवं साथ ही स्थायी अंग है, जिस पर उसकी सारी चारित्रिक विशेषता आधारित है ।" आचार्य बहुलाश्व ने फिर इसी पत्र में आगे लिखा था—"आयुष्मान्, किन्तु उसकी यह भावुकता सहज ही में किसी अन्य में आत्मीयता का संचार कर उठती है, साथ ही वह उसे सत्कार्यों की ओर भी प्रेरित करती है; किसी दुष्कर्म की बात तो वह सोच तक भी नहीं सकता, और यदि कभी उसे परिस्थिति वश सोचनी भी पड़ जाए तो उससे पूर्व ही वह निराश हो उठता है, और फिर वह जैसे आत्म-विश्लेषण को बाध्य हो उठता है, जो अन्ततः उसे अपने कुल परिचय की जिज्ञासा तक ले आती है । किन्तु आयुष्मान, वह अज्ञात कुल भी नहीं है ।"

और, आचार्य बहुलाश्व ने इस पत्र में उसके कुल के रहस्य को भी खोल दिया था । वास्तव में वह एक गोपनीय पत्र था, जिसे यद्यपि स्वयं आचार्य शिष्य ही लाया था, तो भी उसने उसे पढ़ा नहीं था । कारण ? क्यों कि आचार्य बहुलाश्व ने उसे ऐसा ही आदेश किया था । और, जब उसने वह पत्र सर्वथा अक्षत रूप में सिंह सेनापति को लाकर दिया तो वह उसकी इस कर्तव्य परायणता एवं निष्ठा पर मुग्ध हुए बिना नहीं रहे । और उनके इस अनुज गुरुबन्धु का किस कुल से सम्बन्ध था, सिंह सेनापति ने यह रहस्य किसी को भी नहीं बताया था । वह बस उनके तथा आचार्य बहुलाश्व के मध्य ही की बात बनकर रह गई थी । और, जैसे अब तो उसकी इतनी भी आवश्यकता नहीं रह गई थी, क्योंकि उसकी भावुकता ने उसे अब तक पूर्णतः वैशालिक, एक निष्ठावान वैशालिक बना दिया था । अतः जब उसने उस दिन सेनापति के सम्मुख पद-मुक्त होने की इच्छा प्रकट की तो वह उसे उसका कोई सक्षोभ भावावेश समझ कर भी कुछ चिंतित हो उठे थे ! वास्तव में तभी से वह उसका कारण जानने को उत्सुक थे, परन्तु उसके पश्चात् ही जब उन्होंने आचार्य वर्षकार की घोषणा भी सुनी तो वह दुविधा-ग्रस्त हो रहे । सोचने लगे कि यह केवल संयोग मात्र है, अथवा दोनों में कोई परस्पर सम्बन्ध भी है ?

पर, इसी मध्य, वैशाली के अनवरत व्यस्त जीवन में एक दूसरी ही गतिविधि का संचार हो उठा । उसके उपांत दूर दिगंत से आने वाले श्रद्धालु जनों की भीड़ से गूंज उठे । वास्तव में देवी आम्रपाली के स्तूप-निर्माण का संवाद इस समय तक सभी ओर, दूर-दिशाओं में फैल चुका था; और जैसे-जैसे यह संवाद फैलता जा रहा था, वैसे-वैसे ही वैशाली में आने वाले लोगों की भीड़ भी प्रगाढ़ होती जा रही थी; यहाँ तक कि अब उपांत स्थित आवेशनों में उनके आवास की व्यवस्था असम्भव प्रतीत होने

लगी। परन्तु इससे वैशालिकों का उत्साह कम न हो, उल्टे बढ़ा ही। वे गद्गद् हो परस्पर कहने लगे—"यह तो वैशाली का सौभाग्य समझो कि वैदेशिकों ने उसे इस प्रकार तीर्थस्थल का सम्मान प्रदान किया।"

जब उपांत-आवेशनों मे स्थान नहीं रहा तो अभ्यागत श्रद्धालुजनों के स्वागत हेतु वैशालिकों ने अपने आवासों के द्वार खोल दिए। उनकी बाहुओ को पकड़-पकड़ वे उन्हे अपने आवासों मे ले जाने लगे; साथ ही कहते—"भद्रजनो, यह तो सचमुच देवी आम्रपाली की कृपा है कि हम आप सभी के दर्शन पा सके।"

और वैदेशिक दर्शक भी कहते—"वैशालिको, आपका यह अतिथ्य पा हम सचमुच अपने को धन्य हुआ अनुभव कर रहे हैं।"

भिक्षु महाली ने जब यह सवाद सुना तो उस समय वह तथागत की पावन भूमि कपिलवस्तु में ही था। वैशाली में शास्ता की पुण्य स्मृति में स्तूप का निर्माण हो, और वह भी देवी आम्रापाली क हाथों; और वह उसका संवाद सुनकर यूँ ही रह जाए, उसके लिए भला यह कैसे संभव था? वह तुरन्त प्रस्थान कर उठा। जब वैशालिकों ने उसके आगमन का समाचार सुना तो जैसे समूची नगरी ही उसके दर्शन को उमड पडी। फिर वह अकेला भी तो नही आया था, न जाने कितने शाक्य-जन भी उत्साह की उमग मे उनके साथ दौड़े चले आए थे; वे ही शाक्यजन, जिनके मध्य एक दिन तथागत ने जन्म लिया था।

शाक्यजनो के आगमन से समूची नगरी भाव-विभोर हो उठी; वैशाली के नर-नारी गर्व का भी अनुभव कर उठे। और सभी ने यह अपने लिए सौभाग्य का दिन समझा।

वैशालिकों ने तो यह अपने लिए सौभाग्य का दिन समझा और उनके लिए यह उचित भी था, परन्तु उधर इसी मध्य तथागत की पावन भूमि कपिलवस्तु में क्या हो रहा? कोई एक सप्ताह पश्चात् ही गुप्तचरों ने आचार्य शिष्य को जो संदेश आकर सुनाया, वह उससे बुरी तरह सिहर उठा। वह अपने से बोला—"विडूडभ भला यह भी कोई प्रतिशोध हुआ कि तूने समूची जाति का ही संहार कर दिया। कौशल नरेश विडूडभ द्वारा समची शाक्य जाति के संहार का समाचार जब गण महानगरी में फैला तो सर्वत्र शोक की लहर छा गई; महाली तो रो तक उठा। परन्तु, आचार्य वर्षकार के गुप्तचरों ने उन तक उससे भी आगे का समाचार पहुँचा दिया था, जिसे सुन वह न जाने क्यों प्रसन्न हो उठे थे।

विडूडभ द्वारा शाक्यकुल के विनाश का यह समाचार केवल वैशाली में ही नहीं, वरन् सर्वत्र फैल गया। राजा अजातशत्रु ने जब यह सुना तो वह भी एक बार को आतंकित हो उठा। उसे लगा कि कहीं वह कपिलवस्तु से सीधे इधर ही की ओर प्रस्थान न कर उठे; और क्या पता वह वज्जीसंघ पर ही आक्रमण कर दे, और यदि वह ऐसा कर बैठा तो फिर मगध साम्राज्य के विस्तार की यह सारी योजना विफल हो रहेगी, क्योंकि फिर उससे युद्ध में जीतना कोई सरल बात नहीं। राजा अजातशत्रु सोचने लगा—"यदि विडूडभ ने कहीं वज्जीसंघ को कौशल-राज्य में मिला लिया तो फिर मगध साम्राज्य के विस्तार की बात तो दूर की रही, उसके वर्तमान स्वरूप

को भी सुरक्षित रखना असंभव हो जाएगा। यदि इधर मैं महत्त्वाकांक्षी हूँ तो उधर वह भी कोई कम नही। यदि एक दिन इस राज्य की महत्त्वाकाक्षा के वशीभूत हो मैंने पिता को बन्दी बना कारागार मे डाला था, तो उसने भी उसी आकांक्षा से प्रेरित हो अपने वृद्ध पिता प्रसेनजित को बलात् श्रावस्ती से बाहर निकाल दिया था, और वह बेचारा न जाने किस आशा से मेरे पास आ ही रहा था कि यहीं एक आवेशन में पहुँचते ही उसकी मृत्यु हो गई। संयोग से वह इस समय उसी स्थल पर खड़ा था, जहाँ कभी वह आवेशन था और अब उसे तोड़कर उस पर नए नगर की प्राचीर बनाई जा रही थी। उसका प्रधान अमात्य गोपाल भी इस समय उसी के पास खड़ा था; परन्तु उसे जैसे उसका ध्यान ही नहीं रहा, उसके नेत्रो के सम्मुख आचार्य वर्षकार जैसे सदेह आ उपस्थित हुआ था; और इस समय हँस, कह रहा था—"क्यों सम्राट्, बस घबरा गए ?"

परन्तु, इसी मध्य गोपाल कह उठा—"सम्राट्, गुप्तचरों ने जो अभी-अभी समाचार दिया है, उसे सुन आप अवश्य ही हर्षित हो उठेंगे।"

सम्राट अजातशत्रु के दुविधा-व्यस्त मुख पर उत्सुकता छा गई। पूछने लगा—"क्यों आर्य ऐसा क्या समाचार है वह ?"

गोपाल ने इधर उधर देख जैसे सावधान हो, धीमे से कहा—"सम्राट् कौशल नरेश विड्डभ कपिलवस्तु से अपनी ही राजधानी श्रावस्ती की ओर लौट चुका है तथा वहाँ से जो समाचार आया है, वह कुछ और ही है ... ...।"

उस समय कोई भी वहाँ नहीं था, तो भी गोपाल बस इतना ही कह रुक गया। अजात शत्रु के मुख पर पहले से भी अधिक उत्सुकता का भाव छा उठा। उतावली-सी में पूछ उठा—"वह समाचार क्या है, आर्य ! शीघ्र बताओ न ?"

परन्तु, गोपाल जैसे सर्वथा अविचलित रह बोला—"सम्राट् अब आप प्रासाद की ओर चले, वैशाली से भी शीघ्र ही अभी कोई महत्त्वपूर्ण समाचार पहुँचने की सभावना है।"

इधर, वैशाली में अब तक विड्डभ के सम्बन्ध में कोई और ही संवाद पहुँच चुका था। गुप्तचरो ने आकर बताया कि विड्डभ जब कपिलवस्तु से श्रावस्ती लौटा तो उस समय अचिरवती नदी मे वर्षा के कारण बाढ़ आ चुकी थी, अतः उसका मार्ग अवरुद्ध हो गया और उसकी सेना उसी के किनारे शिविर लगाए पड़ी रही। और, एक रात्रि अचिरवती नदी मे इतनी भयंकर बाढ आई कि वह अपनी सारी सेना समेत ही उसकी विनाशकारी लहरों में समा गया।

आचार्य शिष्य यह सुन संतोष की साँस लिए बिना नहीं रहा। परन्तु, फिर भी उसके मस्तिष्क में एक बात छायी रही, और वह थी कपिलवस्तु के नृशस नर-सहार को लेकर ही। कुल विवाद की उग्रता इतने भयंकर प्रतिशोध के लिए भी प्रेरित कर सकती है, इसकी उसने कभी कल्पना तक भी नहीं की थी। और, इसी प्रसंग में उसे अपनी ही कोई, न जाने कब से भूली, बात सहसा स्मरण हो आई, और चूकि वह एक दीर्घ अवधि के पश्चात उभरी थी अतः वह उतनी ही शक्ति के साथ उसकी चेतना को झकझोर उठी। वैसे, अब वह उसे अपने सम्बन्ध में एक व्यर्थ की बात समझता था, फिर भी वह उस पर विचारता रहा, परन्तु इस समय उसके सम्मुख एक नही अनेक कार्य

थे, जिनके मध्य वह अत्यंत व्यस्तता का अनुभव कर रहा था।

एक दिन, जब वह मध्याह्न का भोजन करने कोई तीसरे प्रहर आवास पर पहुँचा तो उसे इतने विलम्ब से आया देख, प्रतीक्षा थकित देवी मंजरिका खिन्न मन से कहने लगी—"स्वामी आप आज प्रातः से ही निराहार है, फिर भी आपने मध्याह्न-भोजन के लिए इतना विलम्ब कर दिया।"

वास्तव में यह कोई आज ही की बात नहीं थी, वरन् गत कई दिनों से ऐसा ही क्रम चल रहा था। किन्तु इतनी कार्य व्यस्तता के पश्चात् भी आचार्य शिष्य के मन को संतोष नहीं मिल पा रहा था। कारण? वह कुछ ऐसा समझ रहा था जैसे वह किसी मुख्य प्रवाह से हट, कहीं भटक गया है, और उसमें कोई उत्साह शेष नहीं रह गया है। देवी शिष्या की संध्या समाज-वाली वह मुस्कान उसे भुलाए नहीं भूली जा रही थी, और उसके फलस्वरूप वह कुछ ऐसा अनुभव कर रहा था कि जिसने एक दिन इस रीते जीवन में अनायास ही बहुत कुछ भर दिया था, उसी ने अब जैसे कोई अवसर पा उसे सहसा छीन भी लिया है। देवी शिष्या की ओर से उसने इस प्रकार की कभी कल्पना तक भी नहीं की थी, इसलिए वह अत्यधिक खिन्न था, केवल खिन्न ही नहीं, वरन वह स्पष्टतः यह अनुभव कर रहा था कि वह अपनी कोई न गंवाने योग्य अमूल्य निधि गंवा बैठा है। परन्तु वह उसने स्वयं तो गंवाई नहीं थी, तो भी उसे भारी दुःख था। सोचने लगा—'मैं ही जब इस योग्य नहीं तो फिर देवी शिष्या भी क्या करे; उसका इसमें भला दोष भी क्या है?' उसके मन में आया कि एक दिन वह देवी शिष्या से उसके प्रेम की याचना करे, परन्तु दूसरे ही क्षण वह सोचने लगा—'क्या प्रेम भी याचना से मिल सकता है? और जब मै उससे यह याचना करूँगा तो भला क्या वह यह कह देगी कि जाओ, मैं तुम्हे प्रेम नहीं देती! परन्तु, प्रेम अततः क्या है? क्या वह याचना से मिल सकता है?' फिर वह अपने से पूछने लगा—'आखिर, क्या देवी शिष्या ही उसके लिए सब कुछ बन गई है? और क्या उसकी कृपा कोर पाये बिना जीवित नहीं रहा जा सकता?' तब वह अपने को उत्तर देते हुए कहता—'क्यों जीवित क्या मै अब नहीं रह रहा हूँ? परन्तु यह भी कोई जीवन में जीवन है; अरे यह जीवन तो निस्सार है; धिक्कार है ऐसे जीवन को, जिसे देवी शिष्या का प्रेम न मिल सके।'

परन्तु जीवन को धिक्कारते-धिक्कारते वह अपने को भी धिक्कार उठता, यह सोचकर कि जिस वैशाली ने उसे इतना कुछ बना दिया है, और जिसने उसके जीवन के सभी अभावों को भरने का प्रयत्न किया है, केवल प्रयत्न ही नहीं, वरन् वस्तुतः भरा है, वह आज उसी वैशाली के प्रति समय आने पर उदासीन हो उठा है। कैसे? यह जैसे उस पर अधिक न सोच पाया, परन्तु इतना अवश्य स्वीकार कर उठा कि यह मेरी उदासीनता ही है, अन्यथा ... ...! अन्यथा क्या ... ...?'

उसके सम्मुख जैसे कोई प्रश्न साकार रूप में आ उपस्थित हुआ।

वह परोसे भोजन पर से सहसा उठ खड़ा हुआ। मंजरिका यह देख स्तब्ध रह गई; खिन्न भी हो उठी। और स्वयं आचार्य शिष्य? वह उस समय वहाँ खड़ा भी न रह सका, और न ही वह विश्राम कक्ष की ओर जा सका, वरन् सीधा द्वार-मण्डप की ओर दौड़, अश्वारूढ़ हो, सावेग बाहर की ओर प्रस्थान कर उठा।

इकत्तीस

नित्य प्रति की भाँति विनिश्चय अमात्य आचार्य वर्षकार आज भी, गोधूलि बेला में पुष्पकरिणी तट पर जा पहुँचे। जैसे, घूमते-घूमते ही वह उसके पश्चिमी छोर पर पहुँच गए, और फिर वहाँ ऐसे खड़े हो गए जैसे दूर-सुदूर तक फैले हरे-भरे कर्मांतों की मनोहारी छटा को देख रहे हो। निकट ही में चक्रमदास ग्राम दीख रहा था, परन्तु उस ओर जैसे उनकी दृष्टि ही नहीं गई, यदि गई भी तो फिर वह उधर से उचट, पीछे की ओर सघन आम्रकुज की ओट में से झाँकती ब्राह्मण कुडपुर ग्राम की अट्टालिकाओं पर जा टिकी। लहलहाते कर्मातों और ब्राह्मण कुंडपुर ग्राम की अट्टालिकाओ को देख जैसे उन्हें जीवन का कोई विस्मृत पृष्ठ स्मरण हो आया। वह सोचने लगे—"पाटलिग्राम में मगध राज्य का दुर्ग बनवाते समय जब मैं गंगा तट के इस ओर फैले इन हरे-भरे, लहलहाते कर्मांतों को देखता था तो मेरा मन एक सुखद कल्पना से गुदगुदा उठता था, और साथ ही यह महत्त्वाकाँक्षा भी बलवती हो उठती थी कि न जाने किस दिन यह वैशाली मगध साम्राज्य का अंग बन सकेगी? तब मैं कितनी लालसा भरी दृष्टि से इस ओर देखा करता था, मन होता था कि वैशाली में ही रह, उसकी इन स्वर्ण, रजत एवं ताम्र कलश युक्त ऊची भव्य अट्टालिकाओं को जी भर देखता रहूँ, और देखता रहूँ इन सुदृढ, विशाल वक्ष वाले योधेय वैशालिकों को, जिनके शौर्य को देख महाप्रतापी बिम्बसार ने भी जैसे पराजय का अनुभव कर अपनी साम्राज्य की महत्त्वाकाँक्षा को सदा-सदा के लिए त्याग दिया था। उन्हें स्मरण हो आया कि राजा बिम्बसार जब प्रौढावस्था में था, और उसकी रक्त धमनियो में साम्राज्य विस्तार की सुखद कल्पना के अदम्य उत्साह का सचार हो उठा करता था, तो वह उस समय केवल एक ही बात कह पाता था, और वह थी—'आचार्य वर्षकार, यदि मुझे वैशालिको की एकता और उनके बल का सहयोग मिल जाए तो मैं दिग्विजय कर सकता हूँ; और पता नही ये कैसे मूर्ख हैं कि इतनी दुर्लभ सामर्थ्य के स्वामी होकर भी वे अपने गणराज्य की संकीर्ण सीमाओं में ही घिरे पड़े हैं और आज उन्हीं की इन सीमाओं में मैं आबद्ध हूँ—परन्तु वे टूटेंगी, अवश्य ही किसी दिन टूटेंगी, पर कब......?'

तनिक रुक, उन्होने फिर अपना विचार प्रवाह जैसे बलात् दूसरी ओर मोड़ लिया। सोचने लगे—'यदि मगध की तरह कभी वैशाली के इन योद्धाओं ने भी साम्राज्य स्थापना की बात सोची होती तो भला क्या होता? होता क्या वर्षकार, अग समेत मगध अवश्य ही इसके अधीन होता और अवन्ती के चण्ड प्रद्योत का अस्तित्व तक न रह पाता; वत्स, काशी-कोशल और ये शाक्य कुल सभी इसके करद बन रहते,

और कौन जाने इस समूचे जम्बू द्वीप पर ही इनका एकच्छत्र राज्य होता, पर ये अभागे इस ओर से सदा उदासीन ही रहे, उदारता को अपना कोई देवत्वपूर्ण गुण समझते रहे, पर कब तक समझते रहेंगे ?'

इसी मध्य पुष्करिणी तट ही की ओर दौडते आ रहे एक अश्व की पदचापों की आहट से उनका ध्यान भंग हो रहा। क्षणेक, जैसे उचटती दृष्टि से उधर की ओर देखा, फिर आम्रकुंज की ओट में से झाँकती हुई अट्टालिकाओ को देखते हुए वह पुनः अपने से बोले— 'एक दिन संध्या समय गरजते मेघों एवं मूसलाधार वर्षा में भीगते हुए मैंने इसी ग्राम में तो आकर शरण ली थी।'

शरण लेने की, और वैशालिकों द्वारा शरण दिए जाने की बात सोच आज वह न जाने क्यों मन ही मन हँस पड़े; परन्तु किस पर? अपने ही पर या वैशालिकों पर, पर यह जैसे उनके निकट ही रहस्य बनकर रह गया। वह अश्व इस समय तक पुष्करिणी के सन्निकट पहुँच चुका था, उसे देख आचार्य के मुख पर जैसे स्वतः हर्ष का सा भाव उभर आया। परन्तु उन्होने तत्काल ही उस ओर से ऐसे दृष्टि हटा ली, जैसे उससे उनका कोई सम्बन्ध नही है। परन्तु अश्वारोही एक पवन के झोंके की भाँति उनके सर्वथा सन्निकट पहुँच सहसा रुक, तत्परता से बोला—"आर्यवर, मुद्राएँ गंगातट के इस ओर बिखर चुकी हैं।"

आचार्य वर्षकार ने भी उसी तत्परता से कहा—"तो फिर उन्हें बटोर, उपाँत में ला एकत्र करो। और आयुष्मान, भला स्वर्ण मुद्रा का क्या हुआ ?"

अश्वारोही सावधान दृष्टि से इधर उधर देख बोला—"आर्यवर, उसने तो अपने को ताम्र आवरण में ढाँप लिया है, और मार्ग पर से पाँच मुद्राओं को उठा, अब इधर ही की ओर अग्रसर है।"

इस पर आचार्य वर्षकार बोले—"ताम्रवर्ण से कहो, वह उठाई मुद्राओं को फेंक, अकेले ही मध्य कोठार में पहुँच जाए; शेष सब ठीक है।"

अश्वारोही यह सुन फिर उसी दिशा में सावेग दौड़ लिया, जिधर की ओर से वह आया था ; परन्तु इस पर आचार्य वर्षकार जैसे झल्ला उठे। अपने स्थान पर ही खड़े रह उच्च ध्वनि में, इतनी उच्च ध्वनि में कि पुष्करिणी के पूर्वी तट पर खड़े युवक प्रहरी भी भली भाँति सुन लें, वह बोले—"अरे ओ अश्वारोही, क्या तू बहरा है, अभी तो तुझे मार्ग बताया था, फिर भी...... ।"

परन्तु अश्वारोही ने जैसे इस ओर कोई ध्यान ही नहीं दिया; तीव्र गति से उसी दिशा में दौड़ता चला गया। और आचार्य वर्षकार जैसे उसकी इस मूर्खता पर एक उच्च ठहाका दे हँस पड़े। हँसी के ठहाके को सुन, प्रहरी तरुणो का ध्यान इस समय तक पूर्णतः इधर की ही ओर आकृष्ट हो चुका था, और वे विनिश्चय अमात्य की ही ओर देख रहे थे। आचार्य वर्षकार ने अपने सहज स्वभाव के अनुसार उनमें से एक को संकेत कर अपनी ओर बुलाया, और वह युवक भी विनीत सेवक की भाँति सोत्साह उनकी ओर बढ़ लिया। शेष सभी तरुण उत्सुकता से उधर की ओर देख उठे, देखते रहे कि विनिश्चय अमात्य ने उसके कान में धीमे से कुछ कहा है। जब वह वापिस अपने साथियों में पहुँचा तो उनमें से एक अत्यधिक उत्सुकता दिखा, पूछ उठा—"क्यों मित्र विमल,

आर्य ने तुमसे क्या कहा ?"

विमल उत्तर में सोत्साह बोला—"कुछ भी तो नहीं बन्धुवर, वह कह रहे थे तुम सभी बड़े धनवान हो।"

इस पर वह पूछने वाला तथा अन्य सभी सोचने लगे—'विमल निश्चय ही झूठ बोल रहा है, इसने अमात्य से अवश्य ही यह कहा होगा कि मैं बड़ा धनवान हूँ, जैसे और हम तो सभी निर्धन हैं।'

तत्पश्चात् आचार्य वर्षकार पुष्करिणी तट से नीचे उतर, कूटागार शाला की दिशा में बढ़ लिए, परन्तु जैसे उनकी दृष्टि बलात ऊपर आकाश की ओर उठ ली। वह आश्चर्य से में पड़ गए, बोले—'अरे, आज असमय में ये मेघ कैसे ?'

वह कुछ ऐसे चिन्तित हो उठे जैसे इन घिरे मेघों ने कोई बाधा उपस्थित की हो। अतः वह कूटागार शाला की ओर अग्रसर हो लिए।

उधर, आकाश को सहसा मेघाछन्न हुआ देख आचार्य शिष्य कुछ घबरा-सा गया। वह इस समय सदानीरा के तट पर बैठा कुछ सोच रहा था। वह सोच रहा था—'बन्धुवर सिह ने मुझे यह पद प्रदान कर वैशाली के साथ निश्चय ही अन्याय किया है; मै उसके किंचित भी तो योग्य नहीं हूँ। तो फिर मै किस योग्य हूँ ? वह इस समय जैसे इस बात को सोचना व्यर्थ समझ रहा था, फिर भी वह सोच उठा, 'इससे तो मैं यदि देवी शिष्या की वादक मण्डली में ही हुआ होता तो कहीं अधिक श्रेयस्कर रहता। तब, देवी शिष्या कम से कम दृष्टि छाया मे तो बनी रहती, और हर समय उसका सानिध्य लाभ भी हो रहता।' उसने इस बात को अपने अन्तर की पूर्ण गम्भीरता से सोचा था, फिर भी वह स्वयं उस पर हँसे बिना नहीं रहा। अपने से कहने लगा—'किधर से भी, कुछ भी क्यों न सोचूँ, यह देवी शिष्या जैसे हर ओर से मेरा मार्ग रोक खड़ी हो जाती है।'

वह उस पर कुछ खिन्न हुआ सा झुँझला उठा; साथ ही अपने पर भी, अपने पर अधिक, क्योंकि वह इसे अपनी ही दुर्बलता समझ रहा था; सोचने लगा—'भला इसमें देवी शिष्या का क्या दोष है ? और न मेरा ही, यदि है भी तो केवल एक का, और वह स्वयं आचार्य बहुलाश्व का, जिन्होंने मुझे जैसे इसी दुविधा के लिए यहाँ वैशाली भेजा हो।'

किन्तु मस्तिष्क में यह विचार आते ही वह ऐसे काँप उठा जैसे उसने किसी दुष्कर्म का दोष किया हो। वह काँप उठा यह सोचकर कि जिस आचार्य ने मुझे···और आज उन्हीं के प्रति यह कुविचार···उनके प्रति यह कृतघ्नता...।

वह अपने को धिक्कार उठा।

वह घुटनों के बल भूमि पर बैठ गया, उसके कर अंजलि बद्ध हो उठे, और नेत्र अश्रु पूरित; कण्ठ रुँध आया। अवरुद्ध कण्ठ से बोला—"आचार्यपाद, आप जहाँ भी हों, इस कृतघ्न को क्षमा करना, क्षमा करना इस अज्ञात कुल को, जिसे आपने जीवन में इतना कुछ दिया, मुझे इन देव तुल्य व्रात्यों में भेजा, और भेजा इस देवी शिष्या को देखने को, जिसके दर्शन पा मैं धन्य हो गया हूँ; महाप्रभो, मैं सचमुच धन्य हो गया हूँ उसके दर्शन कर, पर वह अब इस समय न जाने मेरे किस अपराध का मुझे दण्ड दे रही है; आचार्यपाद, वह तो शुभमुखी है और कल्याणमयी भी है; तो फिर क्या

उसकी उपेक्षा उचित है ?"

"बिलकुल नही आयुष्मान, बिलकुल नहीं ।"

सहसा नेपथ्य से आए इस उत्तर को सुन वह चौंक-सा गया। किन्तु तत्परता से उधर दृष्टि कर जब उसने देखा तो अभिवादन स्वरूप उसका शीर्ष झुक गया। फिर, जैसे साश्चर्य बोला—"बन्धुवर, आप यहाँ कैसे ?"

आगन्तुक भिक्षु वेश में था, और उसके मुख पर एक सहज मुस्कान खेल रही थी। आत्मीयता का सा भाव दिखा वह कहने लगा—"क्यो आयुष्मान, क्या जहाँ पूज्यपाद आचार्य बहुलाश्व का एक शिष्य पहुँच सकता है, वहाँ दूसरा नहीं आ सकता ?"

आचार्य शिष्य के मुख पर एक क्षण को गर्व का सा भाव स्फुरित हो उठा। परन्तु, अगले क्षण ही वह जैसे सप्रयास बोला—"बन्धुवर, भिक्षु संघ में प्रविष्ट होने की इच्छा बलवती हो उठी है।"

उसके मुख से एक भारी साँस निकल वायुमंडल में विलीन हो गई।

भिक्षु की मुद्रा इस समय तक गम्भीर हो उठी थी। किन्तु वह फिर अपनी स्वाभाविक मुस्कान के साथ बोला—"क्यों आयुष्मान, क्या इसलिए कि इस समय वैशाली के ऊपर यह अकाश मेघाछन्न जो है ?"

उत्तर से पूर्व आचार्य शिष्य का मन भारी हो उठा। मस्तक नत करते हुए उसके मुँह से फिर भारी साँस निकल गई। भर्राए कण्ठ स्वर में बोला—"हाँ बन्धुवर, कदाचित इसी से।"

भिक्षु तनिक सोच, बोला—'आयुष्मान्, फिर तो वह पलायन हुआ; अतः भिक्षु संघ में तुम्हारे लिए कोई स्थान नहीं !"

यह कह भिक्षु की दृष्टि में एक दृढ़ता-सी उभर आई। उसके इस उत्तर को सुन आचार्य शिष्य हतोत्साहित हो उठा और मुख पर भारी निराशा व्याप्त हो उठी। उसके ओष्ठ तो पर्याप्त समय से ही शुष्क चले आ रहे थे। रुआंसे कण्ठ स्वर में बोला—"तो क्या बन्धुवर, मेरे लिए अब कहीं भी स्थान नहीं ?"

भिक्षु महाली तत्परता से बोला—"क्यों, अभी तो वैशाली को ही तुम्हारी आवश्यकता है आयुष्मान।"

आचार्य शिष्य ने भिक्षु महाली की ओर तनिक देख, कहा—"बन्धुवर, वैशाली को तो इस समय प्रमाण की आवश्यकता है, और वह मेरे पास है नहीं।"

यह कह वह कुछ रुका, फिर जैसे कुछ सोचते हुए से बोला—"और इस समय वैशाली को नहीं वरन् स्वयं उसे वैशाली की आवश्यकता है, क्योंकि…।"

जैसे, इस बार वह अपनी अधूरी बात को पूरा करने के अभिप्राय से साहस कर निस्संकोच हो बोला—"क्योंकि बन्धुवर, मुझे देवी शिष्या की आवश्यकता है।"

भिक्षु महाली बोला—"आयुष्मान ध्वजधर, तो फिर क्या तुम प्रेम भी सावधान होकर नही कर सकते ?"

किन्तु, इस पर आचार्य शिष्य तनिक भी विचलित नहीं हुआ। नत मस्तक हो बोला—"हाँ, बन्धुवर ऐसा भी हो सकता है।"

भिक्षु महाली जैसे विश्वास की दृढ़ता से कह उठा--'हो सकता है नहीं आयुष्मान, वरन् है ।"

"तो भी बन्धुवर, आप मुझे इस समय भिक्षु संघ में प्रविष्ट होने की अनुमति प्रदान करें ।

भिक्षु महाली ने उसकी ओर देखते हुए कहा—"आयुष्मान, वह तुम्हें मिल सकती है, परन्तु उससे पूर्व····।"

भिक्षु महाली को मध्य ही में रुका देख आचार्य शिष्य उत्सुकतावश तत्परता से पूछ उठा--" उसके पूर्व क्या बन्धुवर, आप आदेश करें ।"

भिक्षु महाली मानों सोचते हुए से कह उठा—"तुम्हें पहले देवी शिष्या से अनुमति लेनी होगी, मैं क्या, कोई भी तुम्हें दीक्षा देने से भला कैसे रोक सकता है।"

आचार्य शिष्य को लगा, जैसे उसे सहसा कोई अवलम्ब मिल गया। वह तुरन्त ही तो आश्वारूढ हो, देवी शिष्या की अट्टालिका की ही ओर प्रस्थान कर उठा ।

और, भिक्षु महाली वही खडा रह, उसकी ओर देखना रहा। साथ ही कुछ सोचता भी रहा । वह सोच रहा था कि एक दिन तू भी तो ... ... ।

उधर, आकाश में मंडराते मेघो को देख आम्रकुज में मयूर कूक उठे, आम्रकुज भी उनकी मधुर ध्वनि से गूंज उठे, और फिर अपनी ही प्रतिध्वनि को सुन वे अधिकाधिक उच्च स्वर में केका कर नृत्य व्यस्त हो उठे ।

आचार्य शिष्य का अश्व इस समय तीव्र गति से दौड़ता हुआ जा रहा था । वह नए उपांत को पार कर अभी पुष्करिणी के उत्तर तट की ओर इस उद्देश्य से मुड़ा था कि तथागत की पावन स्मृति में बनते स्तूप को देखता चलूं; फिर साथ ही देवी आम्रपाली के दर्शन भी हो जाएँगे । वह उधर गत दो-एक दिनो से गया भी नहीं था । परन्तु वह सोच उठा—'भिक्षु सघ में तो प्रविष्ट हो ही रहा हूँ, अतः अब उसकी अभी क्या आवश्यकता रह गई है, कल से मैं भी वहाँ रहूँगा, वैशाली में राजा चेटक की विपुल सम्पत्ति को त्याग कर अब वहीं तो रहना है, मंजरिका से भी भला फिर क्या सम्बन्ध रह जाएगा ? किन्तु मजरिका का ध्यान आते ही उसके हृदय में एक टीस सी उभर उठी । वह सोचने लगा—'आज व्यर्थ ही मैं उस पर अनाचार कर बैठा; पर चलो; कल से उसे भी कोई कष्ट नही दूंगा।' उसका अश्व इसी मध्य पुष्करिणी तट पर पहुँच चुका था । वहाँ क्षणिक रुक उसने सम्मुख ही बनते स्तूप पर हल्की-सी दृष्टि डाली, परन्तु इसी मध्य उसके मस्तिष्क में कोई विचार जैसे विद्युत गति से आ टकराया, अश्व भी उसी के साथ कमल कुड की ओर दौड़ लिया । अश्व तीव्र गति से कमल कुड की ओर दौड़ता जा रहा था, परन्तु वह अपने मन में, मानों विश्राम भाव से कुछ सोचता जा रहा था । कुछ क्या, यही सोच रहा था—'आज तक कभी भी मैंने देवी शिष्या को कुछ भेंट नही किया, और जीवन के इस महत्त्वपूर्ण प्रसंग पर जब तक कोई पटाक्षेप हो उससे पूर्व मैं उसे एक कमल पुष्प ही उपहार स्वरूप भेंट करता चलूं; उससे कहूँगा—'देवी अपने श्रम से अर्जित मेरे पास श्रेष्ठीपुत्र कप्पिन की भांति कोई बहुमूल्य मुक्ताहार तो है नहीं, अतः तुम इसे ही स्वीकार कर लो, कौन जाने यह

तुम्हारे इस श्यामल केशपाश पर कण्ठ के मुक्ताहार से कहीं अधिक शोभायमान हो सके।'

अततः कमल कुण्ड आ पहुँचा। अश्व को उस के तट पर छोड वह पहले निकट की एक बावड़ी की ओर चल पडा। उसके सोपान पर से नीचे उतर उसने उसके जल से अपने मुख को धोया, पैरो को भी, और फिर उसके जल को ले अपने शरीर पर छिडका, जैसे वह इस समय यहाँ पुष्प तोड़ने नहीं वरन् किसी उपासना की तैयारी करने आया हो।

कुंड मे इस समय एक नही अनेक, और वे भी विभिन्न वर्ण के कमल पुष्प खिले थे—श्वेत, नील, रक्तिम एव पीले—सभी प्रकार के तो। अत: वह उनकी विविध वर्ण-छटा को देख जैसे कुछ सोच में पड़ गया; सोचने लगा—'श्वेत संधि का द्योतक है, पर देवी शिष्या से मेरा न तो कोई संघर्ष ही रहा और न दुराग्रह ही, अत: वह उचित नही; फिर तो, रक्तिम ही ठीक रहेगा; पर, वह अनुराग एवं आसक्ति का परिचायक है, जो संभव है कभी मेरे मन में रहा हो, किन्तु अब नही, बिलकुल भी तो नही, अत: वह अब निरर्थक है; और, नील पुष्प उसकी सघन श्यामल केश राशि में खो-सा जाएगा; और पीत वैराग्य का द्योतक है, पर वैराग्य को एक बार स्वीकार कर भला मै उसे किस प्रकार पुष्प भेंट कर सकता हूँ।' और, वह वर्णों की आभा में उलझ-सा गया। अतत. बोला—'श्वेत शुभ भी है और सरलता का भी परिचायक है, फिर देवी शिष्या भी तो सौम्य है, सरल है, अत: वही क्यों न ले लूँ; प्रेम जितना भी सरल हो, वह उतना ही सुखद है, फिर अब तो एक प्रसंग की परिसमाप्ति की ही बात है, वह भी जितनी सहज और सरल हो, उतनी ही सुखद रहेगी।'

यह सोच, वह अततः कुड में उतर लिया; पर अधिक उथले जल का पुष्प उसके मन नही भाया, अत. वह और आगे बढ़ लिया; मन-ही-मन बोला—'प्रेम की जितनी भी गहराई में उतर लो, उतना ही अच्छा है; उसका उपहार जितना श्रम कर अर्जित किया जाए वह उतना ही मूल्यवान है; प्रेम का मूल्य धन नहीं, श्रम है, साधना है, और त्याग है; देवी शिष्या आज मैने अपने प्रेम को त्यागने का निश्चय किया है, इसलिए निश्चय किया है कि तुम किसी और के साथ प्रेम कर सको और तुम प्रसन्न रह सको, यही तो मेरी एक मात्र महत्त्वाकांक्षा है।'

कुंड के जल से उसके सारे वस्त्र भीग गये, पर जैसे उस ओर उसका कोई ध्यान ही नहीं गया। बाहर आ, उसने एक बारगी पुष्प की ओर दत्त-चित्त दृष्टि से देखा, बोला—"देवी शिष्या की विमल मुख-कान्ति पर जब यह शुभ्र पुष्प अटक रहेगा, तो निश्चय ही इसका सौष्ठव भी और बढ़ रहेगा और यह धन्य हो रहेगा ; अभी तो यह कुछ भी सुन्दर नहीं, तब देखना जब यह उसकी केश राशि में उलझ रहेगा।"

और फिर वह कुड के जल में ही खड़ा रह अपने नेत्र मूदे न जाने क्या अंत-र्दृष्टि से निहारता हुआ हृदयंगम करता रह गया।

सहसा, ऊपर नभ में मेघ गर्जना कर उठे। उसे सुन आम्रकुज के मयूर भी आनन्दोच्छ्वास से कुछ कह उठे। आछन्न मेघों की सघनता को देख आचार्य शिष्य के अन्तर में छिपा कोई भाव अथवा कोई चाह भी खिल उठी ; मेघ गर्जना सुन वह

भयभीत नहीं हुआ, वरन् उसे एक सुखद अनुभूति हो रही। मन-ही-मन बोला—'कल जब मैं भिक्षु संघ में जाऊँगा, तब देखा जाएगा, परन्तु आज तो अभी मैं देवी शिष्या की अट्टालिका की ही ओर जा रहा हूँ। देवी शिष्या मेरी है, और मैं देवी शिष्या का, वह हो या न हो, पर मैं तो हूँ ही। क्यों, प्रेम क्या एकांगी नहीं हो सकता ? वह होता है; यदि अब तक नही हुआ है तो आगे हो रहेगा ; उसकी भी तो अपनी निराली अनुभूति है, अपना सुख है, अपनी कल्पना है, और उसका यह निराला पन ही तो आनन्दोच्छ्वास है, ऐसा उच्छ्वास जिसमें कल्पना कही अधिक स्वतन्त्र हो रहती है और पीड़ा में एक विचित्र माधुर्य का संचार हो उठता है।'

यह सब कुछ सोचते-विचारते वह आगे बढ़ा ही जा रहा था कि मार्ग में उसका प्रासाद आ गया; सोचने लगा—'जब प्रासाद तक आ ही गया हूँ तो फिर वस्त्र ही बदलता चलूं।' पर, फिर सोचने लगा—'चलो, ऐसे ही चलो, उपहार सप्रमाण हो रहेगा।' परन्तु वह फिर आगे सोचने लगा—'मंजरिका से तो कम से कम कहता ही चलूं कि कल तुम्हारा यह आचार्य शिष्य भिक्षु संघ में प्रविष्ट हो रहेगा, और फिर वह उसके पश्चात तुम्हें कोई कष्ट नहीं देगा, आज जैसा अनाचार वह तुम पर कर बैठा, फिर कभी नहीं कर सकेगा।' किन्तु, बाह्य द्वार पर खड़ा प्रहरी उसे देखते ही कह उठा—"स्वामी, स्वामिनी तो महापौर के आवास पर गई हैं, देवी रत्नकमल कल से अस्वस्थ हैं, इसी से उधर चली गई हैं ; वह अब कल आएँगी।"

प्रहरी के मुख से यह सन्देश सुन आचार्य शिष्य न जाने क्यों एक बारगी घबरा-सा गया; खिन्न भी हो उठा। परन्तु दूसरे ही क्षण अन्तर में एक भारी श्वास खीचते हुए बोला—"चलो, यह भी अच्छा ही हुआ, कल उन्हें स्वयं पता लग जाएगा।"

प्रहरी की इच्छा हुई कि पूछे, सो क्या स्वामी ? पर वह यह चाहकर भी नही पूछ सका। आचार्य शिष्य के मन में आया कि पहले महापौर के आवास की ओर ही हो आऊँ, क्या पता देवी रत्न कमल सचमुच अस्वस्थ हो, पर वह यह भी केवल सोच कर ही रह गया, अश्व जैसे स्वय ही सीधे देवी शिष्या की अट्टालिका की ओर ही बढ़ लिया।

अभी वह वीथी-मुख पर ही था कि गणसंथागार की दिशा से आता उसे उसका सहायक अनिरुद्ध मिल गया, उसे देख वह दूर ही से बोला—"मित्रवर, आज से तुम अपने को ही सुरक्षा प्रधान समझो, मै तो कल भिक्षु संघ में...।"

परन्तु वह यह बात अधूरी ही कह सका। फिर प्रसग बदल वह पूछने लगा—"क्यों मित्र अनिरुद्ध, यदि प्रमाण नहीं मिले तो क्या फिर संदिग्ध अपराधी को ही बंदी नहीं बनाया जा सकता ?"

अनिरुद्ध तनिक सोच, बोला—"अवश्य, आर्य अवश्य, परन्तु यह तभी संभव है जबकि नगर अथवा राज्य में आपात स्थिति हो और उसके लिए वही व्यक्ति कारण प्रतीत होता हो, या फिर उससे किसी सकट की आशंका हो।"

इस पर आचार्य शिष्य तत्परता से कह उठा—"मित्र अनिरुद्ध, नगर में यह सभी कुछ है, किन्तु स्पष्ट नही, अस्पष्ट है, इसीलिए इतनी दुविधा है, हत्याकाण्ड में निश्चय ही.........।"

आचार्य शिष्य जैसे सावधान हो उठा, उसने फिर प्रसंग बदल और कुछ पूछना चाहा, परन्तु न जाने क्या सोच बस मौन रह गया। उसका अश्व फिर सीधा देवी शिष्या की अट्टालिका की ही ओर बढ़ लिया।

अनिरुद्ध भी तनिक देर वहीं खड़ा रह, अन्ततः जिधर जा रहा था, उसी ओर बढ़ लिया।

बत्तीस

संध्या समाज की बेला निकट ग्राई देख, देवी शिष्या केवल कुछ समय पूर्व ही प्रसाधन कक्ष में ग्रा, उसके विशाल-दर्पण के सम्मुख पीठिका पर बैठी थी कि एक परिचारिका ने सवेग कक्ष में प्रवेश किया। परन्तु, कक्ष में प्रविष्ट होते ही परिचारिका को जैसे ग्रपनी किसी भूल की सुध हो ग्राई।

ग्रट्टालिका की सभी परिचारिकाग्रो को विदित था कि कला देवी को ग्रतिरेक ग्ररुचिकर लगता है ग्रौर वह व्यवहार में साम्य भाव को ग्रनुकूल ग्राचरण समझती हैं; ग्रत: ग्रागत परिचारिका ग्रपने तत्क्षण के भावावेग पर जैसे लज्जित-सी हो गई।

किन्तु ग्राज, जैसे देवी शिष्या ने भी परिचारिका के इस ग्रावेग के प्रति कुछ उत्सुकता दिखाई। उसकी पग ग्राहट को सुन उसकी दृष्टि दर्पण की ग्रोर से बलात् हट रही। यह देख उसकी सघन, श्यामल, घुंघराली केश राशि को ग्रगरु धूम्र से सुवासित करती प्रसाधिका का हाथ भी ग्रलग हट रहा। किन्तु क्षणेक प्रतीक्षा के पश्चात् देवी शिष्या के नेत्र पुन: दर्पण में झाँक उठे; दर्पण में ही झाँकते रह उसने देखा कि परिचारिका के मुख पर ग्रभी भी उल्लास की लालिमा व्याप्त है, उसकी साँस भी कुछ-कुछ फूली-सी प्रतीत हुई; ग्रत: देवी शिष्या ने इस समय यही समझा कि कदाचित वह इसी से कुछ कह नही पा रही है। देवी शिष्या ने एक बारगी तो उत्सुकतावश उसके ग्रावेग का कारण पूछना भी चाहा, परन्तु साथ ही यह सोच कि चलो ग्रपने ग्राप कह देगी, वह फिर दर्पण में भरी दृष्टि से झाँक उठी, जैसे वह ग्रपने ही नेत्रो में किसी ग्रन्य की छवि दर्पण की सहायता से देखा चाहती थी, पर वह कुछ उदास हो उठी, उदासी पर खिन्नता की फीकी मुस्कान भी फैल-सी गई, ग्रन्तर में उठा कोई व्यग्र भाव भी दृष्टि में ग्रा उलझ-सा गया; ग्रावक्ष लटकता श्रेष्ठीपुत्र कप्पिन का दीप्त मुक्ताहार उसे जैसे ग्रसह्य हो उठा। उसने मुक्ताहार को तत्परता से उतार प्रसाधिका की ग्रोर फेंक दिया। मुख पर स्पष्ट ही खिन्नता का भाव छा उठा; फिर जिज्ञासा का-सा। फिर, वह सहज स्वर में पूछने लगी—"क्यो कपिशा, भला नारी की वास्तविक शोभा क्या है?"

प्रसाधिका ने दर्पण की ग्रोर दृष्टि कर पहले तो जैसे देवी शिष्या के मनोभाव को ताड़ने का सा प्रयास किया, फिर सहज ढंग में बोली—"देवी, उसके मनोभाव ही उसकी वास्ताविक शोभा है।"

तनिक रुक प्रसाधिका कपिशा फिर जैसे कुछ सोचती हुई सी बोल उठी—"ग्रौर देवी, जो सभी प्रकार के मनोभावो के, यहाँ तक कि विकारो के मध्य भी ग्राक-

र्षक बनी रहे, वही नारी सम्पूर्ण है।"

"जैसे ?"—जैसे, यह प्रश्न देवी शिष्या के मुख से उत्सुकतावश बलात् निकल गया। प्रसाधिका भी उत्तर मे सहज स्वभाव कह उठी—"जैसे देवी शिष्या स्वयं !"

देवी शिष्या ने अनुमान लगाया था कि कपिशा इसके उत्तर में निश्चय ही देवी आम्रपाली का उल्लेख करेगी। वास्तव में इस प्रसग मे उसने अपने सम्बन्ध में कल्पना तक भी नही की थी। अत: उसे प्रसाधिका की बात पर विश्वास नहीं हुआ, फिर भी उसके मुख पर अविश्वास का नही, वरन् जिज्ञासा का सा भाव छा गया। परन्तु वह भी शीघ्र ही लुप्त हो रहा। उसकी मुख-मुद्रा गम्भीर हो उठी; और गम्भीर मुख पर आवेश की एक रेखा उभर उठी। वह बोली—"कपिशा, क्यों क्या यह भ्रम उत्पन्न करने का प्रयास नही है ?"

देवी शिष्या के मुख से ऐसा प्रश्न सुनकर भी प्रसाधिका सर्वथा अविचलित रही। हाँ, उसके गौर मुख पर एक मुस्कान अवश्य खेल उठी। दर्पण में देवी शिष्या के प्रतिबिम्ब को निहारती-सी वह बोली—"देवी, आपको मैं भ्रम कराऊँ, सो मेरा साहस कदापि नही हो सकता; मेरी दृष्टि मे तो वह एक वास्तविकता ही है।"

"सो कैसे, देवी प्रसाधिका ?"

इस बार देवी शिष्या के मुख का जिज्ञासा भाव ससकोच प्रगाढ़ हो उठा। प्रसाधिका उत्तर से पूर्व अपनी पीठिका से उठ, खडी हो गई।

परिचारिका मौन भाव से खडी रह दोनों के मध्य प्रारम्भ हुए इस प्रसग को, मानों, पूर्ण तन्मयता से सुन रही थी, परन्तु साथ ही संवाद निवेदन के उद्देश्य से अवसर के लिए भी प्रयत्नशील रही। अत: इस बार उचित अवसर समझ वह कहने को उद्यत ही हुई थी कि इसी मध्य प्रसाधिका देवी शिष्या के दो-एक उलझे केशो को अपनी लम्बी अगुलियो से सवारती हुई कह उठी—"देवी, जब जीवन का प्रवाह सर्वथा सामान्य गति से चलता रहता है, तो यह ठीक है कि प्रवृत्तियाँ भी विश्राम की स्थिति में रहती हैं, परन्तु अवसर आने पर वे क्या रूप ग्रहण कर सकती हैं, यह तो संकेत मिल ही जाता है। सभव है किसी दिन ...।"

"किसी दिन से तुम्हारा तात्पर्य कपिशा ?"

देवी शिष्या के मुख की उत्सुकता इस प्रश्न के साथ-साथ पूर्व से भी अधिक प्रगाढ़ हो उठी। किन्तु प्रसाधिका अपने पूर्ववत सहज ढग मे ही बोली—"देवी शिष्या, कला अधिष्ठात्री का पद कोई साधारण तो है नहीं, उस पद तक आ जाना अपने आप में एक असाधारण बात है, फिर तुम तो वैशाली में एक भारी सघर्ष की भी प्रतीक रही हो, परन्तु मै वह सब कुछ नही कहती, मैं तो केवल यही कह रही हूँ कि यदि अवसर आया तो; परन्तु इसका अर्थ यह भी तो नही हुआ कि उस अवसर का आना अनिवार्य ही है।"

देवी शिष्या प्रसाधिका की इस उलझी बात को जैसे बिलकुल ही तो समझने में असमर्थ रही। किन्तु उसने वह व्यर्थ की बात भी नही समझी। उसे लगा कि देवी प्रसाधिका ने अप्रत्यक्ष में अवश्य ही कोई महत्त्वपूर्ण बात कही है, मेरे सदर्भ में नही वरन् किसी अवसर विशेष के। और, भला वह क्या हो सकता है ? वह इस दिशा में

कुछ सोच ही रही थी कि इसी मध्य परिचारिका नत मस्तक हो, सविनय, परन्तु साथ ही उत्साह का सा भाव दिखाती हुई कह उठी—"देवी, आकाश में इस समय मेघ छाए हुए हैं; और आस्थानागार में आचार्य शिष्य पधारे हैं।"

यह संवाद सुन आज न जाने क्यों देवी शिष्या का हृदय जैसे बलात् गुदगुदा-सा उठा, परन्तु प्रगट में उसके मुख पर केवल आश्चर्य का भाव छा कर रह गया। क्यों ? इस कारण नहीं कि आचार्य शिष्य को उस संकेत के पश्चात् आज ही आने की कैसे सुध हो आई। वैसे, संभव है, वह भी एक कारण रहा हो, परन्तु उससे भी अधिक सम्भवत: यही रहा कि परिचारिका इस संवाद के साथ कक्ष में केवल सावेग ही नहीं आई, वरन् उसके मुख पर उस समय उल्लास का भाव भी स्पष्टतः परिलक्षित हो रहा था। क्यों ? क्या वह ... । परन्तु वह अब इस प्रसंग में अधिक सोचना व्यर्थ समझ प्रगट में परिचारिका से कह उठी—"अरी ओ वासभरवत्तिया, तूने तो आज सचमुच अनर्थ कर दिया, आचार्य शिष्य और इतनी देर आस्थानागार में प्रतीक्षा करें...यह तो एक दम असंभव है; वह अब तक निश्चय ही लौट गए होंगे।"

देवी शिष्या का मुख सहसा विवर्ण हो उठा। साथ ही उसे ध्यान हो आया, परिचारिका का भला इसमें क्या दोष था, अतः वह कुछ पश्चात्ताप के से कण्ठ स्वर में बोली—"वत्तिया, क्षमा करना, इसमें भला तेरा क्या दोष था, और न ही कोई देवी, प्रसाधिका का; यह तो आज मुझ ही से भूल हुई कि अकारण यह प्रसंग छेड़ बैठी।"

वत्तिया उत्तर में भला क्या कहती, और क्या कहती प्रसाधिका कपिशा; किन्तु कपिशा ने यह अवश्य सोचा कि यदि इस समय देवी शिष्या के स्थान पर कोई अन्य अधिष्ठात्री होती तो वह अवश्य ही उत्तेजित हो उठती, क्षमा की याचना करना तो एक दूर की बात रहती ही।

वास्तव में देवी शिष्या इस समय भारी दुविधा में थी। आचार्य शिष्य को उसकी अट्टालिका में आते अब तक पूरे बारह वर्ष से भी अधिक हो चुके थे, पर कदाचित ही ऐसा अवसर आया होगा कि वह मन और तन दोनों से इतनी अस्त-व्यस्त रही हो। और अब निश्चय ही इतना समय नहीं रह गया था कि वह अपने को व्यवस्थित करती। वह कुछ क्षणों तक तो सोचती रही, किन्तु अन्ततः निश्चय कर अपने से बोली—'जब आज ऐसा ही संयोग बन आया है तो फिर जाने में व्यर्थ का क्यों संकोच करूँ।' और फिर वह उसी अवस्था में जैसे सवेग कक्ष से बाहर निकल ली। आज उसे इस भावुकावस्था में देख परिचारिका को आश्चर्य हुआ; प्रसाधिका को उससे भी अधिक। पर देवी शिष्या के सदा-संयत पगों में भी आज सचमुच न जाने कहाँ से गति आ गई थी। वह सारे मार्ग आशंकित भी रही, सोचती रही कि आचार्य शिष्य कहीं प्रतीक्षा कर अन्ततः चले न गए हों, और यदि वह चले गए तो सचमुच मैं किसी को भी अपना मुँह दिखाने योग्य न रहूँगी; कौन जाने, मुझे अपने को भी मुँह दिखाने में लज्जा आए।'

देवी शिष्या कुछ भी सोचती रही हो, परन्तु आचार्य शिष्य इस सारी अवधि ही जैसे अनवरत व्यस्तता–मानसिक और शारीरिक दोनों ही प्रकार की व्यस्तता—एवं उसके फलस्वरूप आई भारी क्लांति के पश्चात् पूर्ण विश्रांति का सा अनुभव करता रहा। उसे यह तो विश्वास था ही कि देवी शिष्या चाहे उसकी कितनी भी उपेक्षा क्यों न करे, पर वह

मिलने अवश्य आएगी, चाहे फिर शिष्टाचार वश ही आए, पर वह आएगी अवश्य। अतः इस ओर से वह पूर्णतः आश्वस्त था। तो भी वह इस सारी अवधि, विश्रांति के मध्य भी कुछ सोचता ही रहा, सोच रहा था—'जब एक बार आज यहाँ आ ही गया हूँ, अथवा बन्धुवर महाली ने भेज ही दिया है तो फिर जो भी कहने वाली बातें हैं, वे सभी कहकर रहूँगा, अन्यथा कल जब मैं भिक्षु संघ में प्रविष्ट हो जाऊँगा तो फिर एक-एक कर वे सभी बातें सताती रहेंगी, और तब पश्चाताप होगा कि अवसर मिला भी, और कुछ कहा भी नहीं, मन की मन में ही रह गई, तब निश्चय ही ध्यान भंग हो रहेगा, और फलस्वरूप न तो भिक्षु-धर्म का पालन कर सकूँगा, और इधर का तो रहूँगा ही नहीं; अतः, बस कहीं अधर में अटक कर रह जाऊँगा, फिर भला निर्वाण की बात सोची हो कैसे जा सकती है; इसका अर्थ हुआ फिर इसी देह को धारण करो, और मायावी संसार में आओ, और फिर नये सिरे से इन सारी विपदाओं को सहो; ध्वजधर, उनको सहना तो कोई बड़ी बात नहीं, पर कौन जाने, फिर जन्म भी लिया और देवी शिष्या भी न मिली, तो ? ध्वजधर, इससे तो निर्वाण ही श्रेयस्कर है, निर्वाण होने पर देवी शिष्या से मिलने की कम से कम यह लालसा तो नहीं बनी रहेगी; वह लालसा, जिसने आज व्यर्थ ही में तुझे इतना भटका दिया है।'

बाहर मेघ जैसे किलकारी मारते हुए गर्जन कर उठे, अपना रौद्र रूप दिखा दमक भी उठे, और फिर सहसा बरस भी रहे। आचार्य शिष्य आस्थानागार के गवाक्ष छिद्रों मे से अन्दर आए एक झोंके का स्पर्श पा सम्हल कर बैठ गया। देवी शिष्या अट्टालिका के मुख्य कक्ष की ओर से इस समय आस्थानागार की ही ओर बढ़ी चली आ रही थी कि वह मार्ग में मेघों की गर्जना को सुन सहम-सी उठी। वह सदा ही संयत रही थी, अतः आज उसे अपने ही पर आश्चर्य हो रहा। वह इस समय तक वर्षा जल से आपाद-मस्तक भीग चुकी थी; सारी देह जल से तर हो गई, परन्तु उसे इस ओर से जैसे तनिक भी सुध नहीं थी, भीगे वस्त्र उसके गात से चिपट चुके थे, पर उस ओर भी उसका ध्यान नहीं हो सका कि उसके चिपटे वस्त्रों में उसके गात की क्या गत हो उठी है, और वह मन में उठी आशंका की प्रबलता के साथ एक पवन के झोंके के सदृश आस्थानागार में प्रविष्ट हो रही; वैसे ही, जैसे कुछ देर पूर्व गवाक्ष में से एक पवन का झोंका आया था, और आचार्य शिष्य के विचारों को किसी दूसरी ही कल्पना-तरंग में बहा ले गया था।

आचार्य शिष्य उसे इस अवस्था में देख स्तब्ध हो उठा, देवी शिष्या भी उसे देख हतप्रभ हो रही। परन्तु न जाने वह किस देवी की कृपा से अपनी वाणी पर संयम रख सकी, कि, कण्ठ तक आई किसी बात को भी वह कहने में चूक सकी। पर उसके नेत्र तो जैसे उसके मन की बात कह हो उठे। और, आचार्य शिष्य जब कुछ सम्हला तो अभिवादन के लिए उठे उसके हाथ, नेत्रों पर आ रहे; अत्यन्त मनोयोग से लाया कमल-पुष्प पीठिका पर ही पडा रह गया, मन-ही-मन सोचता रहा—'देखो, आज इतने दिनों पश्चात् उसके केशपाश में यह पुष्प अटकाने की इच्छा बलवती हुई थी, परन्तु जैसे वह भी अधूरी ही रह गई। कल जब भिक्षु संघ में जा, उसमें सम्मलित हो रहूँगा तो फिर भला कब, कौन सा अवसर मिलेगा। अपनी इस इच्छा को फलवती होते न देख वह

कुछ ऐसे आशंकित हो उठा; जैसे कोई बड़ा अपशकुन हुआ हो। उसके हाथ नेत्रों पर ही रखे रहे, उसने सारा मुख ढाँप लिया, फिर जैसे अपने अन्तर का सारा साहस एकत्र कर उसने हाथों को हटाने का प्रयास किया; तो उसे लगा, जैसे वह उस ओर देख नहीं सकेगा, इतनी सारी रूप राशि को एक साथ देख लेना भी तो कोई सहज काम नहीं। मन-ही-मन बोला—"ध्वजधर, देवी शिष्या को न जाने कितनी बार देखा है, और कभी स्पष्ट तो कभी दबी दृष्टि से उसकी छवि को निहारा है, बाह्य मे भी, और, और अपने अन्तर में भी, पर आज तो वह...वह कुछ ऐसी लग रही है, जैसे वह अद्भुत हो, इतनी अद्भुत कि बरबस पूर्ण आत्मसात कर लेने की इच्छा बलवती हो उठी है; तो फिर भिक्षु सघ में जाने के निश्चय का क्या होगा ? नही, मैं अवश्य जाऊँगा। और मैं यदि इसका कुछ हूँ तो वह भी वहाँ अवश्य प्रविष्ट हो रहेगी, दोनो ही एक साथ निर्वाण के लिए, निर्वाण के लिए नहीं, वरन् महानिर्वाण के लिए साधना करे, भला इससे श्रेयस्कर और क्या बात होगी; कौन जाने, तथागत की भी कभी कोई देवी शिष्या रही हो, और वह उसके सहारे ही महानिर्वाण प्राप्त कर सके हो।' परन्तु, इस विचार के साथ ही वह काँप उठा, अन्तर का भाव ध्वनित हो रहा, बोला—"भगवान तथागत, क्षमा करना, क्षमा करना भगवान्, मैं अपराधी हूँ। मुझे दुष्कर्म का दोष लगा है।"

अब देवी शिष्या भी मौन न रह सकी, पूछ उठी—"क्यों आचार्य शिष्य, ऐसा क्या अपराध हो गया है, जो अपने पर दुष्कर्म का दोष लगा बैठे।"

आचार्य शिष्य ने जैसे उसके इस प्रश्न को सुना ही नहीं, वह इतनी देर बैठा-बैठा जो कुछ सोचता रहा था, उसी को अनुक्रम से कहने के प्रयास में बोल उठा—"देवी, मुझे आपकी सेवा में बन्धुवर महाली ने भेजा है।"

देवी शिष्या को यह सुन कुछ आश्चर्य हुआ। फिर भी वह जैसे सहज भाव में पूछने लगी—"क्यों आचार्य शिष्य, यदि बंधुवर महाली न कहते तो क्या तुम यहाँ कभी आते ही नही ?"

आचार्य शिष्य ने इस बार भी देवी शिष्या की बात का प्रत्यक्ष उत्तर न दे कहा—"देवी, मैंने भिक्षु संघ में सम्मिलित होने का निश्चय किया है।"

देवी शिष्या यह सुन स्तब्ध रह गई। फिर भी वह कुछ मुस्करा सकी। हाँ, हँसी नहीं। कुछ क्षणों पश्चात् बोली—"और, आचार्य शिष्य इस वैशाली का क्या होगा ?"

आचार्य शिष्य ने जैसे नत मस्तक हो कुछ कहना चाहा, परन्तु उसकी दृष्टि देवी शिष्या की ओर उठ रही, एक भारी श्वास भी मुख से निकल गया। बोला—"देवी, कभी मैं सोचता था कि इस वैशाली में केवल दो ही वैदेशिक हैं, अतः कुछ संतोष बना रहा, परन्तु आज देख रहा हूँ कि जैसे मै एकाकी ही रह गया हूँ। फिर वैशाली के अतिरिक्त मेरा कहीं कुछ और है भी क्या, अतः ...।"

आचार्य शिष्य का कण्ठ स्वर सहसा बोझिल हो गया। फिर भी वह सप्रयास बोलता गया; कहने लगा—"देवी, वैशाली में मै अपने को वैदेशिक कहूँ, यह कह मैने सचमुच जघन्य अपराध किया है, उसके लिए मै कभी क्षमा भी किया जा सकूँगा, मुझे ऐसा विश्वास नहीं, और यदि उसके लिए मुझे दण्डित किया जा सका तो मन को कुछ संतोष ही हो रहेगा, यह सोचकर कि चलो वैशाली में मेरा भी किसी पर कोई

अधिकार था।"

देवी शिष्या यह सभी कुछ दत्तचित हुई सुन रही थी, फिर भी उसके मस्तिष्क में एक पहली बात ही अटकी रही। पूछने लगी—"और आचार्य शिष्य, वह दूसरा वैदेशिक कौन था?"

आचार्य शिष्य बोला—"देवी शिष्या, वह मै बाद में बताऊँगा।"

"अब क्यों नहीं, आचार्य शिष्य?" देवी शिष्या ने जैसे साग्रह पूछा।

"इससे कि इतना श्रम कर मैने जो कुछ याद किया है, कहीं उसे भूल न जाऊँ।"

इस बार देवी शिष्या के मुख पर मुस्कान की झीनी रेखाएँ उभर आईं। कहने लगी—"क्या वैसे ही, जैसे श्रेष्ठीपुत्र याद कर उस दिन संध्या समाज में आया था।"

आचार्य शिष्य उत्सुकता से पूछ उठा—" सो कैसे देवी शिष्या?"

'आचार्य शिष्य, वह मैं बाद में बताऊँगी।"

देवी शिष्या के मुख की झीनी मुस्कान चपलता से खेल, प्रगाढ हो उठी; ऐसी प्रगाढ मुस्कान, जो उसके मुख पर एक प्रकार से सर्व प्रथम ही थी। आचार्य शिष्य भी उसे समझने मे असमर्थ नही रहा, फिर भी वह गम्भीर रहे ही बोला—"तो क्या देवी, वह मेरा मात्र भ्रम था?"

देवी शिष्या पूर्ववत् चपल मुस्कान के साथ ही बोली—"आचार्य शिष्य, वह भी मैं बाद मे बताऊँगी, पहले कक्ष मे चलो, और अपने इस वेष को ठीक कर लो।"

आचार्य शिष्य बोला—"उसे वैसा ही रहने दो, पहले यह बताओ कि उस दिन क्या मुझे सचमुच भ्रम हुआ था?"

देवी शिष्या ने जैसे यह अनसुना कर दिया, बोली—"पहले कक्ष में चलो और वस्त्र बदल लो।"

"देवी शिष्या, वस्त्र मै आवास में जा कर बदल लूंगा, फिर मेरे वस्त्र यहाँ आए भी कहाँ से?"

"और यदि यही हो तो?" देवी शिष्या के अन्तर की सारी मुस्कान जैसे नेत्रों में सिमट आई।

आचार्य शिष्य को यह सुन आश्चर्य हुआ; पूछने लगा—"देवी शिष्या भला वे यहाँ काहे को आने लगे?"

देवी शिष्या तनिक सोच, उत्तर में ऐसे, जैसे कुछ भी नहीं हुआ, बोली—"आचार्य शिष्य, आज देवी मंजरिका आई थीं, वह रख गई हैं?"

आचार्य शिष्य को देवी शिष्या की बात पर विश्वास नहीं हुआ, फिर भी वह अवाक् रह गया। किन्तु देवी शिष्या के मुख की मुस्कान प्रगाढ़ हो उठी। बोली—"अब तो चलोगे?"

आचार्य शिष्य ने पूछा—"और वह अभी यही है?"

देवी शिष्या बोली—"नहीं आचार्य शिष्य, वह जैसे आई थीं, वैसे ही चली गईं, बंधुवर श्रेणियरत्न के आवास पर, देवी रत्न कमल अस्वस्थ जो हैं।"

आचार्य शिष्य जैसे कुछ भी समझने में असमर्थ रहा। अतः उसकी उत्सुकता

और भी बढ गई। देवी शिष्या पीठिका पर पड़े कमल की ओर देखती हुई बोली—"अब तो चलोगे ?"

आचार्य शिष्य दुविधा-सी में बोला—"अवश्य चलूंगा, परन्तु वस्त्र बदलने नहीं।"

"क्यों ?

"क्योंकि, आज मेरा यह जो भेष है, वह किसी देवी के सम्मुख एक प्रमाण है।"

"क्यों, क्या बिना प्रमाण के काम नहीं चल सकता ? प्रश्न के साथ देवी शिष्या के नेत्र और अधिक मुस्करा उठे। किन्तु आचार्य शिष्य गम्भीर हो गया। बोला—"नहीं देवी शिष्या, क्योंकि वैशाली में प्रमाण नितान्त आवश्यक है।"

"वह है, सो तो मैं भी जानती हूँ, अच्छा कक्ष तक ही चलो, वस्त्र न बदलना।"

आचार्य शिष्य, इस बार जैसे अपने को रोकने में असमर्थ रहा। वह चल पडा, देवी शिष्या भी, दोनों ही वर्षा में भीगते हुए; और मुख्य कक्ष में पहुँच देवी शिष्या परिचारिका वत्तिया से बोली—"इस वर्षा में आज संध्या समाज का आयोजन तो असम्भव है, अत: वैसी ही सूचना करवा दो।" और फिर वह आचार्य शिष्य को साथ ले अपने निजी कक्ष की ओर चल पडी।

कक्ष में आ देवी शिष्या ने आचार्य शिष्य के वस्त्र काष्ठ मंजूषा से निकाल उसके सम्मुख रख दिए। पर आचार्य शिष्य ने उनकी ओर देखा तक भी नहीं। पूछने लगा—"देवी शिष्या, क्या देवी मंजरिका ने कुछ कहा नहीं, उसने अवश्य ही कुछ कहा होगा।"

देवी शिष्या बोली—"आचार्य शिष्य मंजरिका देवी हैं। भला वह क्यों कुछ कहतीं।"

"क्यों देवी शिष्या, क्या देवी कभी कुछ कहती ही नही ? पर छोड़ो वह। क्या उसने सचमुच कुछ नहीं कहा, उसने अवश्य ही कुछ कहा होगा ?"

देवी शिष्या कहने लगी—"मुझे तो कुछ याद रहा नहीं, अच्छा तो आप ही बताओ, भला उन्होंने क्या कुछ कहा होगा ?"

आचार्य शिष्य कुछ खीझ-सा गया। पूछने लगा—"देवी शिष्या क्या आप मेरा उपहास नहीं कर रहीं ?"

देवी शिष्या गम्भीर हो बोली—"मैं इतना साहस भी कर सकती हूँ, आपने ऐसा कैसे समझ लिया ?"

"क्यों, यदि मैं वैसा समझ लूँ तो क्या कुछ अनुचित होगा ?"

देवी शिष्या के नेत्रों की मुस्कान प्रगाढ़ हो गई। उसकी ओर देखती हुई बोली—"बिलकुल भी नहीं आचार्य शिष्य।"

आचार्य शिष्य जैसे कही उलझ उठा, बोला—"देवी शिष्या भला यह कैसे सम्भव है, कुछ है भी और नहीं भी।"

देवी शिष्या हंस पड़ी, उसे हंसते देख आचार्य शिष्य को भारी आश्चर्य हुआ।

क्यों ? क्योंकि वह पहले कभी इस प्रकार हँसी नहीं थी, हँसी भी हो तो उसने देखा नहीं था। हँसी के मध्य ही देवी शिष्या बोली—"देखो आचार्य शिष्य, मैं हँस रही हूँ, संध्या समाज में नित्य प्रति नृत्य के लिए भी प्रस्तुत होती हूँ, आहार भी करती हूँ और सज्जा भी; क्यों ? क्योंकि इस संसार में जब जन्म हुआ है तो फिर उसमें रहना भी है, और जब रहना है तो उसी के ढंग से रहना होगा, जैसे कि देवी मंजरिका रहती हैं, आप आज सारे दिन निराहार रहे, और उन्हें भी रखा, परन्तु उन्हें अपने पर किंचित भी तो दुःख नहीं, उन्हें दुःख है तो केवल इस पर कि आप रहे। क्यों ? क्योंकि उन्हें यही शोभा देता है, जैसे मुझे संध्या-समाज में नियमपूर्वक नृत्य करना ही शोभा देता है। क्यों ? क्योंकि वह मेरा कर्तव्य है, कर्तव्य के प्रति निष्ठा भाव ही तो जीवन की शोभा है। कदाचित् मंजरिका ने भी यही समझा हो, तभी तो वह यहाँ आई, वस्त्र रख गईं, और कुछ कह भी गई, वह कह गई हैं—"देवी शिष्या, मैं तो आचार्य शिष्य को व्यवस्थित रखने में असमर्थ हूँ, और असहाय भी हूँ। और यदि तुम ऐसा कर सको तो मुझ पर तुम्हारा बहुत बड़ा उपकार होगा, ऐसा उपकार कि यदि मैं उससे उऋण भी होना चाहूँ तो न हो सकूँ।"

आचार्य शिष्य जैसे सब कुछ समझकर भी कुछ समझने में असमर्थ रहा, पर हाँ, वह आत्मग्लानि का सा अवश्य अनुभव कर उठा और पीठिका से उठ, खड़ा हो गया, साथ ही बोला—"देवी शिष्या, कल जब मैं भिक्षु संघ में प्रविष्ट हो रहूँगा तो विश्वास करो सब कुछ व्यवस्थित हो जाएगा, तब न देवी मजरिका ही को कोई कष्ट होगा, और न ही मैं किसी अन्य को...।"

आचार्य शिष्य का कण्ठ स्वर अत्यधिक बोझिल हो अवरुद्ध हो गया। पर, देवी शिष्या यह सुन पुनः हँस पड़ी, कुछ कहने को भी उद्यत हुई कि आचार्य शिष्य सावेग बाहर की ओर चल पड़ा।

भिक्षु संघ में प्रविष्ट होने के लिए देवी शिष्या से अनुमति लेने की बात जैसे वह अब तक भूल ही चुका था। परन्तु अभी उसने दो-एक पग ही रखे होंगे कि देवी शिष्या ने अपना हाथ बढ़ा उसे पकड़ लिया। बोली—"आपको मैं आज अभी ऐसे नहीं जाने दूँगी।"

आचार्य शिष्य ने सरोष दृष्टि से देवी शिष्या की ओर देखा; उसी प्रकार देखते रह पूछ उठा—"क्यों ?"

देवी शिष्या तत्परता से कह उठी—"आचार्य शिष्य, वह मैं बाद में बताऊँगी।" और इसी के साथ वह फिर हँस पड़ी। आचार्य शिष्य सावेश बोल उठा—"देवी, मैंने इसके पूर्व तुम्हें कदाचित ही कभी हंसते देखा हो, क्या आज तुम्हारी यह हँसी अभिनय नहीं है, या फिर यह मेरा उपहास है।"

देवी शिष्या के मुख पर कुछ खिन्नता उभर आई, बोली—"आचार्य शिष्य, कभी हंसी नहीं वह मैं स्वीकार करती हूँ, परन्तु वह उपहास की हँसी नहीं है; रही अभिनय की बात, क्या जीवन ही अभिनय नहीं है ?"

"देवी शिष्या, वैसा कम से कम मैं नहीं समझता।"

"आप भले ही न समझें, पर वह है एक वास्तविकता ही। सो कैसे ? यदि मैं

उसे बताना चाहूँ भी तो चाह कर भी बता नहीं सकती, क्योंकि मेरी भी अपनी असमर्थता है, मर्यादा भी, अच्छा यह तो बताओ कि बन्धुवर महाली ने आपको यहाँ क्यों भेजा था ?"

आचार्य शिष्य बोला—"सम्भव है, उनके मन में कोई भ्रम रहा हो।"

"चलो, उन्हें भ्रम था, पर आपको तो नही था, फिर भी आप अपने निश्चय को तोड़ आज यहाँ क्यों चले आए ?"

आचार्य शिष्य को देवी शिष्या का यह प्रश्न कुछ अपमानजनक लगा, परन्तु फिर भी वह उस पर उत्तेजित न हो सका, उल्टे जैसे कुछ आश्वस्त ही हुआ, बोला—"तो चलो, यह एक भयंकर भूल ही कर बैठा।"

देवी शिष्या तत्परता से बोली—"भूल भला इसमें क्या होती ? यह तो अच्छा ही हुआ कि आप आ गए।"

आचार्य शिष्य अपनी दृष्टि देवी शिष्या के मुख पर टिका, बोला—"देवी शिष्या, अच्छा तो तब होता, जब तुमने कभी मेरी प्रतीक्षा की होती, इसलिए वह भूल ही हुई।"

देवी शिष्या इस बार निश्चय ही निरुत्तर हो रही, इसलिए नहीं कि उसके पास आचार्य शिष्य के अप्रत्यक्ष प्रश्न का कोई उत्तर नहीं था, वह अवश्य था, और वह उत्तर दे भी सकती थी, फिर भी वह उसे टाल गई। परन्तु साथ ही भारी विवशता का भी अनुभव कर उठी। उसे निरुत्तर देख आचार्य शिष्य न जाने क्या कुछ, सम्भवतः स्पष्ट शब्दों में ही कुछ पूछने को विवश हो उठा, परन्तु वह न पूछ, वह पुनः कक्ष से बाहर की ओर चल पड़ा। देवी शिष्या ने पुनः उसका हाथ पकड, कहा—"आचार्य शिष्य, अब कहाँ जाओगे, पर्याप्त रात्रि बीत चुकी है, फिर ऊपर से मूसलाधार वर्षा अलग हो रही है, संभव है नगर के सूने राजपथों पर आज प्रकाश भी न हो, अन्धकार में यदि कहीं कुछ हो गया तो......?"

"तो क्या देवी शिष्या ?"

"सभी यह कहेंगे कि देवी शिष्या ऐसी मूसलाधार वर्षा और रात्रि के इस अन्धकार में भी आचार्य शिष्य को न रोक सकी। सभी की बात छोड़ो, स्वयं देवी मंजरिका क्या कहेंगी ?"

आचार्य शिष्य बोला—"और यदि रह गया तो फिर यह सारी वैशाली कल प्रातः क्या कहेगी ?"

देवी शिष्या समुस्कान बोल उठी—"वैशाली की चिंता अब तुम करो, वह व्यर्थ है।"

आचार्य शिष्य ने उत्सुकता से पूछा—"सो क्यों देवी शिष्या ?"

देवी शिष्या उत्तर से पूर्व ही हँस पड़ी। फिर बोली—"अभी आपने ही तो कहा था कि वैशाली में केवल एक ही वैदेशिक है, और वह स्वयं आप हैं।"

इस बार आचार्य शिष्य को भी कुछ हँसी आया चाहती थी, परन्तु फिर भी प्रकट में न हँस सका। नत मस्तक हो बोला—"देवी शिष्या, आप सचमुच गण कल्याणी हैं।"

देवी शिष्या वत्तिया को पुकार उठी।

जब वह आ उपस्थित हुई तो देवी शिष्या बोली—"वत्तिया, आचार्य शिष्य का इसी कक्ष में विष्टर कर दो, मैं भी यहीं भूमि पर सो रहूँगी।"

आचार्य शिष्य यह सुन स्तब्ध रह गया। वत्तिया को भी आश्चर्य हुए बिना न रहा; वह बोल उठी—"क्यों देवी, आप भूमि पर ही क्यों सो रहेंगी? अट्टालिका में केवल यही तो एक शय्या नहीं है?"

देवी शिष्या इसका कुछ उत्तर दे, इससे पूर्व ही आचार्य शिष्य बोल उठा—"वत्तिया, वह सब कुछ रहने दो।" और फिर देवी शिष्या की ओर दृष्टि कर वह बोला—"देवी शिष्या, भला यह कैसे संभव है? मुझे अपने प्रासाद की ओर लौटना ही होगा।"

देवी शिष्या पूछ उठी—"सो क्यों? यह आवश्यक तो नहीं, या फिर आपको यहाँ सोने में कोई संकोच है?"

आचार्य शिष्य उसकी ओर ही देखता रह बोला—"हाँ देवी, संकोच भी है और···?"

देवी शिष्या बोल उठी—"आत्मविश्वास भी नहीं—क्यों, यही न आचार्य शिष्य? पर आज आपको यहीं सोना होगा। ऐसी रात्रि में मैं आपको इस प्रकार कदापि न जाने दूंगी। चाहे फिर आपको संकोच हो अथवा···।"

आचार्य शिष्य मध्य ही में बोल उठा—"देवी शिष्या संकोच तो इतना नहीं, परन्तु कल प्रातः व्यर्थ ही सारी वैशाली में दोनों ही के नाम पर कलंक जो लग रहेगा; अपने पर कलंक लगे, सो तो मुझे उसका इतना ध्यान नहीं, पर हाँ···।"

देवी शिष्या एक उच्च ठहाका दे, हँस पड़ी। फिर बोली—"केवल कलंक के भय से तो मैं आपको बाहर जाने नही दे सकती। हाँ, अपने पर विश्वास न हो तो वह दूसरी बात है; मुझे तो अपने पर विश्वास है, और विश्वास है इस बात पर कि आप आज यहाँ सारी रात्रि न सो पाने पर भी, प्रातः अपने को स्वस्थ पा सकोगे।"

आचार्य शिष्य को देवी शिष्या की यह बात सचमुच बड़ी रहस्यपूर्ण लगी; उसे आश्चर्य भी हुआ।

वह पूछने लगा—"और यदि मैं और अस्वस्थ हो गया तो?"

देवी शिष्या बोली—"इतना तुम मुझ पर विश्वास कर सकते हो; या फिर विश्वास न करने की ही ठान ली है।"

देवी शिष्या की इस बात से क्या कुछ तात्पर्य हो सकता है, आचार्य शिष्य कुछ भी समझने में असमर्थ रहा। किन्तु इसी मध्य एक प्रश्न सहसा उसके मस्तिष्क में आ टकराया। वह पूछ उठा—"देवी शिष्या, क्या मैं एक बात पूछ सकता हूँ?"

देवी शिष्या ने उत्तर में न तो ना ही कहा और न हाँ ही। परन्तु आचार्य शिष्य ने उत्तर की विशेष प्रतीक्षा न कर पूछा—"क्यों देवी शिष्या, क्या मेरा श्रेष्ठी-पुत्र कप्पिन पर संदेह उचित नहीं?"

देवी शिष्या इस बार भी उत्तर में मौन रही। उसे मौन रहे देख आचार्य शिष्य

कह उठा—"देवी शिष्या, ऐसा प्रश्न मै किसी से भी पूछूं, यह मेरी मात्र संकीर्णता है
कदाचित् अधिकार भी नहीं, पर फिर भी मैं न जाने क्यों तुम से इस प्रश्न का स्पष्ट
उत्तर पाने के लिए उत्सुक हूँ। इस प्रश्न के निश्चय ही दो उत्तर हैं, उनमे से कोई भ
एक सुनकर मैं संतुष्ट हो सकूँगा; कम से कम इतना आश्वासन तो मैं दे ही सकता हूँ।

देवी शिष्या तत्परता से बोली—"नहीं आचार्य शिष्य, उसका एक तीसरा उत्त
भी तो हो सकता है।"

यह कह देवी शिष्या के नेत्र मुस्करा उठे।

आचार्य शिष्य ने उत्सुकता से पूछा—"सो कौन सा देवी शिष्या?"

देवी शिष्या बोली—"पर, मैं इस प्रश्न का उत्तर दूं ही, यह आवश्यक त
नहीं।"

आचार्य शिष्य बोला—"तुम्हारे लिए न हो, किन्तु मेरे लिए तो हो ही सकत
है। अच्छा चलो, फिर यही बताओ कि यदि श्रेष्ठीपुत्र कप्पिन ने मेरे सम्बन्ध में इस
प्रकार का प्रश्न किया होता तो क्या तुम उसका भी ऐसा ही उत्तर देतीं?"

देवी शिष्या बोली—"आचार्य शिष्य, श्रेष्ठीपुत्र कप्पिन हमारे मध्य की वात
में आए, यह कोई अनिवार्य तो नहीं। आपके अन्दर तो इस समय व्यर्थ ही में सुरक्ष
प्रधान की स्वाभाविक जिज्ञासा प्रबल हो उठी प्रतीत होती है।"

यह कह, देवी शिष्या ने आचार्य शिष्य की ओर देखा। आचार्य शिष्य उ
की ओर देखते हुए कहने लगा—"देवी, न जाने क्यों मैं आश्वस्त हुआ चाहता हूँ।"

देवी शिष्या उत्तर में जैसे सगर्व मुस्करा उठी। पर आचार्य शिष्य इस बार दृ
निश्चय कर कक्ष से बाहर निकल लिया। देवी शिष्या ने भी उसे इस बार नहीं टोक
हाँ कुछ कहा अवश्य। वह बोली—"आचार्य शिष्य मैं भी कुछ आश्वस्त हुआ चाहत
हूँ।"

आचार्य शिष्य बोला—"क्यों, क्या उतना मेरा अधिकार है?"

देवी शिष्या बोली—"अधिकार ही नहीं आचार्य शिष्य, कर्त्तव्य भी है।"

आचार्य शिष्य कहने लगा—"देवी शिष्या मैं इस समय अवश्य ही दुविधा
हूँ, यह तुमसे क्या छिपाना, फिर भी यदि मैं तुम्हें आश्वस्त कर सका तो इसे मैं अपन
सौभाग्य समझूंगा।"

देवी शिष्या बोली—"आचार्य शिष्य, केवल, आपका ही नहीं, वैशाली का भी
सुरक्षा प्रधान का दायित्व अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है, उसके प्रति यह प्रमाद किसी प्रका
भी उचित नहीं। आचार्य शिष्य, आप से मेरा यह अनुरोध गण-कल्याणी के नाते है।

आचार्य शिष्य फिर चलते-चलते पूछ उठा—"और देवी शिष्या के नाते क्य
कोई अनुरोध नहीं?"

देवी शिष्या अन्तर में उल्लसित हो बोली—"चलो, वह आपने स्वयं पूछ लिय
यह अच्छा ही हुआ; तो फिर सुनो, मंजरिका भी आपसे कुछ अपेक्षा करती है, हमार
क्या; जब तक यह गणराज्य अजर-अमर है, तब तक गण-कल्याणी भी जीवित
और उसका सुरक्षा प्रधान भी, फिर उसकी चिन्ता क्यों?"

अन्त में आचार्य शिष्य जैसे न चाहकर भी भारी मन से कह उठा—"देवी शिष्या, यदि मेरे मन में कोई भ्रम था, तो वह आज यहाँ आकर और बढ़ा ही, कम नहीं हुआ, क्या यह एक विडम्बना नहीं ?"

और देवी शिष्या इसके उत्तर मे न 'हाँ' ही कह सकी और न 'ना' ही कह सकी।

तैंतीस

प्रातः जब आचार्य शिष्य की निद्रा खुली तो उसे लगा, मन का कोई भारी बोझ उतर चुका है, परन्तु जैसे अंग-प्रत्यंग की क्लान्ति अभी भी अवशेष थी। अतः निद्रा खुलने के पश्चात् भी वह नेत्र बन्द किये ही अलसाया-सा लेटा रहा; पैरों को लम्बे पसार, करवट ले वह सोचने लगा—"अरे ओ ध्वजधर, तूने तो कल भिक्षु संघ में प्रविष्ट होने का निश्चय किया था, पर जैसे अभी वह शुभ बेला आई ही नहीं; चलो जब आयेगी, तब ही सही। यह भी अच्छा ही हुआ कि मैंने अपने इस निश्चय की बात किसी से नहीं कही, पर शायद किसी से कह बैठा था, हाँ अनिरुद्ध ही को तो संकेत किया था, और यदि कहीं उसने यह बात किसी और से कह दी होगी तो ? फिर तो मुझे सचमुच बड़ा लज्जित होना पड़ेगा।"

बाहर अब भी वर्षा हो रही थी; रात्रि भर ही उसका अनवरत क्रम गतिमान रहा था, और उसकी इस रिमझिम में जब वह शय्यारूढ़ हुआ था, तो उसने जैसे किसी अनिर्णीत-द्वन्द्व के पश्चात् की-सी विश्रान्ति का अनुभव किया था। कक्ष में पूर्णतः एकांत तो था ही, अतः एक बारगी आया विश्राम का भाव जब और प्रगाढ़ हो उठा, तो क्लान्त-मस्तिष्क भी नये विचारों के साथ खेल उठा, और न जाने कब तक खेलता रहा कि उसे निद्रा आ गई, और जब वह आई तो जैसे बस सर्वथा निर्द्वन्द्व हो कर ही आई। और, वह निर्द्वन्द्वता उसके मुख पर अभी भी विद्यमान थी। संभवतः इसी कारण से, 'यदि अनिरुद्ध ने किसी और से कह दिया होगा' वाली बात पर उसने अधिक सोचना व्यर्थ समझा, और फिर अपने नवोदित विचारों को एक गुदगुदी-सी दे वह सोचने लगा—'तथागत करे, देवी रत्नकमल के अस्वस्थ होने की बात झूठ निकल आए, फिर तो मैं मंजरिका को सचमुच वह खिझाऊं, वह खिझाऊँ कि वह भी क्या याद रखेगी, और भूल जाएगी देवी शिष्या की अट्टालिका पर जाना भी।' पर इस समय वह देवी शिष्या की कोई भी बात नहीं सोचना चाहता था, अतः उसका स्पर्श करते प्रसंग से तनिक हटने का प्रयास कर, वह सोचने लगा—'मंजरिका ने देवी शिष्या से कल न जाने क्या कुछ कहा होगा, क्या कुछ क्या, सभी कुछ कहा होगा, और कदाचित् कह आई हो कि ..., परन्तु देवी शिष्या ने भी कल रात्रि चमत्कार ही कर दिया! कहने लगी—आज रात्रि को यहीं सो रहो; भला इस मूसलाधार वर्षा और रात्रि के अन्धकार में मैं तुम्हें कैसे जाने दूंगी', यदि जाने दिया तो भला मंजरिका क्या कहेगी ? मंजरिका जब यहाँ थी ही नहीं तो फिर क्या कहती, व्यर्थ ही मैं यहाँ चला आया, इससे तो वहीं सो रहता तो अच्छा था, पर सोता तो क्या, देवी शिष्या

से ही सारी रात्रि कोई न कोई वार्ता करता रहता, भला क्या वार्ता करता रहता ? सचमुच वह बड़ी चतुर है, सजग भी, पर उसका मुख देखो तो; कितनी अबोध दीखती है ।' और, इसी के साथ विचार प्रवाह ने एक विराम-सा लिया, फिर भी वह नेत्र मूंदे ही पडा रहा, जैसे वे खुले कि न जाने क्या कुछ निकल रहेगा—कि सहसा उसे कुछ स्मरण हो आया; देवी शिष्या ने कहा था—'और मुझे यही शोभा देता है कि मैं नित्य प्रति ही संध्या समाज में नृत्य के लिए प्रस्तुत होऊं। और मुझे ?' जैसे अपने को धिक्कार कर वह तत्परता से शय्या पर उठ बैठा, और सम्मुख पीठिका पर न जाने कब से प्रतीक्षा में बैठा अनिरुद्ध भी उठ खड़ा हो गया। नत मस्तक हो बोला—"आर्य मेरा अभिवादन स्वीकार करें।"

परन्तु आचार्य शिष्य ने उसके अभिवादन का कोई उत्तर न दे, उत्सुकता से पूछा—"क्यों मित्र अनिरुद्ध, ऐसे तुम यहाँ कब से बैठे थे ?"

"प्रातः ही से आर्य।"

"प्रातः ही से ? और भला अब क्या समय होगा ?"

"यही, मध्याह्न में कोई आधा प्रहर शेष रहा होगा आर्य।"

'मात्र आधा प्रहर ? यह तो आश्चर्य है अनिरुद्ध ! पर, तुमने मुझे जगा क्यों नहीं लिया ? अच्छा, सब सकुशल तो हैं ?"

अनिरुद्ध उत्तर में मौन रहा, केवल मौन ही नहीं रहा, वरन्, मस्तक भी नत कर लिया। उसके मुख पर नैराश्य भाव भी छा गया। यह देख आचार्य शिष्य कुछ व्यग्र हो उठा; पूछने लगा—"क्यों आयुष्मान्, क्या कोई गम्भीर बात हो गई ? वैशाली कुशल से तो है, या फिर उस पर कोई और आघात हुआ है ?"

अनिरुद्ध ने नत मस्तक रहे ही, बोझिल और धीमे स्वर में कहा—"आर्य, कुमार सुव्रत अब इस संसार में नहीं रहा।"

"इस संसार में नहीं रहा ? क्या हो गया था उसे ?" आचार्य ने साश्चर्य पूछा।

अनिरुद्ध ने पूर्ववत नत मस्तक रहे ही बताया—"आर्य, कल रात्रि में उसकी किसी ने हत्या कर दी।"

आचार्य शिष्य पर जैसे वज्र प्रहार हुआ। वह शय्या पर ही उठ खड़ा हो, पूछने लगा—"हत्या ! सुव्रत की ? किसने की ? और तुम्हें पता कब चला ?"

पर अनिरुद्ध इनमें से एक प्रश्न का भी उत्तर न दे, मानों कोई दूसरा ही संवाद सुनाने को व्याकुल हो उठा। बोला—"आर्य, कुमार सुव्रत की हत्या का संवाद सुन सामन्त कार्तिकेय भी···!"

'सामन्त कार्तिकेय भी···?" आचार्य शिष्य शय्या पर ही विजड़ हुआ-सा रह गया; फिर बोला—"यह तो सचमुच अनर्थ हो गया, अनिरुद्ध।"

फिर शय्या से नीचे कूद अनिरुद्ध के कन्धे को झिझोड़ते हुए पूछने लगा—"और आयुष्मान्, सुव्रत की हत्या किसने की, इसका भी कुछ पता चला ?"

किन्तु अनिरुद्ध को जैसे अभी कुछ और कहना शेष रह गया था। परन्तु वह कुछ कहे, उससे पूर्व ही उसके नेत्रों से अश्रु-धार बह निकली।

आचार्य शिष्य यह देख स्तब्ध रह गया, अनिरुद्ध के कन्धे को पूर्व से भी अधिक

झिंझोड़ते हुए पूछने लगा—'क्यों आयुष्मान्, क्या कोई दुःखद समाचार अभी और भी शेष रह गया है ?"

अनिरुद्ध ने उत्तरीय के पल्ले से नेत्रों को पोंछने का प्रयास किया, साथ ही अपना शीर्ष झुका, बोला—"आर्य, आपने आयुष्मती शुचिता···।"

उसका कण्ठ मध्य ही में अवरुद्ध हो उठा। तो भी प्रयास कर वह बोला—"आर्य आप तो जानते ही हैं, पिता और माता दोनों ही के दिवंगत हो जाने पर मैंने कितने कष्टों से उसका लालन-पालन किया था, और आज···।"

उसकी बात फिर मध्य ही में रुक रही। जैसे जो कुछ वह कहना चाहता था, कहने योग्य नहीं था। पर आचार्य शिष्य जैसे उसे समझ चुका था। वह दीर्घ निश्वास छोड़ता हुआ बोला—"आयुष्मान्, वैशाली के उज्ज्वल ललाट पर यह तो सचमुच भारी कलंक है, और सबसे अधिक हमारे मुख पर, कि हम अपने दायित्व का उचित पालन नहीं कर सके।"

तत्पश्चात्, अनिरुद्ध की पीठ को थपथपा वह बोला—"अनिरुद्ध, वैशालिकों ने सदा ही सभी की हानि को अपनी हानि समझा है, आयुष्मती शुचिता के साथ जो कुछ हुआ है, वह तुम्हारा कोई निजी अपमान नहीं, वरन् समूची वैशाली का है और हम सभी के लिए कर्तव्य का आह्वान···।"

आचार्य शिष्य अभी कुछ और कहा चाहता था कि इसी मध्य अनिरुद्ध फफक उठा; बोला—"किन्तु आर्य, ऐसा तो वैशाली में कभी नहीं हुआ, यह तो प्रणय की पुनीत परम्परा के प्रतिकूल आचरण हुआ।"

इस पर आचार्य शिष्य अनिरुद्ध से पूछा चाहता था कि शुचिता जीवित भी है या नहीं, अथवा आवास में ही नहीं है, परन्तु वह इनमें से कोई भी प्रश्न न पूछ सका। क्यों ? क्योंकि इसी के साथ उसके अन्तर का कोई संदेह भाव प्रबल हो उठा था। पीठिका पर बैठते हुए उसके मुख से जैसे स्वतः एक प्रश्न निकल गया। वह पूछने लगा—"अच्छा आयुष्मान, यह तो बताओ कि सामन्त कार्तिकेय ने जब यह समाचार सुना तो उन्होंने कुछ कहा था ? और सुव्रत की हत्या भला कहाँ हुई ?'

अनिरुद्ध बोला—"आर्य, सामन्त कार्तिकेय ने जब समाचार सुना तो उनके मुख से केवल यही निकला—'हा विश्वासघात !' परन्तु कैसा और किसने किया, और किसके साथ, वह सब कुछ कहने से पूर्व ही वह अचेत हो गए, और फिर···।"

यह सुन आचार्य शिष्य के अन्तर में बैठी किसी दृढ़ धारणा को जैसे कुछ अवलम्ब मिल गया। पीठिका से उठ वह बोला—"सामन्त कार्तिकेय को वह सब कुछ बताने की आवश्यकता भी नहीं थी; अनिरुद्ध, यह विश्वासघात तो वैशाली के साथ हुआ है—वैशाली के साथ, और जानते हो किसने किया है ?"

अनिरुद्ध उत्सुकता से आचार्य शिष्य की ओर देख उठा। परन्तु आचार्य शिष्य ने अपने ही प्रश्न का कोई उत्तर न दे, और आगे पूछा—"और इस समय कुमार कीर्तिरथ कहाँ है ? तब कहाँ था ? और, विनिश्चय अमात्य को यह समाचार कब मिला ? और फिर क्या वह स्वयं भी घटना-स्थल पर पहुँचे ?"

अनिरुद्ध इतने प्रश्नों का एक साथ उत्तर भला कैसे दे पाता। परन्तु आचार्य

शिष्य ने भी कदाचित् ये सभी प्रश्न तत्काल उत्तर पाने की दृष्टि से किए भी नहीं थे। और, संभव है कि उसने अपने ही पहले वाले किसी प्रश्न का, अप्रत्यक्ष में अपने इन प्रश्नों द्वारा उत्तर देने का प्रयत्न किया था। अनिरुद्ध ने भी जैसे आचार्य शिष्य के अन्तिम प्रश्न को महत्त्वपूर्ण समझा, अतः उसी का उत्तर देते हुए बोला—"आर्य, आचार्य को यह दुखद संवाद सुनाने स्वयं मैं गया था, परन्तु उन्होने उसमें जैसे कोई रुचि ही नहीं दिखाई। साथ ही बोले—"सुरक्षा प्रधान निष्क्रिय हो उठा है, और नगर व्यवस्था में मेरे साथ कोई सहयोग नहीं कर रहा, अतः अब मेरे लिए इस पद पर बने रहना और भी असम्भव हो गया है।"

विनिश्चय अमात्य ने एक प्रकार से, एक प्रकार से क्या, वरन् स्पष्ट शब्दों में ही आचार्य शिष्य पर दायित्व हीनता, साथ ही अनुशासन भंग का आरोप लगाया था, परन्तु उसे सुनकर भी उसने अपने को न तो अपमानित हुआ अनुभव किया, और न वह उत्तेजित ही हुआ। यह देख यदि अनिरुद्ध को कुछ आश्चर्य हो रहता, तो स्वाभाविक ही था। वैशाली में किसी पर, और वह भी सुरक्षा प्रधान सदृश उच्च पदाधिकारी पर, अनुशासन हीनता का आरोप लगाया जाए और वह भी उसके एक उच्च पदाधिकारी द्वारा, यह कोई कम महत्त्वपूर्ण बात नहीं थी। किन्तु उसे सुनकर भी आचार्य शिष्य इस समय प्रकट में सर्वथा प्रकृतिस्थ ही रहा। अनिरुद्ध को यह अवश्य ही रहस्यपूर्ण लगा, पर वह अपने इस मनोभाव को प्रकट नहीं कर सका। क्यों ? क्यों कि आचार्य शिष्य स्वयं उसका एक अधिकारी था, अतः यदि उसके मन में इस समय कोई जिज्ञासा उठी भी तो वह कुछ भी पूछने में असमर्थ रहा। साथ ही वह उल्टे जैसे सोचने लगा—'यदि विनिश्चय अमात्य ने सुरक्षा प्रधान के सम्बन्ध में यह बात कही भी थी, तो मुझे उन से यह सब कुछ नहीं कहना चाहिए था, विनिश्चय अमात्य चाहते तो स्वयं कह देते, या फिर उन्हें सुरक्षा प्रधान के विरुद्ध यह सब कुछ गणाध्यक्ष के सम्मुख कहना चाहिए था।' आचार्य शिष्य उसकी ओर ध्यान से देख रहा था, और सम्भवतः वह उसके इस मनोभाव को ताड़ भी गया था, तो भी उसने इस प्रसंग में कुछ कहा नहीं। कुछ सोचते हुए-से बोला—"आयुष्मान्, विनिश्चय अमात्य ने तो यह फिर नगरी के शान्त सरोवर सदृश जीवन में पाषाण खण्ड फेंका है।"

अनिरुद्ध को यह प्रत्याक्षेप के समान लगा और 'फिर' शब्द को सुनकर तो वह जैसे चौंक ही उठा। वास्तव में उसे यह सब कुछ रहस्यपूर्ण लगा, और साथ ही उसे अनुभव हुआ कि निश्चय ही इस समय दोनों पदाधिकारियों के मध्य कहीं किसी बात को लेकर गतिरोध है। वह जैसे सोचने लगा—'यह तो वैशाली में निश्चय ही किसी अप्रत्याशित घटना का सूत्रपात होने को है', अतः वह इस बार अपनी जिज्ञासा पर जैसे नियंत्रण रखने में असमर्थ रहा वह; पूछ उठा—"सो कैसे आर्य ?"

किन्तु आचार्य शिष्य की समस्त चेतना इस समय अतर के ही किसी मनोभाव को देखने में व्यस्त प्रतीत हुई। अतः अनिरुद्ध का यह प्रश्न उसके कानों से टकराकर भी, जैसे अनसुना रह गया। आचार्य शिष्य सहसा पूछ उठा—"क्यों आयुष्मान, श्रेष्ठी-पुत्र कप्पिन क्या इस समय वैशाली में ही है ?"

कुछ भी हो, अनिरुद्ध भी एक सुरक्षा अधिकारी ही था, अतः आचार्य शिष्य

के इस अप्रसांगिक प्रश्न पर वह मन ही मन कुछ झल्ला उठा, किन्तु प्रकट में सर्वथा संयत रह उसने उत्तर में कहा—"नहीं आर्य, कल प्रात: ही अपने सार्थ को ले उसने कौशाम्बी की ओर प्रस्थान किया है।"

यह सुन आचार्य शिष्य के मुख पर स्पष्ट ही उदासी उतर आई। किन्तु साथ ही अपने से बोला—'ध्वजधर, यह उदासी का समय नहीं।' फिर अनिरुद्ध की ओर दृष्टि कर पूछा उठा—"श्रेष्ठीपुत्र कप्पिन के सार्थ में क्या अश्व ही अश्व हैं, अथवा कुछ अन्य वाहन भी ?"

अनिरुद्ध इस प्रश्न को कुछ समझा भी, और कुछ नहीं भी; सहज ढंग में बोला—"आर्य, वाहन भी हैं।"

इस उत्तर पर आचार्य शिष्य के उदास मुख पर कुछ संतोष का-सा भाव उभर आया। तत्परता से बोला—"तो फिर आयुष्मान, वह अभी बहुत दूर नहीं पहुँचा होगा, तुम अभी तुरन्त पाँच अश्वारोही, ऐसे अश्वारोही जो तीव्र गति से जा सकें, और साथ ही वे कुशल योद्धा भी हों, प्रस्तुत करो और तब तक मैं... ।"

आचार्य शिष्य तनिक रुक फिर पूर्ववत् तत्परता ही के साथ बोला—"और देखो अनिरुद्ध, मेरे इस आदेश का रहस्य किसी पर भी प्रकट न हो, यहाँ तक कि स्वयं गणाध्यक्ष पर भी; उचित समय आने पर मैं स्वयं ही उन्हें बता दूंगा।"

अनिरुद्ध मस्तक नत कर बोला—"आर्य आश्वस्त रहें, परन्तु आर्य यह तो बताएँ कि श्रेष्ठीपुत्र कप्पिन को क्या सदेश देना है ?"

आचार्य शिष्य तनिक सोच, बोला—'मौखिक कुछ नहीं, उसके पास एक गुप्त पत्र भेजना है, वैशाली को उसकी इस समय अकस्मात् आवश्यकता जो पड़ गई है।"

श्रेष्ठीपुत्र कप्पिन द्वारा देवी शिष्या को मुक्ताहार भेंट किये जाने की बात अनिरुद्ध को विदित थी, परन्तु उसे वह कुछ भी विशेष प्रतीत नहीं हुई, क्योंकि वह उसने संध्या समाज में सार्वजनिक रूप से भेंट किया था। और, उसके साथ उसने जो कुछ कहा था, उसमें भी उसने कुछ विशेष महत्त्वपूर्ण नहीं समझा, बस यही सोचकर रह गया कि देश देशान्तर में अर्जित अपार धन राशि के वैभव को वैशालिकों के सम्मुख प्रदर्शित करने का वह उसका एक अभिनय-मात्र था। किन्तु आचार्य शिष्य पर भी उसकी कुछ प्रतिक्रिया हुई है, यह बात उसके ध्यान में नहीं आई, और आती भी कैसे ? इतना तो वह समझता था कि आचार्य शिष्य देवी शिष्या के नृत्य कौशल से प्रभावित है, पर उसके भी आगे कोई रहस्य हो सकता है यह विचार कभी उसके मस्तिष्क में आया ही नहीं। अतः श्रेष्ठीपुत्र कप्पिन को आचार्य शिष्य द्वारा गुप्त पत्र भेजे जाने का निर्णय अत्यन्त रहस्यपूर्ण लगा। वह आचार्य शिष्य के आदेश का अविलम्ब पालन करने की दृष्टि से कुछ सोचता हुआ कक्ष से बाहर निकल ही रहा था कि आचार्य शिष्य उसे टोक, पूछ उठा—"और आयुष्मान्, भला कुमार सुव्रत की हत्या किस स्थान पर की गई ? उसी के आवास में, या कहीं बाहर ?"

अनिरुद्ध उत्तर में बोला—"आर्य, कुमार सुव्रत उस समय मध्य मण्डल की एक मधुशाला से बाहर निकल ही रहा था कि किसी ने उस पर पीछे से घातक खड्ग-प्रहार किया और वह... ।"

सुव्रत और मधुशाला, आचार्य शिष्य को कुछ आश्चर्य हुआ, बोला—"वैशाली में मधुशालाएं तो प्रौढ़ों के लिए हैं आयुष्मान, और फिर सुव्रत तो मद्यपान से वैसे भी घृणा करता था।"

अनिरुद्ध कहने लगा—"आर्य तथागत के महानिर्वाण पर जो अनेक वैशालिकों ने मद्यपान न करने की प्रतिज्ञा की थी, उसके पश्चात् से मधुशालाओं में तरुणों का ही बाहुल्य हो गया है, क्योंकि वहाँ कोई प्रौढ़ तो जाता नहीं, जो उनको रोके-टोके, अतः वहां उनका निर्द्वंद्व प्रवेश है, फिर गण शासन की ओर से इस सम्बन्ध में कोई ऐसी निषेधाज्ञा भी नहीं कि गण पुरुष उनको साधिकार रोक सकें।"

आचार्य शिष्य बोला—"यह तो निस्सदेह ही वैशालिक कुमारों का ह्रास है; पर हाँ, फिर आक्रमणकारी का क्या हुआ ?"

"वह रात्रि के अन्धकार में भाग खड़ा हुआ, आर्य।"

"तो फिर क्या कुमार सुव्रत के साथ कोई नहीं था ?"

"था आर्य, उसके साथ कुमार जयद्रथ था, परन्तु उसका कहना है कि वह आक्रमणकारी को पहचानने में सर्वथा असमर्थ रहा।"

"तो वह आक्रमणकारी क्या कोई वैदेशिक था ? और, भला उस समय कीर्तिरथ कहाँ था ?"

किन्तु इस प्रश्न के पश्चात् आचार्य शिष्य मानों कुछ सोचने लगा। तनिक रुक, फिर बोला—"अच्छा आयुष्मान, इस समय तो अश्वारोही सन्देशवाहकों की व्यवस्था करो, ये सभी प्रश्न बड़े महत्त्वपूर्ण हैं अतः उसके पश्चात् ही उनके सम्बन्ध में कुछ सोचना सम्भव हो सकेगा।"

तत्पश्चात् अनिरुद्ध ने तो अभिवादन कर प्रस्थान किया, और आचार्य शिष्य पत्र लिखने बैठ गया।

वर्षा जैसे अब थक, रुक चुकी थी।

× × ×

वर्षा को रुके देख, देवी आम्रपाली अपने आसन से उठ खड़ी हुई, और उसे उठी देख, भिक्षु महाली बोल उठा—"देवी यह तो आज ऐसे ही मध्याह्न हो गया ; दीखता है जैसे श्रमणों को आज श्रम से पूर्व ही भिक्षाटन के लिए नगर की ओर निकलना होगा।"

इसके उत्तर में देवी आम्रपाली कहा चाहती थी—'आर्य, जब तुम्हें अभी तक नगर से इतना मोह बना हुआ है, तो फिर भिक्षु संघ में प्रविष्ट ही क्यों हुए, न तुम यहाँ आते और न...।' परन्तु, उसने यह कहा नही, कहा भी नहीं, और आगे की बात सोचने से भी अपने को, जैसे बलात् रोक लिया। भिक्षु महाली जैसे कुछ सोच, बोल उठा—"क्यों देवी, आयुष्मान ध्वज को देवी शिष्या के पास अनुमति के लिए भेज अच्छा ही किया न, अन्यथा वह भी आज यहाँ आ रहता, वैसे ही जैसे ..।"

भिक्षु महाली क्या कहा चाहता था, देवी आम्रपाली वह भली भाँति समझ गई थी, और सम्भवतः कहा चाहती थी कि फिर किसी दिन देवी शिष्या भी भिक्षु संघ में सम्मिलित हो रहती, यही न ? परन्तु फिर उसने यह न कह, कुछ और ही कहा। बोली

—"आर्य, गणसंथागार भवन के जीर्णोद्धार के समय आपका जो उत्साह देखने में आया था, पता नहीं क्यों, वह अब क्यों नहीं दीख पा रहा, अन्यथा मैंने तो यही सोचा था कि वैशाली में स्तूप निर्माण का समाचार सुन आर्य कहीं भी क्यों न हों, यहाँ अवश्य दौड़े आएँगे, सो वह साध तो पूरी हो गई, पर आर्य से जो उत्साह अपेक्षित था, उसे न पा मुझे कुछ खिन्नता ही हुई है।"

भिक्षु महाली दत्तचित्त हो, यह सब कुछ सुनता रहा; साथ ही सोचता भी रहा कि देवी आम्रपाली जो कुछ कह रही है, सत्य ही है, अतः वह मौन रहा। उसे मौन रहे देख, देवी आम्रपाली स्तूप-स्थल की ओर प्रस्थान कर उठी। भिक्षु महाली कुछ क्षणों तक वहीं बैठा सोचता रहा कि भिक्षाटन के लिए प्रस्थान किया जाए, अथवा देवी आम्रपाली के साथ मैं भी स्तूप-स्थल की ओर चलूं। अन्ततः वह देवी आम्रपाली को पुकार, कह उठा—"अच्छा देवी ठहरो, मैं भी तुम्हारे साथ ही चलता हूँ।" फिर उसके निकट पहुँच, वह बोला—"जब तथागत की कृपा से एक बार फिर यह संयोग मिल ही गया तो देवी को खिन्न करूँ, क्या मुझे यह शोभा देगा?"

किन्तु देवी आम्रपाली कुछ न बोली; वह मौन ही रही।

कूटागारशाला से स्तूप-स्थल पर्याप्त अन्तर पर था, तो भी दोनों की चारिका की गति धीमी थी, क्योंकि तथागत ने धीमी चारिका की ही उपदेशना की थी, और कहा था कि तीव्र गति से उदर व्याधियों की तो आशंका रहती ही है, विचारों का प्रवाह भी संयत नहीं रहता। अतः देवी आम्रपाली की चारिका की गति तथागत की उपदेशनानुसार इस समय भी संयत थी, मस्तिष्क में उठते विचार भी, हृदय में उठते भाव भी—वैसे ही संयत थे, जैसे कभी उसकी कला साधना संयत थी, और इससे पूर्व प्रणय भी। महाली को तब तक्षशिला से लौटे कोई एक वर्ष ही बीता होगा, परन्तु इस अल्पावधि में भी वह वैशाली के आबाल-वृद्ध नर-नारियों का प्राण बन चुका था। क्यों? क्योंकि उसने बड़ी-बड़ी ईंटें पथवा, फिर उससे गणसंथागार के विशाल भवन का जिस प्रकार से पुनर्निर्माण कराया था, उससे संथागार का तो स्वरूप भव्य हो ही उठा था, साथ ही स्थापत्य-कला के क्षेत्र में भी उसकी दूर दिगंत तक ख्याति फैल चुकी थी, और उधर उस समय कुमारी आम्रपाली की...। जैसे भिक्षुकी देवी आम्रपाली इस समय अपनी नहीं, किसी और की बात सोच रही थी, और यदि अपनी ही बात सोच रही थी, तो अपने किसी और जीवन की, उसी भाँति, जैसे कि तथागत बहुधा बोधिसत्व रूप में बुद्धत्व पूर्व के जीवन और जन्मों की घटनाओं पर सोचा करते थे। अपनी चारिका की गति और भी धीमी कर देवी आम्रपाली संयत कण्ठ स्वर में बोली—"भन्ते, एक बात कहूँ।"

भिक्षु महाली भी पूर्णतः संयत था; उसका कण्ठ स्वर भी; बोला—"अवश्य कहो देवी।"

देवी आम्रपाली कहने लगी—"भन्ते, गौतम जब बुद्ध नहीं थे, और वह कुमार सिद्धार्थ ही थे तो उनसे देवदत्त भारी प्रतिद्वंद्विता मानता था, और ईर्ष्या भी करता था; भिक्षु संघ में आने और फिर शास्ता का एक अग्रणी शिष्य बन जाने के पश्चात् भी वह अपने अन्तर के इस विकार पर विजय नहीं पा सका, यह तो सभी को विदित

है, और यह भी कि उसका क्या परिणाम निकला ?"

महाली सर्वथा सहज भाव में बोला—"हाँ देवी, जो कुछ तुम कह रही हो सत्य है, अतः ध्यान देने योग्य भी।"

तब देवी आम्रपाली बोली—"सभी विकारों का स्वभाव एक-सा है; इसी से क्या एक बात पूछूं ?"

महाली भी पूर्ववत सहज स्वभाव बोला—"हाँ देवी, अवश्य पूछो।"

देवी आम्रपाली पूछने लगी—"आर्य, क्या सामन्त भंजदेव की प्रतिशोध की विजय से आपने यही समझ लिया था कि आम्रपाली भी विजित हो चुकी है ?"

भिक्षु महाली सर्वथा अविचलित रह उत्तर में बोला—"ऐसा तो नहीं सोचा था।"

"तो फिर, उसके पश्चात् कभी भी अट्टालिका पर क्यों नहीं आए, क्या आपने उस समय यही समझ लिया था कि महानाम कन्या गण नर्तकी की अट्टालिका में जाते ही मन भी बदल चुकी है ?"

"नहीं देवी, ऐसा तो नहीं समझा था, पर हाँ वहाँ जा भी नहीं सका।"

भिक्षु महाली का कण्ठ स्वर कुछ भारी हो आया। आम्रपाली ने पूछा—"क्यों, क्या आम्रपाली से घृणा हो गई थी, या उससे संकोच होता था; या फिर सामन्त भंजदेव का भय था ?"

भिक्षु महाली बोला—"देवी, इन तीनों में से एक भी कारण नहीं।"

देवी आम्रपाली कुछ सोच फिर बोली—"तो फिर हताश हो गए होगे ?"

भिक्षु महाली उत्तर में मौन रहा, उसी भाँति जैसे तथागत स्वीकृति प्रदान करते समय रहा करते थे। देवी आम्रपाली फिर बोली—"हताश हुए, इसीलिए न कि पुरुष का स्वाभाविक दोष प्रबल हो उठा था—अर्थात् नारी पर एकाधिकार का, और आम्रपाली अपनी सुन्दरता के कारण उस परिधि से बाहर फेंक दी गई थी।"

भिक्षु महाली इस बार भी मौन रहा। आम्रपाली ही फिर कह उठी—"और राजा बिम्बसार के साथ हुए मेरे गुप्त विवाह का रहस्य जब आप पर प्रकट हुआ होगा, तब तो आप और भी हताश हुए होंगे ? कदाचित् घृणा भी करने लगे हों; और इसी से फिर आप कभी वैशाली भी नहीं आए।"

भिक्षु महाली इस बार भी मौन रहा चाहता था, किन्तु उसके मुख से हठात निकल गया—"देवी, वह स्वाभाविक था।"

देवी आम्रपाली फिर बोली—"और जब मैं मुख्य भिक्षु संघ में सम्मिलित हो गई तो वहाँ तथागत के दर्शन को भी कभी नहीं आए।"

भिक्षु महाली ने कहा—"देवी, आप यह भी सत्य ही कहती हैं।"

तब देवी आम्रपाली कह उठी—"तो सुनो, राजगृह जाकर भी मुझे बिम्बसार से मिलने की कोई इच्छा नहीं हुई; इसलिए नहीं कि मैं भिक्षु संघ में थी, अतः बाधा थी, वरन् इसलिए कि मैं उसके साथ विवाह तक की बात भूल चुकी थी।"

यह सुन महाली को जैसे भारी आश्चर्य हुआ, पूछने लगा—"क्या विवाह की बात भी कभी भूली जा सकती है, देवी ?"

देवी आम्रपाली उत्तर में बोली—"हाँ आर्य, यदि तुमने भी यह तथ्य स्वीकार न किया होता तो कल आचार्य शिष्य से कभी यह न कहते कि जाओ पहले देवी शिष्या से अनुमति ले आओ; आचार्य शिष्य भी तो विवाहित है, अतः उसे तो मंजरिका से अनुमति लेनी थी।"

भिक्षु महाली सोचने लगा—जैसे वह वास्तव में ही कोई भूल कर बैठा। परन्तु इसी मध्य देवी आम्रपाली कह उठी—"आर्य तुमने वह ठीक ही किया। और, देवी शिष्या तो नारी है न, आचार्य शिष्य भले ही न जाने, और संभव है वह अभी भी आश्वस्त न हो, परन्तु मैंने तो प्रारम्भ में ही जान लिया था कि देवी शिष्या उसकी ओर आकृष्ट हुई है, परन्तु आचार्य शिष्य और मंजरिका के विवाह पर वह प्रसन्न ही हुई होगी, दुःखी नहीं; क्यों, क्या उसे भी एकाधिकार की कामना नहीं हो सकती थी? किन्तु उधर आचार्य शिष्य को देखो! आर्य, कहानी वही रहती है; केवल पात्र बदल जाते हैं, सम्भवतः कुछ स्वरूप भी, परन्तु आधार में वही मानव स्वभाव होता है; वैसे ही जैसे इस स्तूप की आधार शिला में देवी शिष्या की स्वर्ण मंजूषा, और मंजूषा में तथागत के अवशेष, अवशेष पर फिर स्मृति का सृजन, सृजन ही जीवन है और स्मृति उसका आधार, सौन्दर्य का सृजन साधना है, और जो विकृत है, उसकी विस्मृति ही वैराग्य, आर्य मैंने तो जीवन में बस यही सीखा है।"

भिक्षु महाली भी कदाचित् इसके उत्तर में कुछ कहने को उद्यत हुआ; परन्तु तब तक स्तूप-स्थल आ चुका था, और इस समय, वहाँ एक नहीं अनेक, असंख्य वैदेशिकों की भारी भीड़ खड़ी, जैसे उन्ही के आगमन और दर्शन पाने की प्रतीक्षा कर रही थी।

चौंतीस

आचार्य शिष्य पत्र लिखकर उठा ही था कि तभी अनिरुद्ध आ पहुँचा। नत मस्तक हो उसने निवेदन किया—"आर्य, अश्वारोही संदेशवाहक प्रस्तुत हैं।"

आचार्य शिष्य को इस पर कुछ आश्चर्य हुआ, किन्तु साथ ही मुख पर प्रसन्नता भी छा गई। अनिरुद्ध पर दृष्टि केन्द्रित कर वह बोला—"आयुष्मान्, तुम्हारी इस कार्य तत्परता पर मैं जितना भी गर्व करूँ, थोडा ही है; अच्छा पत्र पढ़ोगे ?"

अनिरुद्ध कुछ सोच, बोला—श्रीमन्, पत्र पढ़ने से उसकी गोपनीयता नष्ट हो जाएगी; फिर अनावश्यक विलम्ब भी होगा।"

आचार्य शिष्य ने इस बार तनिक गम्भीर दृष्टि से अनिरुद्ध की ओर देखते हुए कहा—"अच्छा, तो फिर नायक को यहीं कक्ष में लिवा लाओ।"

यह कह, उसने पुनः एक बार ससावधानी पत्र को पढ़ना चाहा कि इसी मध्य मंजरिका पवन के एक झोंके के समान कक्ष में आ पहुँची। उसके मुख पर व्यग्रता व्याप्त थी। यह देख, आचार्य शिष्य को कुछ आशंका हुई, पूछने लगा—"क्यों देवी, देवी रत्नकमल तो सकुशल हैं न ?"

"सो तो सब सकुशल हैं आचार्य शिष्य, परन्तु यह बताओ कि आप इतनी रात्रि गए, सो भी मूसलाधार वर्षा में देवी शिष्या के यहाँ से अकेले क्यो चले आए, देखो तो नगर में क्या कुछ हो गया है ?

मंजरिका अभी भी त्रस्त दीख रही थी। किन्तु, आचार्य शिष्य एक उच्च ठहाका दे हँस पडा, बोला—और तुम डर गईं, भीरु कहीं की।"

आचार्य शिष्य के मन में आया कि वह मंजरिका के कपोल पर एक हल्का-सा चपत लगा दे; पर उसने न जाने क्या सोच ऐसा किया नहीं।

मंजरिका तत्परता से बोली—"सो तो हूँ ही, पर यह तो बताओ कि ...।"

अनिरुद्ध के साथ नायक को आए देख मंजरिका की बात मध्य ही में रुक गई। आचार्य शिष्य ने क्षणिक तो नायक की ओर ध्यान से देखा, फिर उसकी ओर बढ़ते हुए उसके कंधे पर हाथ रख, पदोचित गम्भीर स्वर में बोला—"नायक सुमन्त, आज तुम्हें एक महत्त्वपूर्ण अभियान पर भेजा जा रहा है। देखो, यह पत्र अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है; श्रेष्ठीपुत्र कप्पिन तक इसे पहुँचाना ही होगा।"

नायक सुमन्त मस्तक नत कर आत्मविश्वास की दृढ़ता से बोला—"आर्य आश्वस्त रहें ?"

आचार्य शिष्य उसकी ओर पत्र बढ़ा बोला—"इसे सावधानी से एक बार पढ़

लो, मार्ग में यदि कहीं बाधा समझो तो उसे नष्ट कर देना, नष्ट कर फेंकना नहीं, वरन उदरस्थ कर लेना, यह किसी भी रूप में किसी के हाथ न पड़े; समझे आयुष्मान !"

पत्र उसकी ओर बढ़ा, आचार्य शिष्य ने मंजरिका की ओर दृष्टि फेर उससे कहा—"देवी, तब तक तुम एक पात्र में जल ले आओ ।"

मंजरिका स्पष्ट ही इसी आदेश का अभिप्राय समझ गई थी । अतः वह तत्काल कक्ष से बाहर चली गई; अनिरुद्ध भी अपना सिर नत कर खड़ा हो गया, और जब तक सुमन्त ने पत्र पढ़ा, आचार्य शिष्य उसकी ओर ध्यान से देखता रहा, अन्त में पूछा—"क्यों सुमन्त, सब समझ गए न ?"

'हाँ आर्य, और यदि श्रेष्ठीपुत्र कप्पिन......"

आचार्य शिष्य मध्य ही में हस्तक्षेप कर कह उठा—"वह सब तुम्हें स्वयं करना होगा, जैसा भी उचित समझो करना, संध्या तक हर प्रकार वैशाली वापस आ जाना है ।" यह सुन अनिरुद्ध को कुछ दुविधा-सी हुई, जैसे यह ध्यान करके कि सम्भव है श्रेष्ठीपुत्र कप्पिन कभी इस मध्य अधिक दूर न निकल गया हो, परन्तु सुमन्त के मुख पर आत्मविश्वास की दृढ़ता एवं उसी के साथ उत्साह को देख, वह जैसे मानों आश्वस्त हो रहा ।

सुमन्त जब अभिवादन कर कक्ष से बाहर की ओर चला तो आचार्य शिष्य उसे रोक पुनः पूछ उठा—"सभी सशस्त्र हो न ? और देखो, सब एक साथ नहीं, कुछ अन्तर से रहना, दो आगे और दो पीछे...किसी को भी कोई सन्देह न होने पाए...... सावधान ।"

सुमन्त के प्रस्थान के पश्चात् आचार्य शिष्य की मुख मुद्रा पूर्व से भी अधिक व्यस्त हो उठी । अनिरुद्ध की ओर देख वह बोला—"जब तक पत्र का कोई उत्तर आए, तब तक अनिरुद्ध हमें कुछ आवश्यक कार्य निपटा लेने होंगे, और उनमें प्रमुख यह है कि नगर और उसके उपान्तों में जितने भी वैदेशिक हों, उनकी तत्परता से गणना कर ली जाए । तुम तब तक आवश्यक संख्या में गणपुरुषों को ले इस कार्य को करो और मैं इस मध्य नगर की स्थिति देखता हूँ ।"

अनिरुद्ध प्रस्थान कर उठा, परन्तु आचार्य शिष्य को सहसा कुछ स्मरण हो आया, अतः उसे टोक, कह उठा—"अनिरुद्ध, गणपुरुष यदि नागरिक वेष में ही रहें तो उचित रहेगा न ?"

अनिरुद्ध बोला—"आर्य आप जैसी भी आज्ञा करें, उसका पालन होगा ।"

जब अनिरुद्ध भी चला गया, तो रिक्त हुए कक्ष को देख आचार्य शिष्य के मस्तिष्क में एक विचार उठ खड़ा हुआ, परन्तु उसे इस समय तक जैसे विचारों से भी अरुचि हो गई थी, कोमलता कठोरता में परिणत हो चुकी थी तथा भावुकता दृढ़ निश्चय में । वह तुरन्त नगर की स्थिति का अवलोकन करने को प्रस्थान कर उठा । मंजरिका आई, परन्तु वह उसे इस समय केवल देखती रह गई । वास्तव में, कुछ कहने को उद्यत होकर भी वह इस समय अपने स्वामी को टोक नहीं सकी । गत रात्रि की घटनाओं तथा उनके प्रसंग में स्वामी के दायित्व का ध्यान कर उसे कुछ कहने का साहस ही नहीं हुआ ।

× × ×

और उधर, नगर के उपान्त में स्तूप निर्माण का कार्य नित्य की भाँति आज भी गतिमान हो उठा। दर्शकों की सघन भीड़ को देख देवी आम्रपाली तो प्रसन्न थी ही, पर आज वृद्ध भिक्षु महाली के जर्जर शरीर में भी अदम्य उत्साह का संचार हो उठा था। अतः देवी आम्रपाली का और भी अधिक प्रसन्न रहना स्वाभाविक था, परन्तु फिर भी उसकी दृष्टि यदा-कदा उदास वैशालिकों पर जा टिकती, साथ ही उसे कभी-कभी एक और बात पर भी आश्चर्य हो रहता—वैदेशिकों के मध्य कल जितने मागध दीख रहे थे, आज उतने उसकी दृष्टि में नहीं आ पा रहे थे।

इधर, आचार्य शिष्य अपने आवास से निकल सीधा मध्य मण्डल की उसी मधुशाला पर जा पहुँचा, जहाँ गत रात्रि कुमार सुव्रत की हत्या हुई थी। उसे देख वहाँ खड़ी नागरिकों की भीड़ कुछ हट-सी गई, किन्तु उनके मध्य खड़ा मधुशाला का स्वामी धीरध्वज सहम-सा गया। नागरिकों ने इससे पूर्व आचार्य शिष्य को कदाचित् ही ऐसी गम्भीर एवं संयत मुद्रा में देखा था, अतः वे उसकी ओर देखते रहे, धीरध्वज ने भी देखा, किन्तु उसकी दृष्टि उसकी ओर अधिक टिकी न रह सकी, नत हो रही, वह काँप भी उठा, कंपकंपाते स्वर में कहने लगा—"स्वामी, मेरा तो सर्वनाश हो गया।" आचार्य शिष्य पूछा चाहता था—'सो कैसे ?' परन्तु वह मौन ही रहा, मौन रहे ही उसने धीरध्वज का आपाद शीर्ष अवलोकन किया, किन्तु उचटती दृष्टि ही से, तो भी धीरध्वज जैसे उसकी इस दृष्टि को भी सहन करने में असमर्थ रहा, अन्तर में नासिका से नाभि तक जैसे कोई रेखा-सी खिंच उठी हो, उसे ऐसा लगा, और वह और प्रकम्पित हो उठा। वह पूर्व से अधिक घबराए कण्ठ स्वर में बोला—"स्वामी, उस मातंगपुत्र ने सुकुमार सुव्रत की नही, वरन् मेरी ही हत्या कर दी, हाय आर्य, इस घटना को सुन अब इस मधुशाला में भला कौन आएगा ?"

नागरिक गण उसके इस करुण क्रन्दन को सुन व्यथित-से हो उठे, परन्तु उन्हें साथ ही कुछ आश्चर्य भी हो रहा। केवल कुछ क्षण पूर्व ही वह जिस सीधे स्वभाव रुचि लेता हुआ घटना का आद्योपांत विवरण सुना रहा था, वह सहसा लुप्त हो गया। सभी ने अपने से पूछा—'यह आचार्य शिष्य को देखते ही भला इतना क्यों घबरा उठा ?' परन्तु आचार्य शिष्य पूर्ववत मौन रह, मधुशाला के द्वार तथा फिर उसी के साथ लगे आवास के प्रवेश द्वार के मध्य के अन्तर को माप रहा था—वह कुछ अधिक नहीं था। उस अन्तर को मापता हुआ वह सोच रहा था—'वह आक्रमणकारी, यहीं घात में खड़ा रहा होगा ?' उस द्वार पर खड़े हो आचार्य शिष्य ने विभिन्न कोणों से घटना-स्थल की ओर देखा। धीरध्वज यह देख फिर बोल उठा—"स्वामी, यह आप ही का आवास है ; मैंने तो संध्या होते ही अर्गला लगा दी थी।" किन्तु, इस बार भी आचार्य शिष्य कुछ नही बोला, केवल यह देखता रहा कि ओट लेने योग्य दोनों द्वारों के मध्य भी भला कोई स्थान हो सकता है—एक था, परन्तु वहाँ खड़े हो उसने अपना हाथ घटना स्थल तक फैलाया, और देखा—इतने निकट से घातक प्रहार असम्भव था, अतः केवल द्वार की ओट ही सम्भव है, फिर निरन्तर वर्षा भी होती रही थी, द्वार के नीचे खड़े ; उससे भी सुरक्षित रहा जा सकता था। आचार्य शिष्य ने फिर उसी द्वार पर खड़े ', दृष्टि को विभिन्न कोणों में फैला कुछ देखने का प्रयास किया। वह सोचने लगा—

'मृतक और उसका साथी—दोनों मदिरा-पान के पश्चात् परस्पर सट कर न चले हों—यह असम्भव है; पर घटना के अनुसार दोनों के मध्य अवश्य ही कुछ अन्तर रहा है, कितना भी रहा हो, तो भी मृतक का साथी प्रहार परिधि में आ रहता है, फिर आक्रमणकारी के लिए इतनी तत्परता से भेद करना असम्भव रहा होगा, घटना में अवश्य ही कुछ समय लगा है, तो इस मध्य मृतक के साथी जयद्रथ ने क्या किया ? फिर, इस सीमित स्थलवृत्त में खड्ग-प्रहार शीर्ष पर ही सम्भव था; यदि मृतक मदिरा-पान के पश्चात् तनिक भी होश में रहा होगा तो पहले वार को वह निरस्त्र होते हुए भी विफल कर सकता था, और उसने अवश्य किया होगा, क्योंकि मृतक खड्ग कौशल और द्वन्द्व-युद्ध के सभी घात-प्रतिघातों में किसी से भी बढ़-चढ़ कर था, अतः संघर्ष घटना का अनिवार्य अंग रहा होगा, किन्तु उसके पास कोई शस्त्र था अथवा नहीं, और जयद्रथ जब बच निकला तो वह उस समय अवश्य ही होश में रहा होगा, और जब वह संयत था और मृतक उसका साथी था तो कोई कारण नहीं कि मृतक ने अधिक मात्रा में मदिरा का पान किया हो, और यदि उसने किया था तो उसमें अवश्य ही किसी का अनावश्यक अनुरोध रहा होगा, और उसके इस अनुरोध में किसी की प्रेरणा न रही हो, यह भी असम्भव है; आचार्य शिष्य सम्मुख खड़े मधुशाला के स्वामी से कुछ प्रश्न पूछने को उद्यत हो उठा, परन्तु तत्क्षण उसके पग जैसे स्वतः अश्व की ओर बढ़ लिए। फिर वह वहाँ एक भी शब्द बोले बिना किसी अन्य स्थान की ओर प्रस्थान कर उठा।

यह देख धीरध्वज संशय में पड़ गया और नागरिक चकित हो उठे। सारा वातावरण जैसे अपने में सिमट, अत्यधिक रहस्यपूर्ण हो उठा।

× × ×

अन्ततः देवी आम्रपाली से रहा नहीं गया।

वास्तव में, वह पर्याप्त समय से देख रही थी कि भिक्षु महाली के वृद्ध शरीर में उत्साह का आवेग प्रतिक्षण ही बढ़ता जा रहा है, और उसी के साथ उसके स्तूप रचना व्यस्त हाथ भी अधिकाधिक गतिमान हो उठे हैं। अतः अपने करतल पर रखी गुन्दी मिट्टी को उसकी ओर बढ़ा वह बोली—"भन्ते, अतिरेक से ध्यान में बाधा पहुँचती है और वयस पर प्रतिकूल प्रभाव पड़ता है, भिक्षु-संघ दोनों ही प्रकार की अति के मध्य सन्धि स्थापित कर दीर्घ काल तक सद्धर्म की सेवा करता रहे, ऐसी शास्ता की उपदेशना है।"

तब भिक्षु महाली ने सोचा—'देवी आम्रपाली ने अनुकूल ही कहा है, अतः मैं वैसा ही आचरण करूँ।' देवी आम्रपाली के करतल से उठाई मिट्टी को स्तूप पर इस बार सधे हाथ से स्थापित कर वह बोला—"हाँ देवी, एक भिक्षु समूचे संघ से भिन्न नहीं, और उससे भिन्नता ही विधर्म का आचरण है; वैसे ही, जैसे किसी एक नागरिक के प्रतिकूल आचरण से भी गण विखण्डित हो रहता है।"

इस धर्म-प्रसंग में सहसा गण-व्यवस्था की बात आई देख देवी आम्रपाली शंकित हो उठी। निकट में खड़े जो वैशालिक यह सुन सके, वे भी शंकित हो उठे। वे सभी एक स्वर में कह उठे—"भन्ते, तथागत ने भी तो एक बार वैशाली के सम्बन्ध में ऐसा ही कहा था।"

तब भिक्षु महाली बोला—"देवी, वैशालिकों ने क्या अब भी ठीक ही सुना है?"

यह कह भिक्षु महाली तनिक रुक रहा। कुछ सोच, वह देवी आम्रपाली की ओर देखते हुए पुन: कह उठा—"क्यों देवी, क्या वर्तमान भविष्य का आधार नहीं? वैसे ही; जैसे आज का ध्यान अन्तिम समाधि का, और अन्तत: मानव की सुखद कल्पना-निर्वाण का आधार बन रहता है। तो फिर वैशालिक भी वैसा ही सोच, क्यों न आचरण करें?'

इधर, इसी समय आचार्य शिष्य का अश्व सामन्त कार्तिकेय की अट्टालिका के सम्मुख आ रुका। और उधर, आचार्य वर्षकार अपने प्रासाद की छत पर चढ़ नगर प्राचीर के बाहर चारों ओर, दूर-सुदूर तक, फैली हरीतिमा की मनोहारी छटा देखने में व्यस्त हो उठे; सदानीरा भी दृष्टि परिधि में आ रही। उसे देख वह जैसे चौंक-से गए, अपने ही से बोले—'देखो तो, रात्रि में कुछ वर्षा भी नहीं हुई और सदानीरा में यह बाढ़ ही आ गई; यह तो कोई शुभ लक्षण नहीं, कौन जाने गंगा ने भी इस समय ऐसा ही रूप धारण किया हो, पर वर्षकार भला सदानीरा से गंगा की भी कोई तुलना है, यदि एक गम्भीर है तो दूसरी उच्छृंखल।'

ऐसा आचार्य वर्षकार ने सोचा; किन्तु, वैशालिक तो वैसा नहीं सोचते थे, अत: वह अपने को सावधान कर उठे, और फिर अपने से बोले—'वर्षकार, अभी जैसा सभी वैशालिक सोचते हैं, तू भी वैसा ही सोच।' सोचने लगे—'इन वैशालिकों का विश्वास करना उचित नहीं, यदि कहीं अनिरुद्ध ने सुरक्षा प्रधान बनने की इच्छा और साथ ही यह भी कि मैंने उसे सहायता का वचन दिया है, कहीं किसी के सामने यह बात प्रकट कर दी तो यह सब कुछ एक बालू के घरोंदे की भाँति धराशायी हो रहेगा, और उधर मैं अलग संकट में पड़ रहूँगा, पर मेरा तो कुछ नहीं, हाँ ये अतिथि..."

मस्तिष्क में उठे किसी विचार को मध्य में रोक जैसे उन्होंने अपनी दृष्टि बलात् फिर सदानीरा के प्रवाह की ओर टिका दी। उन्हें लगा, सदानीरा का उफनता प्रवाह तटबन्धों से टकरा उन्हें क्षत-विक्षत करने को कृत संकल्प है, और यदि उसका यह संकल्प सचमुच पूर्ण हो गया तो; तो क्या? कम्मकरों की इस नई बस्ती में निश्चय ही हाहाकार मच उठेगा; और मुख्य नगर में? उनके नेत्र एक स्वप्नद्रष्टा की भाँति किसी भयंकर दृश्य को देख, उसी में डूब रहे। परन्तु, साथ ही मुख पर आत्मविश्वास की-सी दृढ़ता भी उभर आई।

× × × ×

सामन्त कार्तिकेय के प्रासाद का मुख्य प्रकोष्ठ इस समय अनेक गण मान्य नागरिकों से भरा हुआ था। गणाध्यक्ष सिंह सेनापति, देवी रोहिणी, महाबलाधिकृत अखण्ड देव, देवी चारुस्मिता तथा महापौर श्रेणिय रत्न भी देवी रत्न कमल सहित सभी तो वहां उपस्थित थे। तो भी प्रकोष्ठ के पूरे आकार-प्रकार में मानों दिवंगत सामन्त की स्मृति में सर्वथा मौन व्याप्त था। और, कुमार कीर्तिरथ इन सभी के मध्य बैठा, नत शिर किए, जैसे अपनी किसी अपार क्षति पर शोकाकुल हुआ कुछ विचार-सा रहा था। किन्तु आचार्य शिष्य की पग-आहट सुन, जब उसने अपनी दृष्टि ऊपर उठाई तो वह सहसा, एक अबोध बालक की भाँति फूट-फूट कर रो उठा। पर यह सब कुछ सुन कर भी आचार्य शिष्य की मुख-मुद्रा सर्वथा अविचलित रही, जैसे उसे आज विचारों के साथ-साथ भावुकता से भी अरुचि हो गई थी। हाँ, प्रकट में साँत्वना देने के अभिप्राय से वह तत्प-

रता के साथ उसकी ओर अवश्य बढ़ लिया। निकट जा, एक अग्रज की भाँति, आत्मीयता का भाव दिखा, वह बोला—"आयुष्मान्, पितृ वियोग जीवन में सचमुच एक बड़ी क्षति है, और उसकी पूर्ति असम्भव है।"

किन्तु, इसी मध्य उसकी दृष्टि जैसे कुछ खोजने में ही व्यस्त सी रही। प्रकट में उचटती परन्तु सावधानी के साथ उसने कीर्तिरथ के पैरों, उसकी अंगुलियों की ओर देखा और कदाचित् उसकी दृष्टि क्षणेक अंगुष्ठ नख पर स्थिर भी रही। तत्पश्चात्, उसने सहसा कीर्तिरथ का बाम हाथ पकड़, उसकी हथेली को थपथपा कहा—"और फिर आयुष्मान्, यह तो एक प्रकार से अकाल मृत्यु ही हुई है।"

अपने पिता के सम्बन्ध मे अकाल मृत्यु की बात सुन अथवा अन्य किसी कारण से कीर्तिरथ का हाथ कुछ कपकपा-सा गया; परन्तु इसका अनुभव केवल आचार्य शिष्य को ही हो सका। औरों की दृष्टि में उसका यह कम्पन आ ही नहीं पाया। इस पर आचार्य शिष्य ने क्षणेक कीर्तिरथ की ओर जैसे साशय दृष्टि से देखा। यह दृष्टि कुमार कीर्तिरथ को और व्यथित कर उठी, अतः वह पहले से भी अधिक फफक उठा। सभी को ऐसा लगा, जैसे कुमार कीर्तिरथ अपने ऊपर आई इस घोर विपत्ति में केवल आचार्य शिष्य से ही पूर्ण साँत्वना पाने को लालायित हो उठा हो। किन्तु, आचार्य शिष्य अब आगे कुछ और न कह, मौन भाव से निकट ही में पड़ी एक पीठिका पर बैठ गया।

और गणाध्यक्ष सिंह क्या, सभी सुपरिचित जनों को लगा, आचार्य शिष्य ने मानों यह किसी गम्भीर अभिनय का प्रयास किया है। पर, साथ ही गत रात्रि में एक-एक कर घटी तीन दुर्घटनाओं का ध्यान कर उन्होने समझा कि कदाचित् उन्ही का उसके मस्तिष्क पर भारी प्रभाव हो; सम्भव है, वह यहाँ आने की स्थिति में भी न रहा हो, तो भी शिष्टाचारवश चला आया हो। पर, साथ ही उनकी यह भी निश्चित धारणा थी कि आचार्य शिष्य शिष्टाचार का यह आडम्बर कभी नहीं रच सकता। और फिर उसके सकोचशील स्वभाव के लिए यह अभिनय तो एकदम ही असम्भव है; अथवा, आज उसमें यह कोई आकस्मिक परिवर्तन हुआ है। वे सभी यह सब कुछ सोच ही रहे थे कि आचार्य शिष्य पीठिका से उठ, सहसा प्रस्थान कर उठा।

कक्ष से बाहर आ, उसका अश्व पुनः मध्य मण्डल की ओर दौड़ लिया।

उधर, गोधूलि बेला सन्निकट आई देख, आचार्य वर्षकार अपने प्रासाद की छत से नीचे उतर नित्य प्रति की भाँति आज भी पुष्करिणी तट की ओर चल पड़े।

और, आचार्य शिष्य का अश्व इस बार अनिरुद्ध के आवास पर आकर रुका। उसने पहले तो बाहर ही खड़े रह कुछ देखा, कुछ सोचा भी, परन्तु शीघ्र ही जैसे सचेष्ट हो सोचने से अपने को बलात् रोक लिया; मानों सोचने का ध्यान आने मात्र से ही उसे घृणा हो उठी थी। अब वह निस्संकोच भाव से सावेग आवास में प्रविष्ट हो लिया; सम्मुख ही अनिरुद्ध की पत्नी महामाया खड़ी दिखाई दी, उसे देख वह दूर ही से पूछ उठा—"क्यों देवी, क्या मुझे पहचाना ?"

महामाया के नेत्र इस समय जैसे प्रतीक्षा-व्यस्त थे। अप्रत्याशित रूप में आचार्य शिष्य को आए देख वह हतप्रभ हो उठी। उसे देख, कुछ ऐसा भी लगा, जैसे उसे अपने नेत्रों पर ही विश्वास नहीं हो पा रहा था। वह असंभ्रम रही-सी बोली—"हाँ श्रीमन्

पहचान लिया, पर आप तो आज भिक्षु संघ में प्रविष्ट होने वाले थे ?"

आचार्य शिष्य तनिक हँस, उत्तर में बोला—"हाँ देवी होना तो था, किन्तु आज प्रातः उठते ही जब वैशाली की इन अनहोनी घटनाओं के सम्बन्ध में सुना तो फिर विचार स्थगित करना ही पड़ा।" तनिक रुक, जैसे कुछ सोच वह पूछ उठा—"पर देवी आपको यह कैसे पता चला कि मैं सद्धर्म प्रवेश का भी निश्चय कर बैठा हूँ ?"

महामाया तत्परता से कह उठी—"स्वयं स्वामी ने ही तो बताया था श्रीमन्।"

'भला कब'—आचार्य शिष्य ने पूछना चाहा, परन्तु यह न पूछ वह कहने लगा—"हाँ देवी, मैंने यही निश्चय किया था, और कल संध्या मैंने आयुष्मान अनिरुद्ध को यह सब कुछ बता भी दिया था, जिससे वह अपने नए दायित्व के प्रति अभी से सावधान हो जाए।"

यह कह आचार्य शिष्य ने अपनी दृष्टि तनिक ऊपर उठा, महामाया की ओर देखा। देवी महामाया जैसे इस समय अपने अन्तर में उठे प्रसन्नता के भाव के साथ संघर्ष कर उसे प्रकट में आने से बलपूर्वक रोक रही थी। इसी मध्य आचार्य शिष्य अपनी दृष्टि नत कर, एक भारी निश्वास छोड़ते हुए पुनः बोल उठा—"देवी, खेद है कि श्रेष्ठीपुत्री मेरे इस दायित्वभार से कभी भी तो प्रसन्न नहीं हो सकीं। वह श्रेष्ठीपुत्री हैं कदाचित् इसी से; परन्तु मुझे विश्वास है कि आप कभी भी आयुष्मान अनिरुद्ध को उस ओर से हतोत्साहित नहीं करेंगी।"

महामाया बोली—"श्रीमन्, देवी मंजरिका भला क्यों उदासीन रही ? वैशाली में सुरक्षा प्रधान का पद तो अधिकारों की दृष्टि से अत्यन्त गौरवपूर्ण है, इतना गौरवपूर्ण की यदि वह चाहे तो एक बारगी गणाध्यक्ष को भी... ।"

महामाया को सहसा जैसे कुछ ध्यान हो आया, और उसी के साथ वह रुक रही। पर आचार्य शिष्य उसकी अधूरी बात को पूरी करता हुआ कह उठा—"हाँ देवी, यदि वह चाहे तो गणाध्यक्ष को भी बन्दी बना सकता है।"

और, इसी के साथ वह एक ठहाका दे हँस उठा; तत्पश्चात् बोला—"किन्तु देवी, उसके लिए उसे प्रमाण भी तो चाहिएं।"

यह सुन महामाया कुछ लज्जा का-सा अनुभव करती हुई खिन्न हो उठी। खिन्नता से उसके ओष्ठ कोर फैल-से गए। बोली—"नहीं श्रीमन्, मेरा यह अभिप्राय कदापि नहीं था कि किसी को बन्दी बना ही लिया जाए, मैं तो केवल अधिकार की बात कह रही थी।"

परन्तु आचार्य शिष्य ने जैसे यह अनसुना कर दिया। वह पूछने लगा—"क्यों देवी, आयुष्मती शुचिता तो सकुशल है न ?"

देवी महामाया उत्तर में बोली—"हाँ श्रीमन्, वैसे तो सकुशल है, किन्तु वह अभी भी अत्यन्त त्रस्त दीख रही है।"

"सो तो स्वाभाविक ही है देवी; सुरक्षा प्रधान के नाते मैं अत्यन्त लज्जित हूँ; मैं उससे क्षमा माँगा चाहता हूँ।" यह कह आचार्य शिष्य ने ऊपर नभ में, नीचे की ओर ढुलकती सूर्य-किरणों की ओर देखा; निश्चय ही विलम्ब हो रहा था, फिर भी उसने अन्दर कक्ष में जाना आवश्यक समझा। वह महामाया के पीछे-पीछे चल पड़ा।

आयुष्मती शुचिता अभी भी शय्या पर पड़ी थी। उसके केश बिखरे हुए थे तथा नेत्र सूज कर लाल हो चुके थे। आचार्य शिष्य को देख उसने जैसे आत्म ग्लानि का अनुभव किया। अपने नेत्रों को हाथों से ढांप वह एक दम ही तो रो उठी। उसे रोया देख, आचार्य शिष्य का हृदय भी जैसे अपने पर नियन्त्रण न रख सका। वह भारी संताप का अनुभव कर उठा, मन बोझिल हो रहा, परन्तु शीघ्र ही संयत हो बोला—"आयुष्मती, घबराओ नही; यह वैशाली के उज्ज्वल ललाट पर भारी कलंक लगा है, अपराधी को खोज उसे अवश्य ही कटोर दण्ड दिया जाएगा। पर यह तो बताओ आयुष्मती, क्या वह कोई वैशालिक ही था?"

कुमारी शुचिता किसी प्रकार अपनी सुबकियों को रोक, अपने नेत्रों पर हाथ रखे ही कह उठी—"बंधुवर, वह निश्चय ही वैशालिक नही था।'

यह सुन आचार्य शिष्य का मुख सहसा निस्तेज हो उठा; किन्तु नेत्रों में जैसे प्रसन्नता उभर आई, मानो उसे कुछ मिल गया हो। अब उसके लिए जैसे वहां अधिक खड़ा रहना असम्भव हो गया, तो भी उसने देवी महामाया की ओर दृष्टि कर पूछा —"और देवी, उस समय आप कहाँ थीं; और भला उसने आवास में अन्दर कैसे प्रवेश किया; क्या इस सम्बन्ध मे आप मुझे कुछ बता सकोगी?"

महामाया ने उत्तर से पूर्व अपने को जैसे कुछ सम्हाला-सा; फिर बोली—"आर्य, घटना इस प्रकार हुई कि स्वामी के जाते ही मैंने मुख्य द्वार की अर्गला लगा दी थी। उनके प्रस्थान के पर्याप्त समय पश्चात् कोई व्यक्ति आया और उसने स्वामी का नाम ले पुकारा। उस समय मैं अपने ही कक्ष में थी। तब वर्षा तो हो ही रही थी, फिर भी मैं शिष्टाचार वश शय्या से उठ खड़ी हुई। मैं द्वार की ओर जा ही रही थी कि इसी मध्य मुझे लगा, आयुष्मती उस आए व्यक्ति को कुछ उत्तर दे रही है, अतः मैं आश्वस्त हो पुनः शय्या पर आ लेटी; बस लेटी ही थी कि आयुष्मती आतंकित कण्ठ स्वर में मुझे पुकार उठी। यह सुन मैं सावेग उसी ओर दौड़ ली, परन्तु इसी मध्य उस उद्दंड व्यक्ति ने आयुष्मती को अपने आलिंगन में दबोच लिया, और आयुष्मती के मुख को भी उसने बलात् अपने करतल से ढाँप लिया, किन्तु उसके पश्चात् भी आयुष्मती उससे द्वंद्व करती रही; मैं क्षणेक तो उसकी ओर देखती रह किंकर्त्तव्यविमूढ़ की भाँति खड़ी रही, परन्तु फिर तत्परता से उसकी ओर लपक मैंने उसी के कोष से खड्ग खींच लिया; और अपने को निरस्त्र हुआ देख वह... ।"

महामाया अभी कुछ और बता ही रही थी कि आचार्य शिष्य मध्य ही में सोत्साह पूछ उठा—"और देवी, वह खड्ग इस समय कहाँ है?'

"वह यहीं है, श्रीमन्" यह कह वह कदाचित् उसे लेने ही तत्परता से अपने कक्ष की ओर चली गई। और, आचार्य शिष्य शुचिता के मुख पर रखे उसके हाथों को हटा कहने लगा—"आयुष्मती घबराओ नही, देवी महामाया ने तो यह निश्चय ही पुरस्कार पाने योग्य कार्य किया है, और... ।"

इसी मध्य देवी महामाया उस नग्न खड्ग को ले वहाँ आ पहुँची, आचार्य शिष्य ने उत्सुक दृष्टि से उसकी ओर देखा, और खड्ग को हाथ में लिए बिना ही जैसे उसे पहचान भी लिया। तत्पश्चात्, कोष से अपना खड्ग निकाल महामाया की ओर बढ़ा

वह बोला—"देवी, वह आप मुझे दे दें, और सुरक्षा प्रधान का यह खड्ग आज से आप अपने हाथों में ले ले, परन्तु इस दायित्व के साथ कि यदि इस आवास से बाहर निकल कर भी तुम्हें वह चलाना पड़े, तो तुम उससे भी विमुख नहीं होगी।"

देवी महामाया उसकी ओर हतप्रभ हुई-सी देखती रह गई, किन्तु इस बार आचार्य शिष्य उसकी ओर सीधी दृष्टि कर, तत्पश्चात अपना मस्तक नत करते हुए बोल उठा—"देवी, मैं आपके इस साहसपूर्ण कार्य के लिए आपका अभिवादन करता हूँ; यदि कल समूचो वैशाली भी इसी प्रकार आपके सन्मुख नत मस्तक हो आपका इस प्रकार अभिवादन कर सके तो वह निश्चय ही वैशाली का, केवल वैशाली का ही नहीं, वरन् समूचे वज्जिसंघ का सौभाग्य होगा, और सौभाग्य होगा उस महान आदर्श का जिसके लिए...।"

आचार्य शिष्य फिर सहसा मध्य ही में रुक रहा। उसे लगा, जैसे अब एक-एक क्षण का भी विलम्ब अनुचित होगा। अतः वह तुरन्त प्रस्थान के लिए उद्यत हो उठा, चलते-चलते फिर एक बार देवी महामाया की ओर मुड, सविनय दृष्टि से उसकी ओर देखते हुए वह बोला—"देवी, अपने साहस के प्रतीक इस खड्ग को इस प्रकार ले जाने पर आप दुःखी न हों, यदि संभव हो सका तो वह कल गणसंथागार के एक ऐसे स्थान पर रखा जाएगा, जहां सभी उसे भलीभांति देख सकें, और साथ ही यह भी समझ सकें कि वह किस बात का प्रमाण है, आज यह खड्ग इस बात का प्रमाण है कि·········।"

"किस बात का आर्य ?" महामाया के मुख से जैसे यह प्रश्न उत्सुकतावश हठात निकल गया। वास्तव में, उसके मुख पर इस समय तक भारी जिज्ञासा का भाव स्थिर हो उठा था।

आचार्य शिष्य प्रस्थान करते हुए बोला—'देवी, समय आने पर यह खड्ग न जाने क्या-कुछ रहस्य खोलेगा, परन्तु इस समय तो वह दुविधा से जैसे मौन ही है, संभव है त्रस्त भी हो, पर कल जब वह निर्द्वंद्व हो उठेगा तो सब कुछ बता देगा।"

किन्तु देवी महामाया की दृष्टि इस समय आचार्य शिष्य के पगों पर स्थिर थी, उनके गत्यावेग को देख, एक बारगी वह भी त्रस्त हो गई, परन्तु अगले क्षण ही जब उसे अपने हाथ में सुरक्षा प्रधान के खड्ग का, तथा साथ ही उसके आह्वान का ध्यान हो आया तो वह शुचिता की शय्या की ओर मुख कर जैसे उत्तेजित हो बोली—"आयुष्मती शुचिता, अब उठेगी भी कि ऐसे ही भयभीत हुई पड़ी रहेगी।"

पैंतीस

आचार्य वर्षकार ने जो सोचा था, जैसे वही हुआ।

सदानीरा की उद्दंड लहरें तटबन्धों को तोड, अन्ततः नए उपान्त की ओर बढ़ ही तो निकलीं।

उधर दिवस की यात्रा समाप्त कर, थका मांदा सूर्य अपनी फीकी आभा के साथ वैशाली की स्वर्ण, रजत एवं ताम्र कलशों युक्त ऊंची, भव्य अट्टालिकाओं की ओर निहार उठा। पर आज उसे लगा जैसे समूची नगरी ही किसी भारी संताप में आकण्ठ डूबी हुई है; सामन्त कार्तिकेय की मृत्यु एवं कुमार सुव्रत की हत्या के शोक में देवी शिष्या ने भी आज संध्या समाज स्थगित ही रखा, अतः जो मुख्य राजपथ एवं वीथी-विशेष और फिर उसका एक विस्तृत प्रांगण संध्या बेला को आया देख रंगारंग हो, असंख्य पौरजनों की चहल-पहल से गूंज उठता था, वह भी सूना ही दीख पड़ा। वैसे भी, देवी शिष्या का मन भी आज न जाने क्यों उचाट था; अट्टालिका के सभी कक्ष ही तो उसे उदास दीख पड़े, अतः वह बाहर निकल, वाटिका के उसी शिलाखण्ड पर आ बैठी, जहां कभी प्रारंभ में आचार्य शिष्य भी उसके पास आ बैठा करता था। किन्तु उसे वहां बैठे अभी कुछ ही क्षण बीते होंगे कि स्वयं शंबुक उसके सम्मुख आ खड़ा हुआ, फिर नत मस्तक हो बोला—"देवी! आपकी सेवा में आचार्य शिष्य ने अभिवादन निवेदन किया है।"

यह सुन देवी शिष्या को कुछ आश्चर्य हुआ, कदाचित् स्वयं शंबुक के आगमन पर, पर साथ ही उसके मन को लगा, जैसे उसे फिर भी कुछ मिल गया है। सोल्लास पूछने लगी—"और वह आस्थानागार में ही हैं न?"

शंबुक ने अपनी दृष्टि तनिक ऊपर उठा, कहा—"देवी, वह आये थे, परन्तु तुरन्त ही लौट भी गए, और आपकी सेवा में यह खड्ग प्रस्तुत करने को कह गए हैं।"

"खड्ग प्रस्तुत करने को कह गए हैं," ये शब्द शंबुक के थे, पर आचार्य शिष्य ने क्या कहा होगा, उसका अनुमान लगा, जैसे आचार्य शिष्य की ध्वनि में ही वे शब्द उसके कानों में, और फिर उसी के साथ समूचे अंतस्तल में गूंज उठे। सम्मुख खड़े शंबुक से वह अपनी उसी व्यग्रावस्था में कहा चाहती थी—'शंबुक, आज न जाने क्यों मेरा मन अत्यन्त उचाट है।' परन्तु न जाने क्यों वह इसमें भी कुछ संकोच का अनुभव कर उठी; कुछ सोच फिर जैसे सप्रयास बोली—'शंबुक, भला तुम उन्हें यहां क्यों नहीं लिवा लाए?"

शंबुक नत मस्तक हो बोला—"देवी, वह आज अत्यन्त व्यस्त दीख रहे थे, संभव है उन्हें आज इस समय अवकाश न रहा हो।"

"क्या वह उदास भी दीख रहे थे ?"

"नहीं देवी, उनके मुख पर तो स्पष्ट ही आत्मविश्वास की दृढ़ता थी।"

देवी शिष्या शिलाखण्ड से उठ, बोली—"शंबुक फिर तुम्हें निश्चय ही भ्रम हुआ होगा, या फिर......।"

आगे की बात उसके मुख से निकल ही नहीं सकी। वह अपने ही से बोली—'अरी, यह तो सचमुच भावातिरेक हुआ।'

देवी शिष्या अब तक केवल तथ्यों को ही उनके यथारूप में ग्रहण करने की अभ्यस्त थी, और अनुमानों को उसने सदा ही त्याज्य समझा था, परन्तु आज उसे लगा, जैसे ये सभी तनिक-सा अवसर पा एक साथ ही उसके ऊपर टूट पड़े हैं। वह सोचने लगी—'कल ही तो वह कमल पुष्प लेकर आये थे और आज यह एक खड्ग दे गए। क्यों ? उनमें से यदि एक अलंकार है तो दूसरा......।'

उसे विश्वास था कि आचार्य शिष्य ने जो कुछ कहा होगा, शंबुक ने निश्चय ही वह सब कुछ बता दिया है; फिर भी, जैसे उसे आज शबुक पर विश्वास नहीं हुआ, पूछने लगी—"क्यों शंबुक, आचार्य शिष्य ने कुछ और तो नहीं कहा था ?"

शबुक ने यथापूर्व ही नत मस्तक रह कहा—"नहीं देवी, उन्होंने और कुछ भी तो नहीं कहा।"

जिस संध्या बेला में अन्य दिनों देवी शिष्या का मुख अधिकाधिक दीप्त हो रहता था, आज उसी में उसके मुख पर उदासी की गहरी छाया पड़ती-सी दीखी। कक्ष की ओर बढ़े प्रथम पग के साथ ही वह पूछने को उद्यत हो उठी—'क्यों शबुक, तो क्या यह खड्ग उन्होंने आत्महत्या को भेजा है ?' किन्तु उसने ऐसा पूछा नहीं। क्यों ? क्योंकि उसे विश्वास था कि आचार्य शिष्य कभी ऐसा नहीं कह सकते। वह अपने से बोली—'क्या मैं उन्हें अब तक इतना भी नहीं समझ पाई हूँ।' किन्तु फिर दूसरे पग के साथ एक दूसरा ही प्रश्न उसके मस्तिष्क से आ टकराया, फिर तीसरा, चौथा; और, सदा संयत दीखने वाली देवी शिष्या एक नहीं अनेक प्रश्नों का, किसी अन्य के नहीं, वरन अपने ही प्रश्नों का उत्तर पाने को व्याकुल-सी हो उठी।

आचार्य शिष्य किसी को व्याकुल देखे, और वह दुखी न हो, यह उसका स्वभाव नहीं था, परन्तु यदि आज उसने कहीं देवी शिष्या को इसी मनोदशा में देख लिया होता तो वह निश्चय ही प्रसन्न हो रहता। क्यों ? क्योंकि उसकी इस व्याकुलता को देख एक तो वह आश्वस्त हो रहता, और फिर उसी के साथ वह उस विशेषाधिकार को प्राप्त हुआ अनुभव कर उठता, जो सहज ही में किसी को अपने आलिंगनपाश में खींच, दबोच, और अन्ततः दुलार आत्मसात् करने के लिए प्रेरित कर रहता है। पर आचार्य शिष्य इससे सदा वंचित ही रहा। क्यों? क्योंकि उसकी दृष्टि में देवी शिष्या अत्यधिक सौम्य थी, और कदाचित उसके इसी सौम्य रूप के सम्मुख वह कभी जी भर अपने मन की बात प्रगट न कर सका, तो भी अपने इस संकोच पर वह आज खिन्न नहीं था, और यदि था भी तो उसे आज इतना अवकाश ही कहां था, जो

वह पुनः उसी प्रसंग पर सोचता, जिसके प्रवाह में उसने अपने को मन-ही-मन बार-बार आश्वस्त हुआ अनुभव किया था, और उससे भी अधिक बार उसे अपने मन की केवल एक भ्रांति समझ अततः अपनी ही किसी मूर्खता पर हँस रहता था। अतः आज देवी शिष्या व्यर्थ ही मे व्याकुल हुई, क्योंकि इस समय आचार्य शिष्य का अश्व तो अट्टालिका से न जाने कितनी दूर—यद्यपि नगर परिधि मे ही—फिर भी, दृष्टि छाया से बहुत दूर निकल चुका था। वास्तव में, वह इस समय जयद्रथ के आवास की ओर जा रहा था कि मार्ग ही मे अनिरुद्ध मिल गया। अनिरुद्ध की धारणा थी कि आचार्य शिष्य मिलते ही कहेंगे—'क्यों अनिरुद्ध, इस कार्य में और इतना समय?' उसने भी सोचा—'यदि वह यह कहेंगे तो मैं भी कह दूंगा, प्रातः ही से निराहार हूँ, और आपने मुझे गणना का यह क्या ही विचित्र कार्य सौंप दिया।' पर उसने यह सब कुछ व्यर्थ ही सोचा, क्योंकि जब वह आचार्य शिष्य के सम्मुख आया तो आचार्य शिष्य ने पहले तो एक छिद्रान्वेषक की-सी गूढ़ दृष्टि से उसका जैसे आपादशीर्ष अवलोकन किया, और फिर अपने पदोचित गम्भीर दृढ़ स्वर मे आदेश किया—"अनिरुद्ध, जयद्रथ सहित सभी को तत्काल बंदी बना लिया जाए।"

यह आदेश सुन अनिरुद्ध स्तब्ध रह गया; जैसे उस पर कोई वज्र प्रहार हुआ हो। किन्तु वह शीघ्र ही सयत हो बोला—"आर्य, क्या कुमार कीर्तिरथ को भी?"

"हां, क्यो नहीं?" आचार्य शिष्य ने दृढता से कहा।

"पर वह तो इस समय पितृ वियोग से • • •।"

आचार्य शिष्य उसे मध्य ही में रोक कह उठा—"पर उससे क्या, कीर्तिरथ ने केवल सुव्रत की ही हत्या नहीं की, वरन् अपने पिता की अकाल मृत्यु के लिये भी तो वही दोषी है।"

यह कह वह तनिक रुका, कुछ सोचता-सा रहा, फिर अपने स्वाभाविक गभीर स्वर में बोला—"और अनिरुद्ध इस समय मैं गणाध्यक्ष के दुर्ग की ओर जा रहा हूँ, इस आदेश पालन के पश्चात् तुम भी वही अपने को प्रस्तुत करो।"

और, तत्पश्चात् आचार्य शिष्य पवन के एक प्रबल झोंके की भाँति दुर्ग की ओर बढ लिया। अनिरुद्ध कुछ क्षणों तक तो खड़ा कुछ सोचता-सा रहा, और फिर उसने अपना अश्व भी उसी दिशा में दौड़ा दिया, आचार्य शिष्य के अश्व की गति से भी अधिक तीव्र गति के साथ, अंततः उसका अश्व आचार्य शिष्य के अश्व से आगे निकल गया; केवल आगे ही नहीं, वरन् आचार्य शिष्य के अश्व के सम्मुख आ उसने उसका मार्ग भी रोक लिया। आचार्य शिष्य भी पूरी शक्ति से अश्व की वल्गा को खीच, रुक, खडा हो गया। और, उसका रिक्त हाथ जैसे सावधानीवश स्वतः ही तत्परता से खड्ग कोष पर जा पड़ा। उधर, अनिरुद्ध ने भी इसी मध्य अपना अश्व सर्वथा आचार्य शिष्य के अश्व से सटा लिया। किन्तु, जब तक आचार्य शिष्य कोष में से खड्ग खीचे, अनिरुद्ध ने अश्व पीठ पर बैठे-बैठे ही अपना मस्तक नत कर, कातर-प्राय स्वर में कहा—"आर्य, मैं भी अपराधी हूँ।"

आचार्य शिष्य के मुख से एक भारी सांस निकल संध्या के झुरमुटे में विलीन हो गई। फिर, अपने सहायक की ओर देखते हुए वह तनिक सोच, बोला—"अनिरुद्ध

मुझे वह भी विदित है, परन्तु आज मैं देवी महामाया से उपकृत हुआ हूँ, अतः इसी से कुछ सोच गया।"

अनिरुद्ध ने अपना शीर्ष पूर्व से भी अधिक अवनत कर कहा—"आर्य, यह विश्वासघाती क्षमा की याचना करता है, अपने जीवन के लिए नहीं वरन् वैशाली की रक्षार्थ।"

"पर अनिरुद्ध, उसके लिए मैं आश्वस्त हुआ चाहता हूँ। जानते हो, आयुष्मती शुचिता के साथ वह धृष्टता किसने की है?" अंतिम वाक्य के समाप्त होते-होते आचार्य शिष्य का कण्ठ स्वर क्रोधाविष्ट हो रहा और समूचा मुख तमतमा उठा। अनिरुद्ध ने संभ्रम दृष्टि से उसकी ओर देखते हुए कहा—"नहीं तो आर्य!"

आचार्य शिष्य आवेशित कण्ठ स्वर में ही बोला—"तो सुनो, वह कांड तुम्हारे ही विश्वासघात के कारण हुआ है। और जानते हो, वह किसी वैशालिक का ही खड्ग लेकर आया था।"

यह सुन अनिरुद्ध का समूचा मुख भी सहसा तमतमा उठा। सावेश बोला—"आर्य आश्वस्त रहें, मैं भी उसका प्रतिशोध अवश्य लेकर रहूँगा।"

आचार्य शिष्य जैसे आश्वस्त हो रहा, और फिर वह कुछ भी कहे बिना पूर्व की ही तीव्र गति से दुर्ग की ओर दौड़ लिया।

यह शरद् ऋतु थी, वह ऋतु, जिसमें दिवस ने इधर संध्या के आंचल में मुँह ढांप विश्राम के लिए पैर पसारे नहीं कि, बस उधर सर्वत्र अंधकार छा रहता है। फिर यह कृष्ण पक्ष का उत्तरार्द्ध भी था, और आज गण महानगरी वैसे ही शोक संतप्त थी। रात्रि की गहनता ने शीघ्र ही जैसे भयावह रूप ग्रहण कर लिया, किन्तु उसकी इस विकरालता में भी यदि एक ओर आचार्य शिष्य का, तो दूसरी ओर उसके सहायक अनिरुद्ध का अश्व सरपट दौडता जा रहा था; और उससे भी अधिक गति से दोनों ही के मस्तिष्कों में विचारों का प्रवाह गतिमान था।

इधर अनिरुद्ध का अश्व यदि नगर के मुख्य द्वार पर आकर रुका तो आचार्य शिष्य का अश्व गणाध्यक्ष के दुर्ग में प्रविष्ट हो रहा। वहाँ इस समय केवल गणाध्यक्ष ही नहीं वरन् उनके पास ही महाबलाधिकृत अखण्ड देव भी विराजमान थे, और उनकी उस समय की मुख मुद्राओं को देख कुछ ऐसा प्रतीत हो रहा था, जैसे दोनों ही किसी गूढ़ मन्त्रणा मे व्यस्त थे। गणाध्यक्ष के हाथ में इस समय एक ताड़पत्र भी था। उधर, नगर द्वार पर जा अनिरुद्ध प्रधान द्वारपाल को दूर ही से देख, उसे सावधान कर उठा। साथ ही, द्वार को तुरन्त बन्द करने का आदेश कर वह फिर अश्वारूढ़ हो उसी गत्यावेग से नगर की ओर लौट लिया। और, मार्ग में जो भी गण पुरुष मिला, उसे भी सावधान करता चला। वह स्वयं भी अत्यधिक सावधान हो उठा।

गणाध्यक्ष सिंह आचार्य शिष्य द्वारा प्रस्तुत खड्ग को देख कुछ चकित हुए। साश्चर्य बोले—"यह एक मागध के हाथ में था! परन्तु आयुष्मान, यहीं क्यों कि वह वैदेशिक एक मागध ही था?"

आचार्य शिष्य इस समय स्पष्ट ही कुछ खीझ-सा गया, तथापि सहज भाव में

बोला—"बन्धुवर, अब आप इस प्रमाण के मोह में न पड़ें, प्रमाण खोजते-खोजते ही तो अन्ततः यह स्थिति आ उपस्थित हुई है, यदि अब उसका और मोह किया गया तो फिर बन्धुवर वैशालिकों के मुख पर कलंक लगा हुआ ही समझो।"

"इसका अभिप्राय, आयुष्मान् ? देखो, मेरे पास अभी-अभी मगध ही से प्रधान अमात्य आर्यवर गोपाल का यह पत्र आया है, और उसमें उन्होंने लिखा है कि राजा अजातशत्रु तथागत की पुण्य स्मृति में बन रहे तीर्थ स्थल तुल्य स्तूप के दर्शन किया चाहते हैं, यदि गण शासन उसकी अनुमति प्रदान कर दे तो मगध राज्य की समूची जनता उससे अपने को अत्यन्त उपकृत हुआ मानेगी। साथ ही, सम्राट की इस वैशाली यात्रा से दोनों पड़ौसी राज्यों के मध्य के सम्बन्धों में भी सुधार होगा, और फिर किसी दिन यह राजगृह नगरी भी तो वज्जी संघ के गणाध्यक्ष का स्वागत कर, अपने को धन्य हुआ मानेगी।"

आचार्य शिष्य ने पत्र को अत्यन्त ध्यान से सुना, और जो कुछ सुना उससे वह अपने ही किसी निर्णय के प्रति जैसे सदिग्ध हो उठा। पर, साथ ही उसे पत्र पर भी विश्वास नहीं हो पा रहा था, परन्तु उसी के साथ उसे अपने में अविश्वास का कोई स्पष्ट कारण भी नहीं दीख पड़ा। अतः वह पुनः दुविधा में पड़ गया, वैसी ही दुविधा में, जिससे आज प्रातः ही तो उसे जैसे मुक्ति मिली दीख पाई थी। वह निराश हो गया। फिर भी बोला—"बन्धुवर, मन में न जाने कब से एक भय बना हुआ था, जो आज सत्य होकर ही रहा। बन्धुवर, इस प्रमाण के अभाव में ही तो मैं आज तक व्यर्थ में एक रहस्य को छिपाता रहा। आर्यवर, जानते हो वह रहस्य क्या था ? श्रद्धास्पद, देवी आम्रपाली के आगमन के दिन ही जो चार मागध यत्रकों की हत्या हुई थी, वह केवल संयोग वश नहीं वरन् योजना बद्ध थी और उसमें आचार्य वर्षकार का भी हाथ था।"

यह सुन गणाध्यक्ष हतप्रभ रह गए। आचार्य शिष्य ने जो कुछ कहा, उस पर उन्हें विश्वास नहीं हुआ; वह सावेश बोले—"आयुष्मान्, तुम यह कह क्या रहे हो ? क्या यह शासन में भेद डालने का प्रयास नहीं हुआ ?"

आचार्य शिष्य नत मस्तक हो बोला—"बन्धुवर, इसी आरोप की तो मुझे पहले भी आशंका थी, और इसी कारण, प्रमाण के अभाव में, मैं इस रहस्य को प्रकट करने में असमर्थ रहा। वास्तव में वह मेरी अनुभूति है, उसके कारण दुविधा भी रही, उसी दुविधा में मैं इतने दिनों तक एक विक्षिप्त की भाँति घूमता भी रहा, घूमता रहा इस आशा से कि कदाचित् किसी दिन कोई प्रमाण मिल जाए; यद्यपि वह प्रमाण मेरे पास आज भी नहीं है, पर अब मैं अपनी अनुभूति में और सदेह करूं, मेरी यह सामर्थ्य भी नहीं रही। आज तो आपको मेरी अनुभूति पर ही विश्वास करना होगा, अन्यथा कह दो बन्धुवर कि मैं वैशालिक नहीं, वरन् वैशाली का कोई शत्रु हूँ।"

आचार्य शिष्य के अन्तिम वाक्य को सुन गणाध्यक्ष सिंह को जैसे सहसा कुछ स्मरण हो आया, आचार्य बहुलाश्व का पत्र उनके नेत्रों के सामने स्थिर हो गया, परन्तु साथ ही वह सोचने लगे—'यह भी कैसी विचित्र बात है !' प्रकट में वह कुछ कहने को भी उद्यत हो रहे, परन्तु इसी मध्य महाबलाधिकृत पीठिका से उठ, बोले—"और तुम्हारी इस पत्र के सम्बन्ध में क्या धारणा है, बन्धुवर आचार्य शिष्य ?"

आचार्य शिष्य ने उत्तर में पहले तो कुछ सोचा, सोचा कि जब एक बार दोषारोपण हो ही चुका तो फिर मैं अपने ही मे भला क्यो संदेह करूँ; अतः वह जैसे सविश्वास बोला—"बन्धुवर, वह निश्चय ही एक प्रपच है। मेरा निष्कर्ष है कि मगध राज अजातशत्रु इस समय यही वैशाली मे, आचार्य वर्षकार के प्रासाद मे है।"

यह सुन दोनो ही चकित हो रहे। किन्तु साथ ही गणाध्यक्ष तत्परता से पूछ उठे—"और यदि नही हुए तो, आयुष्मान ?"

"बन्धुवर, यह निर्णय करना आपका दायित्व है, मेरा दायित्व अपना निष्कर्ष प्रकट करना था, और वह मैने कर दिया।"

आचार्य शिष्य के मुख पर इस बार जैसे निर्द्वन्द्व आत्मविश्वास की दृढ़ता छा उठी।

इधर, आचार्य वर्षकार इस समय अपने निजी कक्ष में चारिका व्यस्त थे। उसी कक्ष में पीठिका पर एक व्यक्ति भी विराजमान था। सहसा उस व्यक्ति की ओर दृष्टि कर वह बोले—"सम्राट्, अब एक क्षण का भी विलम्ब न केवल साम्राज्य के लिए वरन् हमारे जीवन के लिए भी घातक है, दुर्ग को भेजे गए दूत का अब तक न लौटना निश्चय ही इस बात का द्योतक है कि उसे वहा संदेह में रोक लिया गया है। सम्राट्, आप इस अज्ञात-कुल सुरक्षा प्रधान को कम कुशल न समझें, मगध साम्राज्य के नाम पर जो चार युवकों की बलि कराई गई थी न, उसमे मेरी भी प्रेरणा हो सकती है, इसका आभास वह पहले ही दिन पा गया था, परन्तु यह वैशाली की न्याय व्यवस्था ही थी कि प्रमाण के अभाव में वह आपके इस विनीत सेवक का कुछ भी न कर सका उसके हाथ तो मुझे बंदी बनाने से रुके ही रहे, मेरे विरुद्ध मुह भी बन्द रहा। पर, आज उसे इस समय तक सब रहस्य प्रकट हो चुके हैं, कदाचित् कोई प्रमाण भी मिल चुका है, अतः सम्राट अब आप उठे, और प्रासाद के पृष्ठ भाग में एकत्र साम्राज्य के सैनिकों का आह्वान करें, गुप्त शस्त्रागार से मैं उन्हें कभी का शस्त्र प्रदान कर चुका हूँ, और वे अब युद्ध के लिए पूर्णतः सन्नद्ध हैं।"

सम्राट् सोल्लास पीठिका से उठ, बोले—"तो आर्यवर, फिर साम्राज्य का यह विनीत सेवक भी प्रस्तुत है; आप भी आगे बढ़ मेरा मार्ग-दर्शन करे।"

आचार्य वर्षकार का अन्तर उत्साह से हिलोर उठा; मुख भी खिल उठा, और नेत्र मानो किसी चिर-आकांक्षित विजय को सम्मुख देख मुस्करा उठे। वह बोले—"सम्राट्, आप तो साम्राज्य के रक्षक हैं, आप ही के बाहुबल पर तो उसके विस्तार का दायित्व है, अन्यथा यह विनीत सेवक किस योग्य है, जो मगध-अधिपति के मार्ग-दर्शन की धृष्टता करे।"

सम्राट नत मस्तक हो बोले—"आर्य, मैं तो निमित्त मात्र हूँ, वस्तुतः मगध साम्राज्य के संस्थापक तो आप हैं, अन्यथा गगा तट को पारकर, इधर यहाँ वैशाली तक मागध सैनिको का आना कभी संभव हो पाता; कदापि नही आर्य, यह सब आप ही का नीति कौशल है, जिसने असंभव को भी संभव कर दिखाया।"

आचार्य वर्षकार एक उच्च ठहाका दे हंस उठे, हँसते रहे। उनकी यह हँसी साधारण नही थी, वरन् जैसे विजयोन्माद की हँसी थी, जिसे सुन एक-बारगी वह कक्ष

भी भय से प्रकम्पित हो रहा। फिर त्रस्त कक्ष के प्रवेश द्वार की तिरस्करिणी को उतार वह दण्डाधार पर टिमटिमाते दीप की ओर बढ़ लिए, उसके समीप जा तिरस्करिणी को दीप शिखा पर रख बोले—"सम्राट, आप देखें; यह दीप मगध साम्राज्य ही तो है, जिसकी दीप्त शिखा में वैशाली भस्म हुआ चाहती है।" यह सुन, सम्राट भी उच्च ठहाका दे हँस उठे, उसी प्रकार, जैसे केवल कुछ क्षणों पूर्व ही आचार्य वर्षकार निर्भीक हो हँसे थे।

तत्पश्चात्, दोनों ही सोपान पर से उतर, प्रासाद के पृष्ठ भाग में खड़े सैनिकों की ओर बढ़ लिए। उनके मध्य में खड़े हो आचार्य वर्षकार अपनी तर्जनी अंगुली को, दृढ़ता से ऊपर नभ में तानते हुए आह्वानकारी कण्ठ स्वर में बोले—"मगध साम्राज्य के संस्थापक और सजग प्रहरियो! आज तुम सभी मिलकर, एक उच्च स्वर से, अत्यधिक उच्च स्वर से ऐसा जयघोष करो कि यह समूचा नभ मण्डल प्रकम्पित हो उठे, रात्रि का यह अन्धकार सिहर जाए, और गणसंथागार की मोटी दीवारें आतंकित हो उठें, वे दीवारें जिन पर इन लिच्छवियों को गर्व है, और गर्व है अपनी एकता पर। आयुष्मानो, पर अब उनकी एकता नष्ट हो चुकी है, और नष्ट हो चुका है उनका स्वाभिमान, प्रलोभनों से, छोटी-छोटी महत्त्वाकांक्षाओं से। अतः, ऐ साम्राज्य के कृत-संकल्प सैनिको, तुम्हारी नैतिक विजय कभी की हो चुकी है, और अब? वीर सैनिको, अब तुम्हारे लिए केवल गणसंथागार, गणाध्यक्ष के दुर्ग तथा गणसंवाहक के विशाल प्रासाद पर साम्राज्य का कीर्तिध्वज लहराना मात्र शेष रह गया है। संभव है, इस पर कुछ वैशालिक प्रतिरोध करें, परन्तु वह प्रतिरोध कुछ नहीं, उसे आयुष्मानो बस बालू के एक घरोंदे के समान ही समझो, जिसे तुम केवल अपने पग-अंगुष्ठ मात्र से नष्ट-भ्रष्ट कर सकते हो। अच्छा तो वीर सेनानियो, अब सभी अभियान करो—गणसंथागार की ओर—पर देखो, एकता ही बल है, दृढ़ निश्चय साहस है, और साहस ही विजय है, विजय तुम्हारी निश्चित है; अच्छा तो अब सभी एक स्वर में बोलो, बोलो मगध साम्राज्य की···

और फिर, विजयोन्मत्त सैनिको के असंख्य कण्ठों से निकला एक उच्च जयघोष समूचे नभ मण्डल को गुंजा उठा; उधर, गण संथागार की ओर से भी युद्ध का नगारा बज उठा; और इधर सामन्त-पुत्र कीर्तिरथ के आवास पर अनिरुद्ध पुकार उठा—"कुमार कीर्तिरथ जागो, जागो कुमार कीर्तिरथ, इस वर्षकार ने हमारे साथ विश्वासघात किया है; अरे कुमार; जब वैशाली ही नहीं रहेगी तो फिर तुम विनिश्चय अमात्य कहाँ से बनोगे?" और फिर, वह उच्च कण्ठ स्वर में 'विश्वासघात—विश्वासघात' चिल्लाता राजपथ पर दौड़ लिया, और फिर इसी प्रकार सावेग दौड़ता हुआ वह मुड़ लिया अपने आवास की ओर।

इसी मध्य गणाध्यक्ष के दुर्ग पर से भी युद्ध का आह्वान करता नगारा बज उठा; जिसे सुन, नगर के मुख्य द्वार की ओर से भी; किन्तु ऐसा लगा, जैसे आज उनसे आह्वान का घोष नहीं वरन् गुहार की ध्वनि निकल रही थी, फिर भी वे बजते रहे; उनकी ध्वनि को सुन उचटती नींद में सोते हुए वृद्ध जाग उठे, उन्होंने प्रौढ़ों को जगाया, फिर वे प्रौढ़ युवकों को सावधान कर उठे। कुछ युवक जागे तो कुछ बड़बड़ाते हुए प्रमाद में पुनः अपनी शय्याओं पर ही लेट रहे। वास्तव में यह रात्रि का वह मध्य प्रहर था, जिसमें

निद्रा भी बेसुध हो रहती है। फिर भी कुछ जागे; किन्तु जो जागे, निशस्त्र ही नगर द्वार की ओर भाग लिए, कदाचित् इस भ्रम में कि सदानीरा की उन्मादी लहरों ने विकराल रूप ग्रहण किया है। परन्तु, जब इसी मध्य गणसंथागार की ओर से उठा एक जयघोष, मगध साम्राज्य की विजय का आह्वान करता सैनिकों का गम्भीर, दृढ़ और गगन भेदी कण्ठ स्वर उनके कानो से टकराया तो वे चकित रह गए। मन-ही-मन बोले—'अरे, यह क्या हो गया!'

इधर आचार्य वर्षकार अपने सैनिकों का पुन: आह्वान करते हुए कह उठे—"साम्राज्य पुत्रो, गणसंथागार पर अब हमारा, मगध साम्राज्य का, उसके सैनिकों का अधिकार है; और वीरो, अब उस पर हमें अपना अधिकार सुरक्षित रखना है।"

सैनिक उच्च विजयोन्मत्त कण्ठ स्वर में कह उठे—"आर्य, आप आश्वस्त रहें।" और फिर, उन सभी के असंख्य कण्ठों से एक साथ, एक के बाद एक करके अनेक जयघोष फूट निकले—"मगध साम्राज्य की जय···सम्राट अजात शत्रु की जय···" से सारा नभ मण्डल प्रकम्पित हो उठा।

इन जयघोषों के मध्य सम्राट अजातशत्रु भी उल्लसित भाव से अपना खड्ग ऊपर उठा कह उठे—"अरे ओ सैनिको, आचार्य वर्षकार की भी जय!" पर इसी मध्य आचार्य वर्षकार सैनिकों को ललकार, कह उठे—"मगध साम्राज्य की आशा—वीर सैनिको, यह जय-जयकार का समय नहीं, हमारी विजय अभी अपूर्ण ही है, अतः निर्भय हो, कृत-संकल्प हो, दुर्ग की ओर प्रस्थान करो, मगध के यशस्वी सम्राट तुम्हारे साथ हैं।"

और, आचार्य वर्षकार का यह आदेश पाते ही, सैनिक अपनी-अपनी खड्ग तान, उछालते हुए-से दुर्ग की ओर दौड़ लिए।

उधर, नगर द्वार पर अनिरुद्ध मानों हताश कण्ठ स्वर मे पुकार उठा—'वैशालिको, यह सर्वनाश है, सर्वनाश; अरे, युद्ध का नगारा सुनकर भी यदि तुम शस्त्र लेकर न चल सके तो फिर सर्वनाश हुआ ही समझो।" परन्तु इसी मध्य वहाँ आह्वान करती एक और ध्वनि गूंज उठी। आचार्य शिष्य अपने उच्चतम कण्ठ स्वर में कह उठा—"ऐ वैशाली के नागरिको, फिर भी अभी बहुत कुछ शेष है, अभी बहुत कुछ समय तुम्हारे साथ है, साहस कर उठो, शस्त्र उठाओ और साम्राज्य पिपासु सैनिकों पर नरव्याघ्र की भाँति टूट पड़ो, अन्यथा वे तुम पर टूट पड़ेंगे, तुम्हारे इस प्रमाद पर टूट पड़ेंगे और वैशाली को नष्ट-भ्रष्ट कर देंगे, और नष्ट-भ्रष्ट कर देंगे तुम्हारे उस गणसंथागार को, जिसे तुम्हारे देव तुल्य पूर्वजों ने किसी दिन अपना रक्त बहा खडा किया था। यदि गण संथागार नहीं रहा तो समझो कुछ नहीं रहा; सर्वस्व लुटा ही समझो, और फिर धिक्कार है उस दासता को, जिसमें मनुष्य-मनुष्य नहीं वरन् पशु समान हो रहता है; वैशालिको सावधान! वैशाली के साथ विश्वास घात हुआ है।"

और फिर, इसी मध्य फिर एक उच्च जय-निनाद वैशाली के अन्धकार-ग्रस्त क्षितिज पर गूंज उठा। आचार्य शिष्य अपने अश्व को उसी दिशा में मोड़ पुकार उठा—"और नागरिको, अब आततायियों का यह दुर्ग पर प्रहार है। अरे ओ वैशालिको, विश्वासघातियों ने गण-मुकुट को घेर लिया है।"

उसका अश्व फिर तुरन्त ही तो त्वरित गति से उसी ओर दौड़ लिया; उसके पीछे-पीछे अनिरुद्ध भी दौड़ उठा; नागरिक भी अपने आवासों की ओर चिल्लाते हुए, आह्वान करते हुए कि—"अरे जो नहीं जागे, व अब भी जाग उठो, आओ वैशालिको, वैशाली के साथ विश्वासघात हुआ है, मदानीरा की उद्दंड लहरों ने नए उत्पात में नहीं, वरन् मागध सैनिको ने नगर में प्रवेश किया है।"

और, दुर्ग प्राचीर पर खड़े हो जब महाबलाधिकृत अखण्डदेव ने अपनी दृष्टि फैला मागध सैनिको को देखा तो वह उनकी संख्या को देख चकित हो उठे; हताश भी। पर जब उन्होने इस अन्धकार में कुछ नागरिको को भी आते देखा तो उनके हृदय में उत्साह का संचार हो उठा। पास ही मे गणाध्यक्ष सिंह सेनापति भी खड़े थे, उनकी ओर दृष्टि कर, वह बोले—"बन्धुवर, यदि हम किसी प्रकार भी इस रात्रि इनके साथ संघर्ष करते रहे तो प्रातः हमारी विजय निश्चित है। आप स्वयं गणध्वज की रक्षा करें और मै···।"

इसी मध्य देवी रोहिणी पीछे से कह उठी—"बन्धुवर अखण्ड, ध्वज की रक्षा मैं करूँगी, और तुम दोनों ही सभी अंगरक्षकों को साथ ले, इनकी अग्रिम पंक्ति पर टूट पड़ो, अग्रिम पंक्ति में ही तो वह विश्वासघाती आचार्य वर्षकार अजातशत्रु के साथ उपस्थित है, यदि एक बार उसको समाप्त कर दिया तो फिर उनके सैनिको का साहस भी जाता रहेगा।"

किन्तु वर्षकार ने जैसे इनकी बातों को इतनी दूर से भी भाँप लिया था। वह सैनिकों का आह्वान कर कह उठा—"अरे सैनिको, देखते क्या हो, इन कपाटों को तोड अन्दर प्रविष्ट हो रहो।" और फिर, पिछली पंक्ति में खड़े सैनिको को उच्च स्वर में ललकारते हुए वह कह उठा—"अरे सैनिको, क्या देख नहीं रहे कि तुम्हारे पीछे कौन बढ़े आ रहे हैं। अरे मूर्खो, वे वैशालिक है—वैशालिक।"

उधर आचार्य वर्षकार का कण्ठ स्वर कानों से टकराते ही महाबलाधिकृत अखण्ड देव का क्षत्रिय रक्त भी खौल उठा। मेघ गर्जन सदृश कडकते स्वर मे वह बोला—"विश्वासघाती वर्षकार, आज तेरा यह विश्वासघात न केवल तेरी ही वरन् तेरे सम्राट की भी जान लेकर रहेगा, और इन मागध सैनिकों का यहाँ वैशाली के राजपथों पर ही रक्त बहता दिखाई देगा।"

वर्षकार एक उच्च ठहाका दे हँस उठा। फिर बोला—'अरे ओ अखण्ड देव, क्या मैं विश्वासघाती हूँ? विश्वासघात तो किसी दिन तूने किया था कि गंगातट पर मागध वाहिनियों को बुला लिया और फिर उन पर इधर वैशाली से प्रहार करा दिया; अखण्ड, आज यह उसी का प्रतिशोध है।"

और फिर उसी के साथ एक अन्य कण्ठ स्वर वहाँ गूंज उठा—"और प्रतिशोध है उस अपमान का भी, जो एक दिन वैशालिकों ने मेरे साथ किया था, पितृवर की मृत्यु के पश्चात् मुझे नहीं वरन् मेरे अनुज को अभिषिक्त कर मुझे अपमानित किया था और फलस्वरूप मुझे विवशता से राजगृह की ओर पलायन करना पड़ा था; पहचान लो वैशालिको, मै वही गोपाल हूँ, मगध साम्राज्य का एक प्रमुख अमात्य गोपाल, और इस समय वैशाली में साम्राज्य का एक राज्यपाल।" फिर वह भी एक उच्च ठहाका दे हँस

उठा, हँसता रहा। उसकी कर्कश हँसी समूचे वायुमण्डल पर गूंज उठी। इसी मध्य दुर्ग के द्वार-कपाट भी मानों भयंकर आर्तनाद कर टूट उठे, उधर नागरिकों से जूझने सैनिक उच्च कण्ठ स्वर में मगध साम्राज्य का जय-जयकार करते हुए आगे बढ़ निकले, खड्ग से खड्ग टकराने लगे, और महाबलाधिकृत अखण्ड तथा गणाध्यक्ष सिंह भी, अपने-अपने खड्ग का चुम्बन ले, आक्रमणकारी सैनिकों की प्रथम पंक्ति पर टूट पड़े; अंग-रक्षक अन्य सैनिकों की शेष पंक्ति से जूझ उठे, तथा सिंह सीधे अजातशत्रु की ओर बढ़ लिया, अखण्ड देव भी सैनिकों से जूझता हुआ वर्षकार की ओर बढ़ता रहा; दूर ही से बोला—'अरे ओ विश्वासघाती वर्षकार, यह युद्ध है, इसमें खड्ग उठा, अब कायर की भाँति क्यों खड़ा है?"

वर्षकार हँस, उच्च स्वर में बोला—"अरे ओ अबोध बालक, अपने कान खोल कर सुन, मेरा शस्त्र तो कभी का चल चुका, अब तू चला, मैं भी तो देखूं तेरा वह कैसा शस्त्र कौशल है।"

अखण्ड देव उससे भी अधिक उच्च स्वर में बोला—"मैं निःशस्त्रों पर शस्त्र नहीं चलाता, और जो शस्त्र तूने चलाया था, वह कभी का विफल हो चुका, देखता नहीं वैशालिक जाग उठे हैं।"

वर्षकार फिर एक उच्च ठहाका दे, हँस पड़ा, हँसता रहा कि उसकी इस हँसी पर युद्ध-रत सैनिकों की पिछली पंक्ति की ओर से आहतों का करुण क्रन्दन छा उठा, और फिर उसी के मध्य आचार्य शिष्य का उन्मत्त कण्ठ स्वर गूंज उठा, और गूंज उठा फिर उस पर अनिरुद्ध के एकाकी कण्ठ से निकला गणराज्य का जय-जयकार; केवल कण्ठ स्वर ही गूँज कर नहीं रह गया, वरन् अनवरत रूप में खड्ग से खड्ग भी टकरा रहे थे। केवल खड्ग ही परस्पर टकरा कर नहीं रह गए, उनके कटकटाते स्वर पर मृदंग की थाप भी गूंज उठी, और फिर झांझ घड़ियाल भी बज उठे, शंख-ध्वनि भी हो उठी, देवी शिष्या के वादक आज कदाचित ताडव नृत्य की धुन बजा रहे थे, और स्वयं देवी शिष्या? वह तो आज फिर जैसे शिव की भूमिका में अवतरित हुई थी, नृत्य मंच पर नहीं, स्वयं रण प्राँगण में, आचार्य शिष्य ने खड्ग चलाते-चलाते एक बार नेत्रकोरों से उसकी ओर देखा, आज वह सचमुच अपने इस रौद्र रूप में उस दिन से भी, जिस दिन कि उसने सर्वप्रथम मधुपर्व के अवसर पर देवी आम्रपाली के साथ उसे नृत्य मंच पर अवतरित होते देखा था, अधिक सुन्दर दीख रही थी, और फिर वह अकेली ही नहीं थी, उसके साथ मंजरिका भी आई थी, और आई थी सामन्त पुत्री चारुस्मिता भी, और देवी महामाया······? उसके हाथ में इस समय वही खड्ग था, जो आज प्रातः ही तो सुरक्षा प्रधान ने उसे प्रदान किया था, उसकी गति तीव्र थी, उसका कण्ठ स्वर भी, मागध सैनिकों पर होते प्रत्येक प्रहार के साथ-साथ वह कह रही थी—'शुचिता, इन्हें क्षमा न करो, इनका संहार ही शोभा देता है, देखा नहीं इनमें से ही किसी एक आततायी ने कल रात्रि हमें अकेला समझ तेरा कैसा अपमान किया था।" और, आचार्य शिष्य इन सभी के इस रण कौशल को देख भी रहा था, तथा साथ ही वे जो कुछ कह रही थीं, वह भी सुन रहा था। उल्लसित हो उच्च कण्ठ स्वर में वह पुकार उठा—"बंधुवर, घबराओ नहीं, हम सब उसी ओर बढ़े आ

रहे हैं, विजय हमारी निश्चित है, और अब मगध पर हमारा ही राज्य होगा, पर साम्राज्य का नहीं, गणराज्य के उच्च आदर्श का, जिसमें इन विश्वासघातियों का सर्व नाश हो रहेगा।"

किन्तु बंधुवर सिंह ने यह सब कुछ जैसे अनसुना कर दिया, मानों उनके तथा राजा अजातशत्रु के मध्य पर्याप्त समय से चल रहे द्वन्द्व-युद्ध के ये निर्णायक क्षण थे। अखण्ड देव भी इसी प्रकार जूझ रहा था, और जूझ रहे थे दुर्ग के कतिपय अंग रक्षक मागधो की एक पूरी पंक्ति से, ऐसी पंक्ति से जो सम्राट की रक्षा के लिए कृत-संकल्प हो कर आई थी; मध्य पक्तियों वाले सैनिकों का आगे पीछे, बाएं-दाएं चारों ओर ही प्रहारों का क्रम गतिमान था। और, इन अनवरत खड्ग प्रहारों के मध्य आचार्य वर्षकार सोच रहा था—'कदाचित फिर यह कोई भूल हुई है, वैशाली के ये नागरिक तो आते ही जा रहे हैं तथा इधर जो हैं उनमें भी उत्साह यथापूर्व है, केवल यथापूर्व ही नहीं, वरन् वह आते नागरिको को देख और बढ़ता ही जा रहा है। यह तो प्रत्येक बीतता क्षण ही.........।"

वह निराश हो उठा, निराश दृष्टि से उसने गोपाल की ओर देखा, किन्तु गोपाल का इस समय किसी ओर भी देखना असम्भव था, वर्षकार ने देखा कि उसके शरीर से केवल स्वेद-जल ही नहीं वरन् रक्त भी प्रवाहित है, और वह इस समय अखण्ड देव से जैसे हत परास्त हुआ केवल प्रतिरक्षात्मक युद्ध कर रहा है। यह देख वह घबरा उठा। उसने फिर कातर दृष्टि से सम्राट् की ओर देखा, वह भी जैसे थके से प्रतीत हुए, केवल थके हुए ही नही, वरन् स्पष्ट ही सिंह के प्रहारों को रोक रहे थे। मगध सम्राट् और प्रतिरक्षात्मक युद्ध करें? फिर तो पराजय निश्चित है;' अपना सम्हालता हुआ वर्षकार सावेग मध्य पक्ति में घुस पडा, और फिर उसी तत्परता से उत्तरीय कतिपय सैनिकों को साथ ले वहीं वापिस लौट आया; सैनिक जैसे किसी अवसर की घात मे खड़े हो गए।

और वर्षकार सहसा ऊर्ध्वबाहु हो उल्लसित कण्ठ स्वर में घोषणा कर उठा—"वीरो, सिंह मारा गया, अब केवल श्रृगाल ही बचे हैं; और देखो, आचार्य शिष्य जीवित ही पकड़ा जाए।"

उधर आचार्य शिष्य भी प्रत्युत्तर में जैसे आह्वान कर उठा—"वैशाली के वीरो, बधुवर सिंह मारे गए, तो भी गणराज्य अजर-अमर है, वह अक्षुण्ण है, उसकी कीर्ति-अमर है सूर्य की भाति, उसके अलोक की भांति, आज राहु ने उसकी ओर अपना हाथ बढ़ाया है, बढ़ाया है तो क्या हुआ, वह अभी नष्ट विनिष्ट हो रहेगा। और फिर वही आलोक हो रहेगा, वह आलोक, जिसमे अन्धकार स्वत: नष्ट हो रहता है।"

परन्तु सिंह अभी भी सम्राट से जूझ रहा था, हाँ वर्षकार की घोषणा को सुन अखण्ड देव ने नेत्र कोरों से उधर की ओर अवश्य देखा, उसका देखना था कि कई सैनिक एक साथ ही उस पर टूट पड़े, यह देख गणाध्यक्ष का जैसे श्वास फूल उठा, एक बार उसने अपनी दृष्टि उठा अखण्ड देव की ओर देखने का भी प्रयत्न किया कि सम्राट् का खड्ग उसकी ग्रीवा पर आ पड़ा।

गण का प्रतीक गया!

परन्तु फिर भी, आचार्य शिष्य नागरिकों को अपने साथ ले मगध सैनिकों की पिछली पंक्ति से जूझता रहा, देवी शिष्या का भी खड्ग अपने पूरे वेग से चल रहा था, और वही दशा देवी महामाया के खड्ग की थी, मंजरिका के इस रणकौशल को देख वह गर्व का अनुभव कर उठा, परन्तु सहसा उसे अनिरुद्ध का स्मरण हो आया, पर्याप्त समय से उसका स्वर सुनाई नही दिया था, अतः उसने चारों ओर दृष्टि फैलाकर देखा, वह कहीं भी नही दीख रहा था, तो क्या ... ?

उसका प्रश्न जैसे शेष रह गया।

सहसा, कुछ मागध सैनिकों ने देवी महामाया को घेर लिया; फिर भी वह उन से जूझती रही, परन्तु कब तक जूझती रहती ? देवी शिष्या उसकी सहायतार्थ दौडी, तो वह भी घिर उठी। इधर प्रथम पंक्ति के सैनिक भी अपना कार्य समाप्त हुआ समझ उधर ही की ओर अपने अन्य सैनिको की सहायतार्थ दौड लिए, केवल कुछ सैनिक शेष रहे अंगरक्षको से जूझते रह गए। और, कुछ सैनिको को वर्षकार ने रोक लिया; उनसे वह मृत सिह और अखण्ड के शवो को उठवा उसी ओर हो लिया जिधर अभी भी युद्ध गतिमान था। किन्तु फिर भी आचार्य शिष्य हताश नही हुआ, प्रतिशोध की भावना जैसे उसे पूर्णवेग में ललकार उठी, वह कृत-संकल्प हो उठा, युद्ध करता रहा, कि इसी मध्य महामाया का आर्तनाद उसके कानो से आ टकराया। क्षणेक उसने उधर की ओर देखा ही था कि मगध सैनिको ने तत्परता से उसकी ओर बढ़ उसके खड्ग के मध्य भाग पर तीव्र प्रहार किया।

खड्ग विखंडित हो भूमि पर जा गिरा।

फिर भी वह खडित खड्ग की सहायता से ही जूझता रहा कि सहसा एक मोटी रज्जु, मडराती-सी उसके शरीर से आ चिपटी।

मानो रात्रि के अन्धकार मे कोई विशाल अजगर सहसा उसकी काया से चिपट उठा।

उपसंहार

क्या शेष रहा और क्या अशेष हुआ ?

यह एक प्रश्न है, जो अगली प्रातः उठे वैशालिकों ने अवश्य ही अपने से पूछा होगा; और वास्तव मे उन्होंने वह पूछा भी।

उधर, सदानीरा की उद्दंड लहरें भी इस समय तक कुछ शान्त हो चुकी थीं; अतः नव-उपात के नागरिकों ने भी मानों चैन की-सी साँस ली। परन्तु, साथ ही उन्हें ध्यान हो आया, आभ्यन्तर वैशालिक क्या अब हृदय के इतने कठोर हो गए कि गण-शासन की ओर से सहायता का आह्वान करता हुआ एक नहीं, वरन् तीन-तीन स्थानों से नगारा बज उठा, और फिर भी उन्होंने इधर की ओर मुख तक नहीं किया; चलो, कोई बात नहीं, उन्होंने तो हमारी सुधि नहीं ली अतः अब हम स्वयं ही जा उन्हें अपनी कुशलता का सवाद दे आते हैं। परन्तु, मध्याह्न पूर्व में जब वे नगर की ओर आए तो इतने दिन चढ़े तक भी मुख्य-द्वार के कपाट बन्द रहे देख वे स्तब्ध रह गए, उनमें से कुछ चकित भी हुए और कुछ केवल कौतूहल का भाव प्रकट कर रह गए। कुछ ने समझा—'यह तो वैशालिकों का प्रमाद है।' पर, जब उन्होंने अपनी दृष्टि ऊपर उठा देखा तो, वे बस अपना माथा ठोकते ही रह गए; वैशाली की अभेद्य प्राचीर के मुख्य द्वार पर कोई वैदेशिक ध्वज लहरा रहा था ! और, सम्भवतः नगर मे इस समय कोई घोषणा भी की जा रही थी ! बाहिर वैशालिकों ने कपाटों से कान लगा कुछ सुना तो वे स्तब्ध ही रह गए। उद्घोषक विजयोन्मत्त कण्ठ स्वर में घोषणा कर रहा था—"ऐ वैशाली के प्रजाजनो, आज मध्यान्होपरान्त में वैशाली के मुख्य-राजपथो पर से मगध साम्राज्य के यशस्वी सम्राट् विदेहीपुत्तो अजातशत्रु की विजय यात्रा निकलेगी, और फिर दुर्ग के मुख्य प्रकोष्ठ मे एक राजसभा होगी, राजसभा में साम्राज्य-निष्ठ वैशालिकों को पुरस्कार प्रदान किया जाएगा तथा बन्दियों को······।"

बाहिर वैशालिकों ने फिर जैसे आगे की बात ही नहीं सुनी; उन्होंने तो फिर भी कुछ सुनी, परन्तु जो वैशालिक इस समय मुख्य-नगर के भव्य प्रासादों, उच्च अट्टालिकाओं और साधारण आवासों में थे, उन्होंने तो इतना भी सुनने का प्रयत्न नहीं किया; यदि सुना तो बस राजपथों पर एवं वीथियों में पहरा देते राज पुरुषों ने; और वास्तव में उन्हीं को उस विजय यात्रा में सम्मिलित भी होना था। तो फिर···? किन्तु छोड़ो इस बात को। बस, यही मान लो कि वैशाली हत-परास्त ही थी। और क्या विजित नहीं ?

प्रश्न, जैसे फिर शेष रह गया। पर, कदाचित् ऐसा नहीं।

और, मध्यान्होपरान्त जब वैशाली के सूने राजपथों पर से घोषित यात्रा निकली तो सम्राट् कुछ खिन्न कण्ठ स्वर में बोले—"आर्यवर, इससे तो इसे रहने ही दो।" किन्तु उनका प्रधान अमात्य वर्षकार बोला—"नहीं सम्राट्, जब हमारी विजय हुई है तो फिर उस उपलक्ष्य में यह यात्रा भी निकलनी ही चाहिए, यदि राजपथ सूने हैं तो क्या हुआ, नगर से बाहर कर्मांत तो लहलहा, हमारा स्वागत कर रहे हैं।"

और अंततः वह राजसभा भी हुई, जिसमें पुरस्कार के लिए तो कोई नहीं आया, पर हाँ बन्दी अवश्य उपस्थित किए गए, क्योंकि वह कार्य भी साम्राज्य के सैनिक अब तो और भी सुगमता से कर सकते थे। और, इस राजसभा में एक नहीं, एक-एक कर अनेक बन्दियों को उपस्थित किया गया. और आचार्य शिष्य ने जब बन्दी अवस्था में ही महापौर श्रेणिय रत्न, देवी रत्न कमल, गणसंवाहक मृत्युंजय, प्रधान सदेशवाहक कपिल, उसकी पत्नी छाया और फिर उसी पंक्ति के अन्तिम छोर पर कुमार कीर्तिरथ एवं जयद्रथ को भी देखा तो वह चकित रह गया; मंजरिका और देवी शिष्या तथा देवी रोहिणी का तो उसे उस समय रात्रि में ही पता चल गया था। और, जब ये सभी आ गए तो आचार्य वर्षकार ने स्वर्ण-सिंहासन आसीन सम्राट् अजातशत्रु के सम्मुख मस्तक नत कर, सविनय निवेदन किया—"सम्राट् ! ये सभी बन्दी साम्राज्य के शत्रु, घोर शत्रु हैं; कुछ विश्वासघाती भी, अतः आप उन्हें साम्राज्य एवं व्यवस्था के हित मे उचित दण्ड प्रदान करें।" और फिर बन्दी आचार्य शिष्य के सम्मुख जा, उसने प्रश्न किया—'क्यों अज्ञात कुल युवक, यदि तू चाहता तो मुझे बन्दी बना सकता था, फिर भी तूने ऐसा क्यों नहीं किया ?"

किन्तु आचार्य शिष्य इस प्रश्न के उत्तर में मौन रहा। उसे मौन रहा देख आचार्य वर्षकार दृढ़ कण्ठ स्वर में बोला—"बंदी, जानता नहीं यह सम्राट् अजात शत्रु की राजसभा है, और उसमें सम्राट का प्रधान अमात्य तुझ से अपनी रुचि का प्रश्न कर रहा है, और उसका उत्तर न देना एक दूसरा, कदाचित् पहले से भी अधिक अक्षम्य अपराध होगा।"

किन्तु आचार्य शिष्य इस बार भी मौन ही रहा। अतः आचार्य वर्षकार ने इस बार निश्चय ही अपने को अपमानित हुआ अनुभव किया। अपने अन्तर की खीझ को मिटाने के प्रयास स्वरूप उसने सभी सभासदों की ओर अपनी दृष्टि कर जैसे सगर्व कहा—"मान्यवर सभासदो, चूंकि यह अज्ञातकुल है, कदाचित् इसी से वह लज्जा का अनुभव कर रहा है।"

इसी मध्य बन्दी गणसंवाहक मृत्युंजय बोल उठे—"आचार्य वर्षकार, कदाचित् आप भूल कर रहे हैं, वह राजा चेटक के पुत्र हैं, और यदि न भी हुए होते, तो भी आपको साधारण शिष्टाचार तो कम से कम ...।"

परन्तु इसी मध्य स्वयं सम्राट् कह उठे—"बन्दी ध्वजधर अज्ञातकुल है, आर्य-वर यदि इसमें आपको भ्रम हुआ है तो बन्दी मृत्युंजय का भी यह केवल भ्रम ही है कि वह राजा चेटक का पुत्र है, वह न तो अज्ञात कुल है और न ही क्षत्रिय पुत्र।"

"तो फिर क्या वह कोई मातंगपुत्र है, सम्राट् ?"

आचार्य वर्षकार के मुख पर उपहास की फूहड़-सी मुस्कान खेल उठी।

किन्तु सम्राट् अजातशत्रु पूर्ववत सहज भाव में बोले—"आर्यवर, वह मातंगपुत्र भी नही है, वरन् एक ब्राह्मण पुत्र ही है, स्वय आचार्य वर्षकार का ही, आर्य।"

आचार्य शिष्य ने यह सुन जैसे लज्जा अथवा आत्मग्लानि से अपना मुख नत कर लिया।

पर, आचार्य वर्षकार यह सुन स्तब्ध रह गया ; भारी कण्ठ से पूछने लगा—"इसका कोई प्रमाण सम्राट् ?"

सम्राट अजातशत्रु ने क्रमश: आचार्य शिष्य और आचार्य वर्षकार की ओर किंचित मुस्कान के साथ देखते हुए कहा—"प्रमाण चाहिए आर्यवर, तो लो यह पत्र, जो आचार्य बहुलाश्व ने किसी दिन सिंह सेनापति को भेजा था, और अब इसी दुर्ग के एक कक्ष की मंजूषा से प्राप्त हुआ है।"

भरी राजसभा में, जिसमे कि आचार्य वर्षकार ने अपने को सम्मानित किए जाने की आशा की थी, सार्वजनिक रूप से हुए इस रहस्योद्घाटन पर उसने भारी अपमान का अनुभव किया। वह क्रोधित हो उठा; और किसी पर नहीं, वरन् स्वय सम्राट पर, एक सभासद के हाथ से उसने खड्ग ही तो खींच लिया, पर बढ लिया आचार्य शिष्य की ओर। सक्षोभ, सावेग बोला—"सम्राट् यदि वह प्रमाण सत्य है तो यह लो।"

एक क्षण मे ही आचार्य शिष्य का शीर्ष धराशायी हो रहा, पर उसके नेत्र जैसे हँस रहे थे, उसे इस प्रकार हँसते देख कर भी मजरिका रो उठी ; साथ ही अन्य महिला बदी भी, पर देवी शिष्या नही रोई ; वह सर्वथा संयत ही रही। उसके हाथ तो बंधे हुए ही थे, अत: नेत्रकारों ही से मंजरिका की ओर देख सकी, और फिर नेत्रों में ही न जाने क्या कुछ कहा कि मंजरिका शान्त हो गई। साथ ही, उसके मुख पर गर्व का-सा भाव छा उठा ; सजल नेत्रों और सुबकते ओष्ठो पर मुस्कान भी लहर उठी।

उधर, सम्राट् बोले—"आर्यवर, यह तो आपने उचित नहीं किया; आचार्य शिष्य साम्राज्य का भी उसी प्रकार निष्ठावान सेवक बन सकता था, जैसे कि वह कभी गण राज्य का रहा था।"

इस पर आचार्य वर्षकार तत्परता ने नत मस्तक हो बोला—'महाराज, यह आप की भूल है, वह तो केवल गणराज्य का ही सेवक बन कर रह सकता था, और आज जैसे मैने गणराज्य के साथ विश्वासघात किया है, कदाचित् वैसा ही वह भी किसी दिन इस श्रमार्जित साम्राज्य के साथ कर बैठता "

यह कह, अमात्य वर्षकार सवेग देवी शिष्या की ओर बढ, बोला—"दासीपुत्री, अन्य बंदियो के सम्बन्ध मे अब कल निर्णय होगा, अब तू अपने नृत्य-कौशल से सम्राट् का मन प्रसन्न कर।"

किन्तु देवी शिष्या भी आचार्य शिष्य की ही भाँति उत्तर में मौन रही।

वर्षकार जैसे देवी शिष्या के मनोभाव को ताड़ गया। अत: वह इस बार कुछ दृढतासे बोला—"अरी ओ दासी पुत्री, क्या तू यह नहीं जानती कि यह सम्राट अजातशत्रु की राजसभा है, और जिसने तुझसे आदेश किया है वह मगध साम्राज्य का महामात्य है ; बता तू नृत्य करेगी या नही ?"

देवी शिष्या ने उत्तर मे सदा की भाँति सर्वथा अविचलित रहे कहा—' आचार्य,

ने तो सदा ही एक व्यापक समाज के सम्मुख नृत्य किया है, और उसी नृत्य की मैं भ्यस्त भी हूँ ; सीमित सभा में नृत्य करना मेरे लिए एक दुविधा है।"

"परन्तु यह राजसभा है, और अबोध छोकरी वह सीमित ही होती है ; यदि सम्राट् को प्रसन्न कर सकी तो तुझे राज नर्तकी बना दिया जाएगा।"

"आचार्य, मुझे उसकी कोई अभिलाषा नही।"

"तो फिर बिना अभिलाषा के ही सम्राट् को प्रसन्न करने के लिए नृत्य कर, झे मुक्त कर दिया जाएगा।"

"आचार्य, जब मुझे मुक्त करने वाली वैशाली ही दास बन गई तो फिर भला स्वयं ही स्वतन्त्र होकर क्या करूँगी।" सहसा, राज सभा बंदी वैशालिकों के उन्मुक्त ण्ठ स्वरों से गूज उठी। सभी मृदुल स्वर में 'धन्य-धन्य' कह उठे। पर, आचार्य र्षकार उत्तेजित हो उठा। सावेश बोला—"फिर भी आज तुझे नृत्य करना होगा।"

देवी शिष्या भी इस बार दृढ़ता से बोली—"आचार्य, वह असम्भव है।"

"असम्भव है ?" आचार्य वर्षकार ने आग्नेय नेत्रों से उसकी ओर देखते हुए हा। किन्तु, देवी शिष्या ने सर्वथा अविचलित रह, पुनः दृढ़ कण्ठ स्वर में ही कहा—हाँ आचार्य असम्भव ही है। बंदी बना लेने से केवल तन ही विवश हो सकता है पर सके साथ मन भी दास बन जाए, यह अनिवार्य तो नहीं।"

आचार्य की उत्तेजना इस बार क्रोध मे परिणत हो रही, और वह उसी प्रकार ावेग आगे बढ़ लिया, जिस भाँति कि कुछ समय पूर्व आचार्य शिष्य की ओर बढा ा; रक्त रंजित खड्ग उसके हाथ में था ही। किन्तु उसके उठने से पूर्व ही सम्राट् सहसा क उच्च ठहाका दे, हंस पड़े, फिर बोले—"आर्यवर, जीवन में आपने कभी पराजय वीकार नहीं की, यदि आज कर ही लोगे तो कदाचित् जीवन का एक भारी अभाव र हो रहेगा।"

और, आचार्य वर्षकार सम्राट् की यह बात सुन न तो पीछे हट सका, और न ागे ही बढ पाया। मस्तक नत कर केवल इतना ही कह सका—"सम्राट्! आपकी सी आज्ञा।"